केशव-कौमुदी

[दूसरा भाग] आलोचना व निबन्ध

अर्थात्

केशवदास कृत रामचंद्रिका की समूल टीका

टीकाकार

स्व० लाला भगवानदीन (दीन)

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण] १९५० [मूल्य २)

P. G.

विक्रेता

१—मैनेजर, साहित्य भूषण कार्यालय

बनारस सिटी

२—रामनारायण लाल पब्लिशर और बुकसेलर,

इलाहाबाद

कविवर लाला भगवानदीन

का

आलोचना व निबन्ध

परिचय

कविवर 'दीन' का जन्म संवत १९२३ में श्रावण सुदी छठ तदनुसार १७ अगस्त सन् १८६७ ई० को गुरुवार के दिन हुआ था। जाति के आप श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। आपके पिता का शुभ नाम मुंशी कालिकाप्रसादजी तथा माता का श्रीमती सुरजनमती था। पितामह का नाम मुन्शी कासीप्रसादजी और प्रपितामह का नाम मुन्शी गणेशप्रसादजी था। मुन्शी गणेशप्रसादजी के पिता (चरितनायक के वृद्ध प्रपितामह) मुन्शी दौलतरायजी नवाब अवध की ओर से परगना देवरख जिला रायबरेली के कानूनगो थे और अपने वंश के अंतिम कानूनगो थे। इस प्रकार चरितनायक का खानदानी सिलसिला (अथवा पारिवारिक सम्बन्ध) जिला रायबरेली से है। यद्यपि आपके खानदान का वर्तमान निवास स्थान जिला फ़तेहपुर में आपके प्रपितामह के समय से चला आ रहा है। इस समय भी आपके पूर्वजों के अधिकार में कुछ भूमि परगना देवरख जिला रायबरेली के ईसा गांव तथा कंजास नामक ग्रामों में है।

लाला जी अपने माँ बाप की एकलौती संतान थे और बड़े लाड़-प्यार तथा नाज़ से पले थे। भाग्य पर किसका वश चलता है। अकस्मात नौ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें अपनी प्यारी माता के देहावसान से दुःखी होना पड़ा। माता के देहान्तोपरांत आपका लालन-पालन श्रीमती रुक्मिणी बाई जी द्वारा हुआ था जो कि उनके पिता की फूफी थीं और विधवा होने के कारण बरवट ही में सबके साथ रहती थीं। 'दीन' जी का विद्यारंभ नव वर्ष की आयु में मूसा नामक मौलवी द्वारा हुआ था। प्रारम्भ में तीन वर्ष तक उर्दू वा फ़ारसी की शिक्षा पाने के उपरान्त इनके पिता ने इन्हें छावनी नौगाँव में इनके

फूफा के पास छोड़ दिया, जहाँ फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान मुंशी गगा-बख्शजी वकील रियासत पन्ना से फारसी की तीन पुस्तकें गुलिस्ताँ, बोस्ताँ और यूसुफ जलेखाँ पढ़ीं। इस समय लाला जी की अवस्था १३ वर्ष की हो चुकी थी। इसके बाद घर लौटने पर आपने एक सरकारी स्कूल में मुंशी मातादीन जी मुदर्रिस से हिन्दी सीखी। यहाँ तीन वर्ष तक पढ़े। हिन्दी का अक्षर-ज्ञान स्वयं पिताजी ने छावनी नौगाँव में ही करा दिया था और सुन्दर काँड रामायण पढ़ाकर नित्य-पाठ का उपदेश भी कर दिया था कि जिसके कारण अंत समय तक उन्हें सुन्दर काँड कंठस्थ था। १७ वर्ष की अवस्था में अर्थात् ३ दिसम्बर सन् १८८३ ई० में आपका प्रवेश अंगरेजी मिडिल स्कूल फ़तेहपुर में हुआ और पाँच वर्षोपरांत १८८८ ई० में आपने अंगरेजी मिडिल प्रांत भर में प्रथम ४० विद्यार्थियों में स्थान प्राप्त कर पास किया कि जिससे इन्हें दो वर्ष तक ५) पाँच रुपया सरकार से छात्र-वृत्ति स्वरूप मिलती रही। दो वर्ष बाद एंट्रेंस पास किया। कायस्थ पाठशाला प्रयाग से छात्रवृत्ति पाकर म्योर सेंन्ट्रल कालेज में भरती हुए, परन्तु धनाभाव तथा गृहस्थी व ट्यूशनों के झंझटों से यह कालेज की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। लाचार होकर पढ़ना छोड़ना पड़ा। छतरपुर में ही इन्होंने पंडित गगाधर व्यास से काव्य के कुछ नियम सीखे थे और शृङ्गार-शतक, शृङ्गार-तिलक और रामायण के दोहों पर कुंडलियों की रचना की थी।

पढ़ना छोड़ते ही आप कायस्थ पाठशाला प्रयाग में शिक्षक नियत हो गये। उसके बाद ६ मास तक जनाना मिशन हाई स्कूल प्रयाग में फ़ारसी के शिक्षक होकर काम करते रहे। फिर छतरपुर राज्य स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर चले गये और वहाँ १८९४ ई० से १९०७ ई० तक रहे। १९०७ में ये काशी के हिन्दू स्कूल में उर्दू-फारसी के शिक्षक नियुक्त हुए। फिर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' के सहायक सम्पादक हो गए। और वहाँ का काम कई वर्ष तक करते रहे परन्तु जब कोष विभाग का काम

उठाकर काश्मीर चला गया गया था तब ये वहाँ न जाकर गया में लक्ष्मी नामक पत्रिका के सम्पादक का काम स्थायी रूप से १॥ वर्ष तक करते रहे। (यद्यपि लक्ष्मी-सम्पादक का काम २० वर्ष तक किया है)। प्रयाग में भी कुछ रोज तक कोई काम करते थे। पर जब कोष विभाग का काम फिर काश्मीर से काशी चला आया तो आपको फिर प्रयाग का काम छोड़कर काशी आकर कोष विभाग का काम करना पड़ा। किन्तु सन् १९१७ ई० में जब हिं० वि वि० काशी में एक सुयोग्य हिन्दी साहित्यज्ञ की आवश्यकता पड़ी तो ये हिन्दी के प्रोफेसर हो गये।

आचार्य 'दीन' के तीन विवाह हुए थे। प्रथम विवाह ग्राम केसवाही जिला हमीरपुर लाला कालाचरणजी को सबसे ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती पारवती देवी से हुआ था। इस विवाह से इनको दो पुत्री थीं प्रथम पुत्री तो कुछ ही दिन बाद मर गई परन्तु दूसरी कन्या जो प्रयाग में हुई थी जिस कन्या का नाम श्रीमती अन्नपूर्णा देवी था और उसका विवाह मुहल्ला पियरी शहर बनारस में मुशी विंदाप्रसादजी (पेनशनयाफ्ता मुन्सरिम) के भतीजे बा० वीरप्रताप (उर्फ छेदीलालजी) से हुआ था जो सब डिप्टी इन्सपेक्टर थे। इस समय अब अन्नपूर्णा देवी भी नहीं हैं। द्वितीय विवाह कसबा शादियाबाद जिला गाजीपुर में मुन्सी परमेश्वर दयाल साहब की पुत्री श्रीमती गुजराती देवी (उपनाम बुन्देला बाला) से हुआ था। इनसे केवल एक संतान पुत्र के रूप में हुई जो केवल सात मास जीवित रही। तृतीय विवाह गुजराती देवी की छोटी बहिन श्रीमती अशरफी देवी से हुआ है. इनसे कोई भी संतान नहीं हुई। आपकी द्वितीय धर्मपत्नी बड़ी सुयोग्य, सुशिक्षिता तथा विद्याव्यसनी थीं। आप कवि थीं और उत्तम कविता करती थीं। आपकी कविता उपदेशप्रद तथा देशोन्नति के भावों से भरी रहती थी। आपने कविता करना अपने सुयोग्य पति कविवर 'दीन' से ही सीखा था। आपके देहांत पर लाला जी

को परम दुःख हुआ कि जिसका वर्णन उन्होंने "बाला विलाप' नामक कविता में बड़े मार्मिक छन्दों में किया है।

कविवर 'दीन' का स्वभाव बड़ा ही सरल तथा आकर्षक था। वह जब अपने शिष्यों से वार्तालाप करते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह उनके मित्र तथा बराबरी के हों। सदैव-हँसना हँसाना उनके स्वभाव का सब से बड़ा गुण था। उनके स्वभाव का तीसरा गुण स्पष्टवादिता थी। जो दिल में होता था उसे छिपाकर रखना मानों उन्हें भाता ही न था। स्वनामधन्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी उनके इस गुण का उल्लेख उस सभा में किया था कि जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने लाला जी की मृत्यु पर शोक प्रकाशनार्थ हुई थी। आपके स्वभाव का चौथा गुण जो बालपन ही से उनमें था वह है उनकी निर्भीकता। संभवतः उनके वीररस-प्रेम तथा वीररस कथन का मुख्य कारण भी उनकी यही प्रकृति रही हो। कभी-कभी वह अपने लेखों में अरसिकों तथा शृङ्गार-रस से नाक भौं सिकोड़ने वालों को कड़ी फटकार भी सुना दिया करते थे। इनके अतिरिक्त कविवर 'दीन के स्वभाव में भक्त-भाव का प्रचुर मिश्रण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान था। गृहस्थ होते हुए भी वह भगवान् रामचन्द्र, योगेश्वर-कृष्ण, शिव और महासती पारवती जी के परम भक्त और उपासक थे। गृहस्थ रहते हुए भी उन्हें परमार्थ का इतना अधिक ध्यान रहता था कि जितना बहुत कम लोगों में देखा जाता है। उनके भक्तिमय जीवन की मार्मिक झलक उनकी बहुत सी चमत्कारपूर्ण कविताओं से साफ-साफ लक्षित होती है।

लाला जी की रहन-सहन तथा वेष-भूषा बड़ी ही सादे ढंग की थी उन्हें अपनी पोशाक की सुन्दरता तथा तड़क-भड़क की कुछ भी परवाह नहीं रहती थी। सदैव सादी काट-छाँट के कपड़े पहना करते थे। जिस पोशाक में कालेज में पढ़ाने जाते थे उसी पोशाक में बड़ी बड़ी सभा-समाजों में जाया करते थे। इस पोशाक में पारसी कोट, छोटी मोढ़ी का पाजामा, शू (अर्थात् अँगरेजी ढङ्ग का जूता),

कमीज या कुरता और मध्यम काट की टोपी शामिल थी। कभी-कभी एक डुपट्टा भी गले पर डाल लेते थे।

'दीन' जी ने नियमित रूप से कविता करना उस समय से प्रारम्भ किया था कि जब वे लगभग १९ वर्ष के थे और अपने अंत समय तक करते रहे। इस प्रकार उनका कविता-काल सन् १८८६ ई० से प्रारम्भ होकर जून सन् १९३० ई० तक लगभग ४४ वर्ष था कि जिस काल में उन्होंने अनेक प्रकार के छन्दों अनेक प्रकार के रसों, तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं और विचारों के सम्बन्ध में अनेक ओजपूर्ण कवितायें लिखी हैं।

आचार्य 'दीन' गद्य और पद्य दोनों ही के एक परम कुशल लेखक थे। जैसी ओजपूर्ण उनकी कवितायें होती थीं वैसाही फड़कता हुआ वह गद्य भी लिखते थे। अरबी व फ़ारसी के चलते हुए शब्द उनके गद्य और पद्य दोनों ही में समान रूप से विद्यमान हैं। गद्य की भाषा मुहावरेदार है। लाला जी का हिन्दी पद्य, खड़ी बोली और ब्रज भाषा दोनों ही में है। समय समय पर मुशायरों के लिए लिखी हुई उनकी उर्दू कवितायें भी बहुत सी हैं जो आप की अनेक हिन्दी कविताओं के समान अब तक अप्रकाशित पड़ी हैं। हिन्दी कविता में वह अपना उपनाम 'दीन' रखते थे परन्तु उर्दू कविताओं में वह अपना उपनाम 'रोशन' रखते थे। खड़ी बोली की कविता भी मुहावरेदार होती थी। खड़ी बोली की कविताओं के लिए आपने उर्दू बहर ही का विशेष प्रयोग किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी हुई है। हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम इस मार्ग के प्रवर्तक होने का सेहरा आप ही के सर है। खड़ी बोली की अधिकांश कवितायें वीररस सम्बन्धी हैं। मध्य प्रांत में तो आपकी अनेक वीररस सम्बन्धी कवितायें कहावतों तथा जनश्रुतियों की तरह लोगों को कंठस्थ हैं। इतने बृहत् और बहु-मूल्य वीररसात्मक ग्रन्थ 'वीर पंचरत्न' के थोड़े से समय में चार संस्करणों का हाथों हाथ बिक जाना उनकी वीर-रसात्मक कविता के अधिक प्रचार तथा लोकप्रियता का एक उत्तम उदाहरण है।

आपकी ब्रज-भाषा की कवितायें भी इतनी मधुर, सरस, और भावमय हैं कि हृदय पर तुरन्त अपना गहरा प्रभाव डालती हैं। वीररस के अतिरिक्त उन्हें "भक्ति' 'शृंगार" तथा "हास्य" रसों के लिखने के भी समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि "करुणा" और "रौद्र-रस" पर आपकी रचना बहुत ही कम है परन्तु जो है वह इतनी सुन्दर हुई है कि उसमें भी कुशल शब्द-शिल्पी की पूर्ण सफलता लक्षित होती है।

आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने लालाजी की कविता के सम्बन्ध में अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'लाला भगवानदीन दीन' ने अपनी जवानी के आलम में पुराने ढंग की कविता का अच्छा जौहर दिखाया था। फिर लक्ष्मी के मुस्तकिल सम्पादक हो जाने पर आपने खड़ी बोली की ओर रुख किया और बड़ी फड़कती हुई कवितायें लिखने लगे... .... भक्ति और शृंगार की इनकी पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति-चमत्कार की बहुत अच्छी विशेषता रहती है।"

यह बात किसी से भी छिपी नहीं है कि कविवर 'दीन' केवल एक सिद्ध-हस्त तथा प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही नहीं थे वरन वे एक प्रसिद्ध साहित्यमर्मज्ञ, टीकाकार तथा उद्भट समालोचक भी थे। शिक्षक भी इतने उत्तम थे कि जो बात एक बार समझा देते थे उसका भूलना भी कठिन था। पढ़ाते समय वह विद्यार्थियों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। उनकी विद्वत्ता के यदि दर्शन करने हों तो चाहिए यह कि दीन कृत अलङ्कार मंजूषा' 'व्यंगार्थ मंजूषा" "बिहारी और देव' तुलनात्मक समालोचना देखने का कष्ट उठावें। इनके अतिरिक्त केशवकृत रामचन्द्रिका तथा कवि-प्रिया, बिहारी कृत बिहारी सतसई तथा गो० तुलसीदासकृत कवितावली दोहावली तथा विनय-पत्रिका और दीनदयाल गिरिकृत अन्योक्ति कल्पद्रुम की कविवर दीन-कृत टीका व उनमें दी हुई भूमिकाएँ तथा अन्य सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ, अन्तर्दर्शन और टिप्पणी पढ़ें। प्राचीन काव्य के

समझने और समझाने में आपकी बराबरी का शायद ही कोई विद्वान हिन्दी-जगत में मिले। बुन्देलखंडी भाषा-तत्वविदों में आप अपना सानी ही नहीं रखते थे।

इस नश्वर संसार में मृत्यु भी एक अटल नियम है। इस नियम में जगत के सभी प्राणी बँधे हुए हैं। हमारे चरित्रनायक कविवर लाला भगवानदीनजी भी इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। २८ जूलाई सन् १६३० ई० का दिन और सायंकाल का समय वह समय था कि जिसे हिन्दी जगत बहुत दिनों तक नहीं भूलेगा। यह समय वह था कि जब हिन्दी जगत के प्रसिद्ध आचार्य कविवर लाला भगवानदीनजी 'दीन' हमारे बीच से सदैव के लिए हटा लिए गए।

वक्तव्य

केशव कृत काव्य और विशेष कर यह रामचन्द्रिका पढ़ने से पहले पाठक को यह समझ लेना चाहिये कि कविता क्या है और महाकाव्य किसे कहते हैं, क्योंकि केशव ने इन्हीं दोनों वस्तुओं का आदर्श लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है।

केशव कल्पना और भाव प्रसूत विचारों को मधुर शब्दों तथा विलक्षण युक्ति से प्रकट करने की कला ही को कविता मानते थे, अतः कथाप्रसंग को ठीक रीति से चलाने की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है, केवल कथा प्रसंग से सामने आने वाले नैसर्गिक पदार्थों वा भावों पर विलक्षण कल्पनाएँ करने ही में अपनी बुद्धि अधिक खर्च की है। इस विचार से यदि केशव को 'कल्पना पुंज' कहा जाय तो अनुचित न होगा।

महाकाव्य के जो लक्षण साहित्यदर्पण में लिखे हैं उन्हीं को लेकर खूब ही कल्पना के घोड़े दौड़ाये हैं। महाकाव्य के लक्षणों को जानने के लिये पाठकों को साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के छठे परिच्छेद के ३१५ वें श्लोक से ३२५ वें श्लोक तक देखकर उन्हें समझ लेना चाहिये।

केशवजी राम के भक्त तो अवश्य थे, पर तुलसीदास के विरुद्ध, उन्हें अपने आचार्य, पाण्डित्य और राजकवित्व का अधिक ध्यान था। आचार्यत्व प्रदर्शन ही के लिये उन्होंने इस ग्रंथ में विविध छन्दों की इतनी भरमार की है कि लगभग पिंगल के सब ही प्रचलित छन्द इसमें आगये हैं। इनका यह भाव पहले प्रकाश के छन्द नं० ८ से नं० १६ तक को देखने से भली भाँति पुष्ट हो जाता है, क्योंकि ८ वाँ छन्द एक वर्णिक, ९ वाँ १० वाँ द्विवर्णिक, ११ वाँ त्रिवर्णिक, १२ वाँ चतुर्वर्णिक १३ वाँ पंचवर्णिक, १४ वाँ षटवर्णिक, १५ वां सप्तवर्णिक और १६ वाँ अष्टवर्णिक है। ऐसा मालूम होता है कि कथा नहीं लिख रहे हैं, वरन् किसी शिष्य को पिंगल पढ़ा रहे हैं। यही हाल अलंकारों, काव्यदोषों, काव्यगुणों, तथा व्यंग का है। इन सब चीजों की इस ग्रन्थ में भरमार है।

पाण्डित्य की तो बात ही न पूछिये। बाण, माघ, भवभूति, कालिदास तथा भास तक के सुंदर, प्रयोग, अद्भुत विचार, गम्भीर और क्लिष्ट अलंकार

ज्यों के त्यों अनुवाद किये हुये इस ग्रन्थ में रक्खे हैं। कुछ नमूने देखिये:—

१—(रामचन्द्रिका)—भागीरथ पथगामी गंगा को सो जल है (प्रकाश २ छन्द १०)

(कादम्बरी)—गंगाप्रवाह इव भागीरथपथप्रवर्ती, (कथामुख)

२—(रामचन्द्रिका) आसमुद्र क्षितिनाथ (प्रकाश ६, छन्द ६५)

(रघुवंश) आसमुद्रक्षितीशानां······(द्वितीय सर्ग)

३—(रामचन्द्रिका)—विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस (प्रकाश २ छन्द १०)

(कादम्बरी)—विमानीकृतराजहंसमंडलो कमलयोनिरिव (कथामुख)

४—(रामचन्द्रिका) होमधूम मलिनाई जहां (प्रकाश २८, छन्द ८)

(कादम्बरी) यत्र मलिनता हविधूमेषु (कथामुख)

५—(रामचन्द्रिका)—तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं॥
(प्रकाश ३, छन्द नं० १)

(कादम्बरी)—ताल तिलक तमाल हिन्ताल बकुल बहुलैः एलालता कुलित नारिकेलिकलापैः लोललोध्रधवली लवंगपल्लवैः उल्लसि! चूत रेणु पटलै अलिकुल झंकारैः—उन्मद कोकिल कुल कलाप कोलाहलाभिः इत्यादि। (कथामुख)

६—(रामचन्द्रिका)—बर्णत केशव सकल कबि बिषम गाढ़ तम सृष्टि।
कुपुरुष सेवा ज्यों भई संतत मिथ्या दृष्टि।
(प्रकाश १३, छन्द २१)

(भासकृत 'बालचरित' और 'चारुदत्त' नाटकों में)
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता।

हमारा अनुमान है कि भास के नाटकों को अधिक पढ़ने के कारण ही केशव ने रामचन्द्रिका में सम्वाद रक्खे हैं। वे नाटक ही का सा मजा देते हैं। तेईसवें

प्रकाश में रामकृत राज्यश्री की निन्दा का, तथा चौबीसवें में राम-विरक्ति का वर्णन भी केशव की गहरी पंडिताई प्रकट करता है।

केशव राजकवि थे। रामराज्य के सम्बन्ध में राजठाट का ऐसा वर्णन किया है कि वैसा वर्णन चन्दबरदाई को छोड़ कोई भी दूसरा कवि नहीं कर सका। इसके लिए अट्ठाइसवाँ, उन्तीसवाँ, तीसवाँ और एकतीसवाँ प्रकाश देखने योग्य हैं।

यद्यपि राम-जानकी का शृंगार केशव ने विस्तृतभाव से वर्णन किया है पर कहीं पर भी भक्ति की मर्यादा का उल्लंन नहीं होने पाया।

तुलसीदासजी ने इसी मर्यादोल्लंघन भय से श्रीजानकीजी का शृंगार बहुत कम कहा है, पर केशव ने उत्तम युक्तियों से काम लेकर शृंगार का वर्णन भरपूर किया है और मर्यादोल्लंघन दोष से भी बचे रहे हैं। इसके प्रमाण में छठे प्रकाश में रामजी का शिख नख, तथा एकतीसवें प्रकाश सीता की दासियों का शुक कथित शिखनख द्रष्टव्य हैं। शिखनख लिखने में केशव सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। केशव के बड़े भाई बलभद्र का दूसरा नम्बर है। इनके बाद अन्य कवि हैं।

(तुलसी और केशव)

(तुलसी)—भक्त और कवि थे।

(केशव)—भक्त, कवि और पंडित थे।

(तुलसी) - 'स्वान्तःसुखाय' कविता करते थे।

(केशव)—आचार्यत्व, कवित्व और पांडित्य प्रदर्शन हेतु कविता करते थे।

(तुलसी)—समाज नीति के पंडित थे।

(केशव)—राजनीति और धर्मनीति के पंडित थे।

(तुलसी)—भक्त होने से दीनताप्रिय थे।

(केशव)—अपने गुणों का अहंकार रखते थे, विशेष कर जात्यभिमान अधिक था।

(तुलसी)—अति भावुक कवि थे।

(केशव)—कुछ रूखे जान पड़ते हैं (परन्तु भावुकता का अभाव नहीं)।

(तुलसी)—में नाटकत्व कुछ कम है।

(केशव)—में यह गुण कुछ अधिक है ।

(तुलसी)— आंतरिक भाव बड़ी निपुणता से कहते हैं ।

(केशव)— में यह गुण बहुत कम है ।

(तुलसी) – ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर अच्छा अधिकार रखते हैं ।

(केशव)—बुंदेलखंडी और संस्कृतमिश्रित ब्रजभाषा के कवि हैं ।

(तुलसी)—शान्तरस के कवि हैं ।

(केशव)—शृंगार रस के कवि हैं ।

(तुलसी)—पौराणिक कवि हैं ।

(केशव)—साहित्यक महाकवि हैं !

(तुलसी)—साधु हैं ।

(केशव)—राजसी कवि हैं ।

(तुलसी)—संगीत भी जानते थे ! स्वयं गाते थे ।

(केशव)—स्वयं गाते न थे, पर शास्त्रीय रीति से संगीत तथा नृत्य के मर्म जानते थे ।

(तुलसी)—में कल्पना की उचित मात्रा है ।

(केशव)— में कल्पना की प्रचुरता है ।

(तुलसी)— सांगरूपक लम्बे और बहुत सुन्दर लिखते हैं ।

(केशव)—वैसे नहीं लिख सके ।

(तुलसी)—बाल्मीकि और व्यास का अनुसरण किया है ।

(केशव)—माघ, श्रीहर्ष और भास के अनुगामी हैं ।

(तुलसी)—कुछ ही मनमाने शब्द गढ़े हैं ।

(केशव)—बहुत से मनमाने शब्द गढ़े हैं ।

(तुलसी) भाव प्रधान कवि हैं ।

(केशव)—वर्णन प्रधान कवि हैं ।

(केशव के उत्तम वर्णन)

पहला प्रकाश—वाटिका वर्णन ।

तीसरा प्रकाश— सुमति और विमति का संवाद ।

पाँचवा प्रकाश—सूर्योदय वर्णन।
छठाँ प्रकाश—ज्योनार समय की गारी और राम का शिखनख।
सातवाँ प्रकाश—समस्त—इसमें नाटकत्व अधिक है।
आठवाँ प्रकाश—अवध प्रवेश—(यह वर्णन रघुवंश के ७ वें सर्ग का सा है।
नवाँ प्रकाश—सीतामुख वर्णन।
तेरहवाँ प्रकाश—वर्षा वर्णन।
शरद् वर्णन।
मुद्रिका वर्णन।
सत्रहवाँ प्रकाश—राजनीति वर्णन।
बीसवाँ प्रकाश—सीता की अग्नि-परीक्षा।
त्रिवेणी वर्णन।
भरद्वाजाश्रम (कादम्बरी के ढंग का है)
भरद्वाज के रूप का वर्णन।
इक्कीसवाँ प्रकाश—दान विधान।
तेईसवाँ प्रकाश—राज्यश्री निन्दा।
चौबीसवाँ प्रकाश—(समस्त)
अट्ठाईसवाँ प्रकाश—(समस्त)
उन्तीसवाँ प्रकाश—(समस्त)
तीसवाँ प्रकाश—(समस्त)
इकतीसवाँ प्रकाश—शिखनख वर्णन (बड़ा ही अनोखा है)
बत्तीसवाँ प्रकाश—(समस्त)
सैंतीसवाँ प्रकाश—लव कटु बचन।
उन्तालीसवाँ प्रकाश—श्रीराम कथित राजनीति।

उपर्युक्त वर्णनों को पढ़िये तो आपको मालूम होगा कि ऐसे उत्कृष्ट वर्णन अन्य हिन्दी काव्यों में मिल ही नहीं सकते।

(कठिनता का कारण)

आचार्यत्व और पांडित्य के फेर में पड़कर केशव ने सरलता का ध्यान नहीं रक्खा। पिंगल और अलंकार शास्त्र का विशेष ध्यान रखकर छन्द लिखे है। श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास, सन्देह, श्लेषमय उपमा और उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों की भरमार से केशव इनके बादशाह तो अवश्य मालूम होते हैं, पर इसी कारण इनकी कविता सर्वसाधारण के पढ़ने और समझने की वस्तु नहीं रह गई, केवल अच्छे साहित्य मर्मज्ञ ही उसकी कदर कर सकते हैं। छन्दों के शीघ्रातिशीघ्र हेरफेर के कारण रसपरिपाक में बड़ी बाधा पड़ती है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि केशव की कविता में रस परिपाक का अभाव सा है। करुणा, विरह के अवसरों पर केशव कहीं भी पाठक के नेत्रों से आँसू नहीं निकलवा सके।

(दोष)

कालविरुद्ध, देशविरुद्ध, नेयार्थ न्यूनपद, पतितप्रकर्ष, यतिभंग, विरतिभंग इत्यादि काव्यदोष बहुधा स्पष्ट देखने में आते हैं। केशव चाहते तो इन्हें बचा जाते, पर आप ठहरे आचार्य, आपको इनके नमूने भी अपनी कविता में दिखलाने ही चाहिये थे। अतः वही किया भी है। जहाँ जहाँ ऐसे दोष आये हैं, वहाँ वहाँ टीका में उल्लेख कर दिया है, इसी से यहाँ उदाहरण नहीं लिखे गये, केवल जिक्र कर दिया गया है।

(केशव की विशेषताएँ)

महाकाव्य का प्रधान लक्षण यह है कि वह वर्णन प्रधान होना चहिये। इसी प्रधानता का ध्यान रखते हुए केशव ने सांसारिक प्रधान दृश्यों, तथा सामाजिक और विशेष कर राजा सम्बन्धी पदार्थों के वर्णन एक भी नहीं छोड़े। वर्णन करते समय अपनी कल्पनाओं, पौराणिक ज्ञान, धर्मशास्त्र और शृङ्गार रस को कुछ अधिक स्थान दिया है। भाषा में क्रियाओं के बहुत पुराने प्राकृत रूपों को भी अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक स्थान दिया है। समय पड़ने पर मन माने शब्द गढ़ लेने में भी नहीं हिचकिचाये। नदी, बाटिका, बाग, बन

इत्यादि के वर्णन दो-दो बार लिख डाले हैं। रामविरक्ति वर्णन करने में (चौबीसवें प्रकाश में) अपने पांडित्य के प्रकाशन की धुन में लगकर बेमौका उस वर्णन को बहुत अधिक लम्बा कर दिया है। यहाँ तक कि अगर २४ वाँ तथा २५ वाँ प्रकाश इस ग्रन्थ से निकाल लिये जायें, तो भी कथा प्रसंग में कुछ बाधा न आवेगी, न महाकाव्य में कोई त्रुटि ही उपस्थित होगी। उन्नीसवें, तीसवें, इकतीसवें और बत्तीसवें प्रकाशों जैसे वर्णन आये हैं, वे केशव के ही योग्य हैं, दूसरा कवि शायद इस योग्यता से न कह सकता।

(केशव का स्थान)

सब बातों का विचार करके हमारी सम्मति से केशव को हिन्दी काव्य-संसार में हिन्दीकाव्याचार्यत्व की श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिये। पर काव्य कलाचातुरी की श्रेणी में इनका वही स्थान रहेगा जो पहले से चला आता है अर्थात् तुलसी और सूर के बाद इनका तीसरा स्थान होगा। पर एक बात अवश्य कहेंगे कि राग संबंधी बातों के वर्णन में केशवजी ने उपर्युक्त दोनों कवियों से अधिक कुशलता दिखाई है। इसका कारण भी स्पष्ट है। वह यह कि तुलसी और सूर राम कृष्णजी के बालस्वरुप के उपासक थे (राजस्वरूप के नहीं) और केशवजी श्री रामजी के राजस्वरूप के उपासक थे।

(उपसंहार)

केशव के समस्त उपलब्ध ग्रंथ पढ़कर जैसा हमारी बुद्धिनिर्णय कर सकी वैसा निर्णय हमने पाठकों के सामने रख दिया। पाठक केशव के ग्रंथ पढ़ें और विचार करें कि हमारी सम्मति कहाँ तक ठीक है।

(कृतज्ञता प्रकाशन)

इस टीका की रचना के मुख्य प्रेरक काठियावाड़ देशान्तर्गत गनौद ग्राम निवासी श्रीमान् ठाकुर गोपालसिंहजी रामसिंहजी हैं। आपने केवल प्रेरणा ही नहीं की वरन् छपवाते समय धन से भी उपयुक्त सहायता की है। मेरे पुराने स्वामी प्रमरवंशावतंस छत्रपुराधीश श्रीमान् विश्वनाथसिंहजू देव ने भी इस

'दीन' के निवेदन को सुनकर इस उत्तरार्द्ध भाग के छपाने के हेतु उचित रूप से धन द्वारा सहायता की है। मैं इन दोनों महानुभावों के निकट अपने हृदय की कृतज्ञता बड़े नम्रभाव से प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि ये दोनों महाशय इस 'दीन' पर सदा इसी प्रकार कृपादृष्टि बनाये रखेंगे।

(निवेदन)

टीका तो मैंने लिख डाली। पर किसी मनुष्य की बुद्धि अभ्रान्त नहीं हो सकती, अतः बहुत संभव है कि अनेक स्थानों पर गलतियाँ हुई होंगी। सज्जनों से निवेदन है कि वे भूल चूक ठीक कर लें, और कृपा करके उसकी सूचना मुझे भी दें तो मैं उसे अगले संस्करण में ठीक करा दूँगा।

जनवरी १९२४ ई०
काशी } भगवानदीन

दूसरी आवृत्ति पर वक्तव्य

ईश्वर की कृपा, केशव की स्वीकृति तथा सर्व काव्य प्रेमियों की क़दरदानी से मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि इस उत्तरार्द्ध भाग के टीका की भी द्वितीयावृत्ति कराने की आवश्यकता पड़ी, जिसके लिये मैं पाठकों को धन्यवाद देता हूँ।

इसकी पहली आवृति 'दीन' जी ने स्वयम् अपने साहित्य भूषण कार्यालय से निकाली थी। परन्तु दीनजी के स्वर्गवास हो जाने पर मुझसे बा० रामनारायण लाल बुक्सेलर (इलाहाबाद) ने इसे प्रकाशित करने के लिये माँगा, क्योंकि इसका पूर्वार्द्ध भाग दीनजी के जीवन काल में ही बाबू साहब के यहाँ से प्रकाशित हो चुकी थी। मैंने भी दोनों भाग एक ही स्थान से प्रकाशित होना उचित समझा इसलिए बाबू साहब के यहाँ से इसे भी प्रकाशित करा दिया है।

सादर निवेदन है कि प्रूफ़ संशोधन में भी कुछ अशुद्धियाँ हो ही जाती हैं। जहाँ-कहीं पुस्तक में अशुद्धियाँ हो गई हों पाठक गण उसे सुधार कर पढ़ लेवें, और उन अशुद्धियों पर ध्यान न दें।

इस टीका में मैंने कोई हेर-फेर नहीं की है ज्यों का त्यों छपा दिया है। केवल दीन जी की जीवनी और केशव मूल लेखक तथा 'दीन' टीकाकार के चित्र बढ़ा दिये हैं।

काशी
श्रीरामनवमी
सम्वत् १९८७ वि०

विनीत—
चन्द्रिका प्रसाद, मैनेजर
साहित्य भूषण कार्य्यालय,
बनारस सिटी

सूचीपत्र

श्रीराम

केशव-कौमुदी

(उत्तरार्द्ध)

(इक्कीसवाँ प्रकाश)

दो०—इकईसएँ प्रकाश में कह ऋषि दानविधान ।
भरतमिलन कपिगुणान को श्रीमुख आप बखान ॥

मूल—(श्रीराम)—सोमराजी छंद ।

कहा दान दीजै । सु कै भाँति कीजै ।
जहाँ होइ जैसो । कहो बिप्र तैसो ॥१॥

शब्दार्थ—कहा = कौन वस्तु । कै भाँति = कितने प्रकार से । जहाँ होहि जैसो = जिस शास्त्र में जैसा विधान हो ।

भावार्थ—सरल ही है ।

(दानविधान वर्णन)

मूल—(भरद्वाज)—दोहा ।

सात्विक राजस तामसी दान तीनि बिधि जानि ।
उत्तम मध्यम अधम पुनि केशवदास बखानि ॥२॥

मूल—चंचरी छंद (वर्णिक) ।

पूजिये द्विज आपने कर नारि संयुत जानिये ।
देवदेवहि थापि कै पुनि वेद मंत्र बखानिये ॥

हाथ लै कुश गोत्र उच्चरि स्वर्णयुक्त प्रमाणिये।
दान दै कछु और दीजहि दान सात्विक जानिये ॥३॥

शब्दार्थ—जानिये = ज्ञानी अर्थात् विद्वान्, साक्षर। देवदेवहि थापि कै = विष्णु स्वरूप मानकर। स्वर्णयुक्त = कुछ सोना सहित।

भावार्थ—किसी विद्वान् ब्राह्मण को सस्त्रीक अपने हाथों से पूजकर और उसे साक्षात् विष्णु ही मानकर, वेदमंत्रों सहित (स्तुति करके) हाथ में कुश लेकर गोत्र का उच्चारण करके, कुछ सुवर्ण सहित जो दान दिया जाय और दान के बाद सांगता भी दिया जाय उसे सात्विक दान जानना चाहिये।

मूल— दोधक छंद।

देहि नहीं अपने कर दानै। और के हाथ जो मंगल जानै।
दानहि देत जु आलस आवै। सो वह राजस दान कहावै ॥४॥

भावार्थ—आलसवश होकर जो दान अपने हाथ से न करे वरन् दूसरे के हाथों दिलवा दे वह राजसी दान कहलाता है।

मूल—(दोधक)—

विप्रन दाजत हीन बिधानै। जानहु ताकहँ तामस दानै।
विप्र न जानहु ये नर रूपै। जानहु य सब विष्णुस्वरूपै ॥५॥

भावार्थ—विधिहीन दान तामस दान कहलाता है। ब्राह्मण को विष्णुरूप ही जानो। इन्हें मनुष्य न समझना चाहिये।

मूल—(तोमर छंद)—

द्विज धाम देइ जु जाइ। बहु भाँति पूजि सुराइ।
कछु नाहिनै परिमान। कहिये सो उत्तम दान ॥६॥

भावार्थ—हे सुराइ (राजा रामचन्द्र) ब्राह्मण के घर जाकर अनेक प्रकार से उसका पूजन करके जो दान दिया जाता है वह इतना उत्तम दान है कि उसका कुछ परिमाण नहीं कहा जा सकता।

मूल—(तोमर)—

द्विज को जु देइ बुलाइ। कहिये सु मध्यम राइ।
गुनि याचना मिस दानु। अतिहीन ताकहँ जानु ॥७॥

भावार्थ—ब्राह्मण को अपने घर बोलाकर दान दे वह दान मध्यम है। किसी गुणी के माँगने पर जो दान दिया जाय, वह अधम दान है।

मूल—(दोहा)—

प्रतिदिन दीजत नेम सों ता कहँ नित्य बखान।
कालहिं पाय जु दीजिये सो नैमित्तिक दान ॥८॥

भावार्थ—नेम सहित प्रतिदिन दिया जाय वह 'नित्यदान' कहलाता है। जो किसी विशेष समय पर (पर्वादि में) दिया जाय उसे नैमित्तिक दान जानो।

मूल—(तोटक छंद)—

पहिले निजवर्तिन देहु अबै। पुनि पावहिं नागर लोग सबै।
पुनि देहु सबै निज देशिन को। उबरो धन देहु बिदेशिन को ॥९॥

शब्दार्थ—निजवर्ती = अपने आश्रित रहनेवाले। नागर = नगर के निवासी। उबरो = बचा बचाया।

भावार्थ—दान का धन पहले निज आश्रित जनों को दो, फिर नगर-निवासियों को, फिर देशवासियों को, इतने जनों को देने से भी यदि कुछ बच जाय तो फिर विदेशियों को देना चाहिये।

मूल—(दोधक छंद)—

दान सकाम अकाम कहे हैं। पूरि सबै जग माँझ रहे हैं।
इच्छित ही फल होत सकामैं। रामनिमित्त ते जानि अकामैं ॥१०॥

भावार्थ—(वासनानुसार) दान दो प्रकार के होते हैं, एक सकाम

दूसरा अकाम। फल पाने की इच्छा से किया जाय वह सकाम। ईश्वर-प्रेम से किया जाय वह अकाम।

मूल—

दान ते दच्छिण बाम बखानों। धर्म निमित्त ते दच्छिण जानों।
धर्म विरुद्ध ते बाम गुनौ जू। दान कुदान सबै ते सुनौ जू ॥११॥

भावार्थ—दानों की संज्ञा दच्छिण और बाम भी है। जो धर्म निमित्त दिया जाय वह दच्छिण, जो धर्मविरुद्ध कार्यों के हेतु दिया जाय वह बाम। बाम संज्ञक दान सब कुदान कहे जायेंगे।

मूल—

देहि सुदान ते उत्तम लेखौ। देहिं कुदान तिन्हैं जनि देखौ।
छोड़ सबै दिन दानहि दीजै। दानहि ते बस कै हरि लीजै ॥१२॥

भावार्थ—जो लोग सुदान देते हैं उन्हें उत्तम पुरुष समझो। जो कुदान देते हैं, उनका मुँह न देखना चाहिये। सब काम छोड़ प्रति-दिन दान ही देते रहना चाहिये। दान का ऐसा माहात्म्य है कि यदि कोई चाहे तो दान ही से विष्णु भगवान् को अपने वश में कर लो सकता है।

मूल—(दोहा)—केशव दान अनन्त हैं, बनैं न काहू देत।
यहै जानि भुव भूप सब भूमिदान ही देत ॥१३॥

मूल—दोहा—

(राम)—कौनहि दीजै दान भुव, हैं ऋषिराज अनेक।
(भरद्वाज)—देहु सनाढ्यन आदि दै, आये सहित विवेक ॥१४॥

भावार्थ—रामजी ने पूछा कि संसार मे अनेक ब्राह्मण ऋषि हैं, दान किसको दिया जाय? (भरद्वाज ने उत्तर दिया) सनाढ्य ब्राह्मणों को दान दीजिये, क्योंकि आदि काल से (जब से सनाढ्यों की उत्पत्ति हुई) आप विवेक सहित उन्ही को दान देते आये हो।

सनाढ्य=(सन = तप + आढ्य = धनी) तपस्या के धनी, तपोधन, बड़े तपस्वी।

नोट—यह दानविधान वर्णन और आगे का सनाढ्योत्पत्ति वर्णन मुझे तो अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। केशव ने निज जाति का महत्व दिखलाने के लिये ही जबरदस्ती इन वर्णनों को यहाँ ठूँसा है। आगे जैसा आप समझें। इस प्रसंग में कई एक संस्कृत के श्लोक उद्धृत हैं। वे केशवकृत नहीं हैं। अतः उन्हें हमने छोड़ दिया है।

(सनाढ्योत्पत्ति वर्णन)

मूल—(श्रीराम)—उपेन्द्रवज्रा छंद।

कहौ भरद्वाज सनाढ्य को हैं। भये कहाँ ते सब मध्य सोहैं॥
हुते सबै विप्र प्रभाव भीने। तजे ते क्यों? ये अति पूज्य कीने?॥१५॥

शब्दार्थ—हुते = थे। प्रभाव भीने = प्रभावशाली, तपस्वी।

मूल—(भरद्वाज)—

गिरीश नारायण पै सुनी ज्यों। गिरीश मोसों जु कही कहौं त्यों।
सुनौ सु सीतापति साधु चर्चा। करो सु जाते तुम ब्रह्म अर्चा॥१६॥

शब्दार्थ—गिरीश = महादेवजी। साधुचर्चा = उत्तम कथा। करो सु जाते = जिससे तुम कर सको। ब्रह्म अर्चा = ब्राह्मणों का पूजन।

भावार्थ—महादेव जी ने जैसी कथा नारायण से सुनी थी, और महादेव जी ने जैसी कथा मुझ से कही थी, वही मैं कहता हूँ। सो हे सीतापति! उस उत्तम कथा को सुनो, जिससे तुम ब्राह्मणों की (सनाढ्यों की) श्रद्धा से पूजा कर सको।

मूल—(नारायण)—मोटनक छंद।

मोतें जल नाभि सरोज बढ्यौ। ऊँचो अति व्यम अकाश चढ्यो।
तातें चतुरानन रूप रयो। ब्रह्म यह नाम प्रगट्ट भयो॥१७॥

ताके मन तें सुत चारि भये। सोहैं अति पावन वेद मये।
चौहूँ जन के मन ते उपजे। भूदेव सनाढ्य ते मोहिं भजे ॥१८॥

भावार्थ—(श्रीनारायण ने महादेवजी से यों कहा था) जिस समय समुद्र में मेरी नाभी से कमल निकला, और खूब बढ़कर आकाश तक गया, तब उस कमल से ब्रह्मा नामक एक चतुर्मुख व्यक्ति पैदा हुआ।

ब्रह्मा के मन से (इच्छा करते ही) चार पुत्र पैदा हुए, जो अति पवित्र आचरणवाले और वेद के ज्ञाता थे—उन चारों के नाम यों है—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार। पुनः उन चारों के मन से जो ब्राह्मण पैदा हुए वही सनाढ्य कहलाये। उन्होंने मेरा खूब भजन किया है।

नोट—भरद्वाज जी कहते हैं कि यह कथा शिव ने नारायण से सुनकर मुझे सुनाई थी।

मूल—(भरद्वाज)—गौरी छंद।

तातें ऋषिराज सबै तुम छाँड़ौ। भूदेव सनाढ्यन के पद माँड़ौ।
दीन्हों तिनको तुम ही बरु रूरो। चौहूँ युग होय तपोबल पूरो ॥१९॥

शब्दार्थ—पद माँड़ौ = चरणों की पूजा करो। रूरो = अच्छा। चौहूँ .. पूरो = चारो युगों में (सदैव) तुममें पूर्ण तपोबल रहेगा।

मूल—उपेन्द्रवज्रा छंद।

सनाढ्य पूजा अघ ओघ हारी। अखंड आखंडल लोक धारी।
अशेष लोकावधि भूमिचारी। समूल नाशै नृप दोष कारी ॥२०॥

शब्दार्थ—आखंडल लोक = इन्द्रलोक, स्वर्ग। आशेष = सब। भूमिचारी = विचरण करनेवाली, पहुँचनेवाली। नाशै कारी = नाश करनेवाली।

भावार्थ—सनाढ्य ब्राह्मणों की पूजा समस्त पापसमूह को हरनेवाली है। इन्द्रलोक का समस्त सुख भोग उसी के अधिकार में है (उसी से प्राप्त होता है)। इतना ही नहीं, वरन् उस पूजा का प्रभाव समस्त चौदहों लोकों तक पहुँचता है (चौदहों लोक प्राप्त हो सकते हैं) और राज-दोषों को तो समूल ही नष्ट कर देती है (राजाओं से जो दोष होते हैं वे सब सनाढ्यों के पूजन से नष्ट हो जाते हैं)।

(राम-भरत मिलाप वर्णन)

मूल— श्रीराम)—तोटक छन्द।

हनुमंत बली तुम जाहु तहाँ। मुनिवेष भरत्थ बसंत जहाँ।
ऋषि के हम भोजन आजु करैं। पुनि प्रात भरत्थहिँ अंक भरैं ॥२१॥

नोट— ऋषि के हम भोजन आजु करैं=बीसवें प्रकाश के अंतिम छंद से भरद्वाज मुनि ने रामजी को भोजन का निमंत्रण दिया है। इसके कथन का तात्पर्य यह है कि यदि भरत या अन्यान्य अयोध्यावासी रावण को मारने के कारण ब्रह्मदोषी समझकर हमें ग्रहण करने से इनकार करें, तो तुम इस निमंत्रण का ज़िक्र करके खंडन कर देना कि ब्रह्मदोषी का निमंत्रण भरद्वाजजी कैसे करते। अतः राम ब्रह्मदोषी नहीं हैं।

मूल—चतुष्पदी छंद।

हनुमंत बिलोके भरत सशोके अंग सकल मलधारी।
बलका पहरे तन सीस जटागन हैं फल मूल अहारी।
बहु मन्त्रिनगन में राज्यकाज में सब सुख सों हित तोरे।
रघुनाथ पादुकनि, मन बच प्रभु गनि सेवत अंजुलि जोरे ॥२२॥

शब्दार्थ - सशोके = दुखित । मलधारी = मलीन । हित – राग, प्रेम । पादुका = खड़ाऊँ।

भावार्थ—हनुमान ने नंदिग्राम में पहुँचकर देखा कि भरतजी (अवधि व्यतीत होने के कारण) अति दुखित हैं, शरीर पर मैले बल्कल वस्त्र धारण किये हुए हैं, शीश पर जटायें हैं और केवल फल-मूल ही खाते हैं। राज्यकाज अनेक सुचतुर मंत्रियों को सिपुर्द कर दिया है और आप स्वयं समस्त राज्यसुखों से प्रेम छोड़े हुए, केवल राम-पादुकाओं को मन बचन से अपना प्रभु समझकर हाथ जोड़े सेवा में उपस्थित रहते हैं।

मूल—(हनुमान) चतुष्पदी छंद।

सब शोकनि छाँड़ों, भूषण माँडौ, कीजै विविध बधाये।
सुरकाज सँवार, रावण मारे रघुनन्दन घर आये।
सुग्रीव सुयोधन, सहित विभीषण, सुनहु भरत शुभगीता।
जय कीरति ज्यों सँग अमल सकल अँग सोहत लक्ष्मण सीता ॥२३॥

भावार्थ—हनुमानजी भरत को संबोधन करके कहते हैं—हे सर्वप्रशंसित भरत! सुनो, अब सब दुःखों को छोड़ो, अच्छे वस्त्राभूषण धारण करो और विविध प्रकार से आनन्द मनाओ, क्योंकि सब देवताओं के कार्य बनाकर और रावण को मार कर श्रीरामजी घर आरहे हैं। अच्छे अच्छे योद्धागण जैसे सुग्रीव तथा विभीषण आदि भी साथ हैं, और विजय और कीर्त्ति के समान सब अंगों से निर्मल (नीरोग और अदूषित) लक्ष्मण और सीता भी साथ में हैं—(अर्थात् तीनों जन सकुशल घर आ रहे हैं)।

अलंकार—उपमा।

मूल—पद्धटिका छंद।

सुनि परम भावती भरत बात। भये सुख समुद्र में मगन गात।
यह सत्य किधौं कछु स्वप्न ईश। अब कहा कह्यो मोसन कपीश ॥२४॥

भावार्थ—भरतजी यह परम चितचाही बात सुनकर सुख-समुद्र में निमग्न हो गये (अति आनंदित हुए) और आश्चर्य युक्त हो कहने लगे कि यह कपीश क्या कह रहा है, हे ईश ! यह मैं सत्यवार्ता सुन रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ ।

अलंकार—रूपक और संदेह (विवक्षित वाच्यध्वनि) ।

मूल—

जैसे चकोर लीलै अंगार । तेहि भूलि जात सिगरी सँभार ।
जी उठत उवत ज्यों उदधिनंद । त्यों भरत भये सुनि रामचंद ॥२५॥

शब्दार्थ—सँभार = सुधि, होश । उदधिनंद = चन्द्रमा ।

भावार्थ—जैसे आग खाने पर चकोर बेहोश हो जाता है, और पुनः चन्द्रमा निकलने पर सचेत हो उठता है, उसी प्रकार दुखित भरत श्रीरामचन्द्र का नाम सुनकर (उनका आगमन सुनकर) सजग होकर आनंदित हो उठे ।

अलंकार—प्रतिवस्तूपमा । (विवक्षित वाच्यध्वनि) ।

मूल—

ज्यों सोइ रहत सब सूरहीन । अतिह्वै अचेत यद्यपि प्रवीन ।
ज्यों उवत उठत हँसि करत भोग । त्यों रामचन्द्र सुनि अवधलोग ॥

भावार्थ—जैसे प्रवीन लोग भी सूर्यास्त हो जाने पर सो रहते हैं, और फिर सूर्योदय होने पर जगते हैं और संसार के काम काज करते हैं, वैसे ही जो अवधनिवासी रामजी के चले जाने पर चेष्टाहीन अकर्मण्य से हो गये थे वे सब रामागमन सुन सचेष्ट और आनंदित हो उठे ।

अलंकार – प्रतिवस्तूपमा ।

मूल—(मालिनी छंद)

जहँ तहँ गज गाजैं दुन्दुभी दीह बाजैं।
बहु बरण पताका स्यंदनाश्वादि राजैं॥
भरत सकल सेना मध्य यों वेष कीन्हे।
सुरपति जनु आये मेघ मालानि लीन्हे॥२७॥

अलंकार—उत्प्रेक्षा (अर्थ सरल ही है)।

मूल— सकल नगरवासी भिन्न सेनानि साजैं।
रथ सुगज पताका झुण्डझुण्डानि राजैं॥
थल थल सब सोभैं शुभ्र शोभानि छाई।
रघुपति सुनि मानो औधि सी आज आई॥२८॥

शब्दार्थ—सेनानि = समूह, झुण्ड। रघुपति = रघुपति का आगमन। औधि = (अवध) अयोध्यापुरी!

भावार्थ—सब नगरवासी गण अपनी अपनी पृथक् पृथक् टोलियाँ बनाकर और साथ में रथ, हाथी और पताके लिये हुए राम की अगवानी को ठौर-ठौर पर खड़े हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों राम का आगमन सुनकर स्वयं अयोध्यापुरी ही उन्हें लेने के लिये आई है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(चामर छन्द)

यत्र तत्र दास ईश व्योम त्यों विलोकहीं।
बानरालि रीछराजि दृष्टि-सृष्टि रोकहीं॥
ज्यों चकोर मेघ ओघ मध्य चन्द्रलेखहीं।
भानु के समान जान त्यों विमान देखहीं॥२९॥

शब्दार्थ—ईश = बड़े लोग। त्यों = (तन) तरफ। दृष्टि-सृष्टि = आँख पर पड़नेवाला दृष्ट वस्तु का प्रतिबिम्ब) चन्द्रलेखा =

चन्द्रमा का छोटा रूप, दूज व तीज का चन्द्रमा। जान = पुष्पक-विमान। विमान = (वि + मान) चमकदमक हीन, मलीन, धुँधला।

भावार्थ—अयोध्या से आये हुए चाकर और बड़े बड़े लोग आसमान की ओर देखते हैं, तो आकाश में उड़ते हुए बानर और रीछ समूहों की ओट से राम की मूर्त्ति का प्रतिबिम्ब रुकता है (राम को नहीं देख सकते) जैसे मेघ समूह में छिपे हुए चन्द्रमा को बड़ी उत्सुकता से चकोर देखता है, पर वह मुश्किल से दिखाई पड़ता है, वैसे ही लोग सूर्य समान जाज्वल्यमान पुष्पक को देखते हैं पर बानर और रीछों की ओट के कारण उसे धुँधले रूप में देखते हैं।

अलंकार—उपमा, पुनरुक्तिवदाभास (जान और विमान में)।

ध्वनि—संलक्ष्यक्रम, स्वतःसंभवी अलंकार से रामसेना की अधिकता व्यंग्य है।

मूल—(मदनमनोहर दंडक)*

आवत बिलोकि रघुबीर लघुबीर तजि,
व्योमगति भूतल विमान तब आइयो।
राम पद-पद्म सुख सद्म कहँ बन्धु युग,
दौरि तब षट्पद समान सुख पाइयो।
चूमि मुख सूंघि सिर अंक रघुनाथ धरि,
अश्रु जल लोचननि पेखि उर लाइयो।
देव मुनि वृद्ध परसिद्ध सब सिद्धजन,
हर्षितन पुष्प बरषानि बरषाइयो ॥३०॥

---

*यह छंद ३१ वर्ण का है। चरणान्त में 'रगण' है। शेष २८ अक्षरों में से चार अक्षरों के सात भाग हैं, जिनमें से प्रत्येक भाग का प्रथम अक्षर दीर्घ और शेष तीन लघु हैं।

शब्दार्थ—लघुवीर = छोटे भाई। तजि व्योमगति = आकाश में चलना छोड़कर। सुखसद्म—आनन्द का घर। षट्पद = भौंरा (यहाँ 'ट्' हलन्त होने के कारण उसके पहले वाला 'ष' दीर्घ माना जायगा और 'ट्' की गणना ही न होगी) पेखि = देखकर वृद्ध = बूढ़े लोग। परसिद्ध = प्रख्यात।

भावार्थ—जब रामजी ने अपने छोटे भाइयों को आते देखा तब प्रभु-प्रेरणा से आकाशचारी पुष्पक विमान पृथ्वी पर आगया (विमान ज़मीन पर उतारा गया, और दोनों भाई आनन्द के घर श्रीराम-चरणकमलों की ओर दौड़कर भ्रमर समान सुखी हुए। श्रीरामजी ने दोनों लघुभ्राताओं के सिर सूँघकर और मुख चूमकर गोद में बैठाला। और दोनों भाइयों को प्रेमाश्रु बहाते देख हृदय से लगा लिया। यह हाल देखकर देवगण. मुनिजन. बूढ़े लोग और समस्त प्रख्यात सिद्ध-जनों ने आनन्दित होकर फूल बरसाये।

अलंकार—रूपक और उपमा (दूसरे चरण में)।

मूल—(दोहा)—

> भरत चरण लक्ष्मण परे लक्ष्मण के शत्रुघ्न।
> सीता पग लागत दियो आशिष शुभ शत्रुघ्न ॥३१॥

शब्दार्थ—शत्रुघ्न = शत्रुओं को मारो अर्थात् समर में सदैव विजयी हो, (क्षत्रियों के लिये यही सर्वोत्तम आशीर्वाद है)।

भावार्थ—लक्ष्मण ने भरत के चरण छुए, शत्रुघ्न ने लक्ष्मण के चरण छुए। जब भरत और शत्रुघ्न ने सीता के चरण छुए, तब उन्होंने असीस दी कि तुम सदा समरविजयी हो।

अलंकार—यमक।

मूल—(दोहा)

> मिले भरत अरु शत्रुहन सुग्रीवाह अकुलाय।
> बहुरि बिभीषण को मिले अंगद को सुख पाय ॥३२॥

मूल—(आभीर छंद)—

जामवंत, नल, नील। मिले भरत शुभशील।
गवय, गवाक्ष, गवंद। कपिकुल सब सुखकंद ॥३३॥
ऋषिवशिष्ठ कहँ देखि। जनम सफल करि लेखि।
राम परे उठि पाय। लछिमन सहित सुभाय ॥३४॥

मूल—(दोहा)—

लै सुग्रीव विभीषणहि करि करि विनय अनन्त।
पायन परे वशिष्ठ के कपि-कुल बुधि बलवंत ॥३५॥

नोट—छन्द ३२ से ३५ तक का अर्थ सरल ही है।

(श्रीरामकृत कपिदलप्रशंसा)

मूल—(श्रीराम)—पद्धटिका छंद।

सुनिये वशिष्ठ कुल इष्ट देव। इन कपिनायक के सकल भेव।
हम बूड़त हे विपदा समुद्र। इन राखि लियो संग्राम रुद्र ॥३६॥

शब्दार्थ—कपिनायक—सुग्रीव। हे = थे। संग्राम = युद्ध। रुद्र = भयंकर।

भावार्थ—(रामजी कहते हैं) हे कुलगुरु वशिष्ठजी! इन सुग्रीव का परिचय सुनिये। जब हम विपत्तिसागर में डूब रहे थे, तब इन्होंने भयंकर युद्ध करके हमारी रक्षा की (तात्पर्य यह है कि अपनी सेना हमें दी जिससे हम रावण से युद्ध कर सके)।

नोट—इस छंद में उपादानलक्षणा से काम लिया गया है। यथा—'उपादान सो लक्षणा पर गुण लीन्हें होय'। काम तो सेना ने किया है' पर वह सब काम सुग्रीव का समझा गया।

मूल—सब आसमुद्र की भू शोधाय। तब दई जनकतनया बताय।
निजु भाइ भरत ज्यों दुःखहर्ण। अति समर अमर हत्यो कुंभकर्ण ॥३७॥

शब्दार्थ—आसमुद्र की = समुद्र से वेष्ठित समस्त। भू शोधाय = पृथ्वी में तलाश कराकर। बताय दई = ठीक पता लगवा दिया। ज्यों = समान। अमर = न मारने योग्य (अतिबली)। हत्यो = मारा। कुम्भकर्ण के नाक कान सुग्रीव ने दाँतों से काटे, जब वह व्याकुल होकर घबराया उसी समय राम ने उसे मारा अतः मानों सुग्रीव ही ने उसे मारा (उपादान लक्षणा से)।

भावार्थ—समुद्रवेष्ठित समस्त पृथ्वी भर में तलाश कराके इन्हीं ने जानकी का पता लगाय। इन दुःखहरण सुग्रीव को मैं भरत समान समझता हूँ अत्यन्त बली कुम्भकर्ण को युद्ध में इन्होंने तो मारा है। (इन्हीं की सहायता से मैं मार सका हूँ)।

नोट—'हत्यो' क्रिया का कर्ता यदि सुग्रीव को मानें तो 'उपादान लक्षणा' होगी। यदि 'राम' को कर्त्ता मानें तो 'इनकी सहायता से" इतने शब्दों का अध्याहार करना होगा। हमें 'उपादान लक्षणा' वाला अर्थ अच्छा जँचता है।

मूल—

इन हरे विभीषण सकल शूल। मन मानत हौं शत्रुघ्न तूल।
दशकंठ हनत सब देव साखि। इन लिये एक हनुमन्त राखि ॥३८॥

शब्दार्थ—तूल—तुल्य।

भावार्थ—इन विभीषण ने मेरे सब, कष्ट दूर किये हैं, इन्हें मैं शत्रुघ्न के समान मानता हूँ। देवगण साक्षी हैं कि जब रावण ने हनुमान को मार डालने की आज्ञा दी थी (जब मेघनाथ ब्रह्मपाश में बाँधकर रावण के दर्बार में ले गया था—देखिये प्रकाश १४, छंद नं० २ और ३) तब अकेले इन्होंने हनुमान की रक्षा की थी (अन्य किसी ने नहीं)। तात्पर्य यह है कि इन्होंने हनुमान की रक्षा की और हनुमान ने लक्ष्मण को बचाया, जिससे मैं भी बच गया, नहीं तो मैं भी

प्राण त्यागता। अतः हम सब की रक्षा के कारण यही विभीषण हैं।

नोट—इसमें 'गूढ़व्यंग' है।

मूल— तजि तिय सुत सोदर बंधु ईश।
मिले हमहिं काय मन बच ऋषीश।
दई मीचु इन्द्रजित की बताय।
अरु मन्त्र जपत रावण दिखाय॥३९॥

शब्दार्थ—ईश = राजा। ऋषीश = वशिष्ठ (सम्बोधन में) दई······ बताय = (देखो प्रकाश १८, छन्द नं० ३० ३१)। मंत्र······ दिखाय = केशव ने कोई छन्द तो ऐसा नहीं कहा, पर अन्य रामायणों में वर्णन है कि रावण के यज्ञ करने की खबर विभीषण ही ने राम को दी थी। ('दिखाय' के आगे 'दयो' शब्द का अध्याहार समझो)।

भावार्थ—हे ऋषीश वशिष्ठ जी! ये विभीषण अपने स्त्री, पुत्र, भाई बिरादर और राजा को छोड़ मन, वचन कर्म से हम से मिले रहे (कुछ कपट नहीं रक्खा)। इन्हींने मेघनाद की मृत्यु की युक्ति बताई और इन्होने यज्ञ करते हुए रावण का पता दिया (यदि ये ऐसा न करते तो हम रावण पर विजय न प्राप्त कर सकते।

मूल (श्रीराम) तोटक छंद।

इन अंगद शत्रु अनेक हने। हम हेतु सहे दिन दुःख घने।
बहु रावण को सिख दै सुखदै। फिरि आये भले सिर भूषण लै॥४॥

शब्दार्थ—हम हेतु = हमारे लिये। दिन = प्रतिदिन। सिख = शिक्षा। सुखदै = (सुखदा) सुखदेनेवाली अच्छी ('सिख' का विशेषण है)। सिरभूषण = मुकुट।

भावार्थ—हे गुरुवर वशिष्ठ जी ! देखिये ये अंगद हैं, इन्होंने अनेक शत्रु मारे हैं ? हमारे लिये इन्होंने प्रतिदिन अनेक दुःख झेले हैं। रावण को बहुत सी सुखप्रद शिक्षाएँ देकर, और उसका मुकुट लेकर सकुशल उसके दरबार से लौट आये थे (जिस दरबार से हनुमान और विभीषण भी बिना मार खाये नहीं आसके थे।)

नोट—रामजी के इन शब्दों के अंगद की वीरता, दुःखसहिष्णुता, राजनीतिज्ञता, निर्भयता तथा कार्यकुशलता भली भाँति ध्वनित है।

अलंकार—परिवृत्ति।

मूल—(तोटक)—

दसकन्ध की जायकै गूढ़थली। तनिकै तिनसी बहुभीर दली।
महि में मय की तनया करषी। मति मारि अकापन को हरषी ॥४१॥

शब्दार्थ—गूढ़थली = गुप्त यज्ञस्थल। तनिकै = वीरता पूर्वक। तिनसी = तृण समान (अति तुच्छ तुच्छ समझकर)। मय की तनया = मंदोदरी। करषी = कढ़ोरी, खींचे खींचे फिरे (देखो प्रकाश १६ छंद नं० २६)।

भावार्थ—इन्हींने रावण की गुप्त यज्ञशाला में जाकर वीरता पूर्वक बहुत से राक्षसों की भीर को तृण समान नष्ट कर डाला। इनहींने मंदोदरी को जमीन में घसीटा था (दुर्दशा की थी) और अकंपन नामक राक्षस को मारकर इन्हीं की बुद्धिमानी हर्षित हुई थी (अपनी बुद्धिमानी से अकंपन को इन्हींने मारा था]।

अलंकार—उपमा (दूसरे चरण में)।

मूल—(दोहा)—

मारयौ मैं अपराध बिन इनको पितु गुणग्राम।
मनसा, बाचा कर्मणा कीन्हे मेरे काम ॥४२॥

भावार्थ—सरल है। पर ध्वनि से इस छंद में रामजी अंगद की क्षमाशीलता, सज्जनता और अकपटता की प्रशंसा करते हैं, यह बात समझ लेना चाहिये। श्रीरामचन्द्र की कृतज्ञता स्पष्ट ध्वनित है। 'कीन्हे' का कर्ता 'अंगद' शब्द है, जो प्रसंग से स्पष्ट लक्षित है।

मूल—(गीतिका छंद)—

> इन जामवंत अनन्त राक्षस लक्ष लक्षन ही हने।
> मृगराज ज्यों बनराज मे गजराज मारत नीगने॥
> बलभावना बलवान कोटिक रावणादिक हारहीं।
> चढ़ि व्योम दीह विमान देवदिवान आनि निहारहीं॥४३॥

शब्दार्थ—लक्ष लक्षन ही हने = एक-एक लक्ष्य (बार) में लाखों को मारा है। बनराज = बड़ा वन। नीगने = (निः + गने) अनगिनती, बेशुमार। बलभावना बलवान = जितनी भावना करें उतने बलवान हो जायें (इनमें ऐसी शक्ति है)। देवदिवान = देवताओं की जमात, देवसमूह।

भावार्थ—(श्रीरामजी जामवन्त की प्रशंसा करते हैं कि) इन जामवंतजी ने बेशुमार राक्षस मारे हैं, क्योंकि एक-एक बार में लाखों को मारते थे। जैसे कोई सिंह बड़े वन में अगणित हाथी मारता है। इनमें ऐसी शक्ति है कि जितने बल की इच्छा करें उतने ही बलवान हो जा सकते हैं। इनसे करोड़ों रावण हार जा सकते हैं। जब ये लड़ते थे तब बड़े-बड़े विमानों में आकर देवसमूह इनकी रणक्रीड़ा देखते थे।

अलङ्कार—उपमा, भाविक (भूत-क्रिया के लिये वर्तमानकालिक क्रिया है)।

मूल—(दोहा)—

> करो न करिहै करत अब कोऊ ऐसो कर्म।
> जैसे बाँध्यो नल उपल जलनिध सेतु सुधर्म॥४४॥

शब्दार्थ—उपल = पत्थर । सुधर्म = सीधा और अच्छा ।

भावार्थ—किसी ने ऐसा काम न कभी किया है, न करेगा, न अब करता है, जैसा नल ने किया है । इन्होंने समुद्र में पत्थरों से बड़ा सुंदर और सीधा पुल बाँध दिया ।

मूल—(हरिगीतिका छंद)—

हनुमन्त ये जिन मित्रता रविपुत्र सों हम मों करी ।
जलजाल कालकराल-माल उफाल पार धरा धरी ।
निशंक लंक निहारि रावण धाम धामनि धाइयो ।
यह बाटिका तरु मूल सीतहिं देखिकै दुख पाइयो ॥४५॥

शब्दार्थ—रविपुत्र = सुग्रीव । जलजाल = समुद्र । कालकराल-माल = जिसमें काल सम कराल जलजन्तुओं के समूह थे । उफाल = बड़ी लंबी डग, छलाँग मारते समय की डग । पार धरा = उस पार की पृथ्वी । तरुमूल = पेड़ की जड़ के पास, वृक्ष के नीचे ।

भावार्थ—हे गुरुजी ! देखिये ये हनुमानजी हैं जिन्होंने सुग्रीव से हमसे मित्रता कराई, और अत्यंत विकट जंतुओं से पूर्ण समुद्र को लाँघने में अपनी लंबी डग उस पार की पृथ्वी ही पर रखी थी (इस प्रकार लाँघ गये जैसे कोई छोटी नाली को लाँघ जाता है) और निडर होकर सारी लंका खोज डाली, सीता की खोज में रावण के सब घर दौड़-दौड़ कर देखे, अंत में एक बाटिका में एक वृक्ष के नीचे सीता को देखकर अति दुखी हुए ।

अलङ्कार—कारक दीपक । (क्रम तें क्रिया अनेक को कर्ता एकै होय) ।

मूल—**तरु तोरि डारि प्रहारि किंकर मन्त्रि-पुत्र सँहारियो ।**
रण मारि अक्षकुमार रावण गर्व सों पुर जारियो ।
पुनि सौंपि सीतहिं मुद्रिका, मनि सीस की जब पाइयो ।
बलवन्त नाघि अनन्त सागर तैसही फिरि आइयो ॥४६॥

भावार्थ—फिर बाटिका के वृक्ष तोड़कर, बाटिका के रक्षकों को मारकर, रावण के मंत्रि-पुत्रों को मारा, रण में अक्षयकुमार को मारकर, रावण का अहंकार पस्त करने के लिये उसका नगर जला दिया। सीता को हमारी मुद्रिका सौंप कर, जब उनकी शीशमणि पाई तब ये बली पुनः उसी प्रकार समुद्र को लाँघ आये।

अलङ्कार—कारक दीपक।

—

दसकंठ देखि बिभीषणै रण ब्रह्मशक्ति चलाइयो।
करि पीठि त्यौं शरणागतै तब आपु बक्ष सेलाइयो।
इक याम यामिनि में गयो हति दुष्ट पर्वत आनिकै।
तेहि काल लक्ष्मण को जियाय जियाइयो हम जानिकै ॥४७॥

शब्दार्थ—करि पीठि त्यौं=पीठ की तरफ करके, ओट की भाँति खड़े होकर। बक्ष=छाती। आपु बक्ष सेलाइयो=अपनी ही छाती छिदवाई, रावण की साँग का घाव अपनी छाती पर लिया। जियाइयो हम जानिकै=यह जानकर कि लक्ष्मण के मरने से राम भी प्राण त्यागेंगे, हनुमान ने लक्ष्मण को संजीवनी लाकर जिलाया। अतः ऐसा समझना चाहिये कि इन्होंने लक्ष्मण ही की नहीं वरन्, हमारे भी प्राणों की रक्षा की है।

नोट—रावण की ब्रह्मशक्ति से बचाने का जो हाल केशव यहाँ लिखते हैं वह वास्तव में केशव ने (प्रकाश १७ छंद ४० में) और तरह से कहा है, पर अन्य रामायणों में ठीक ऐसा ही वर्णन है जैसा यहाँ कहते हैं।

भावार्थ—(रामजी वशिष्ठजी से कहते हैं) रण में रावण ने विभीषण पर ब्रह्मशक्ति चलाई थी, उस समय शरणागत विभीषण को हनुमान ने अपनी पीठ की ओर करके अपनी छाती में वह शक्ति

सही जिससे इनकी छाती में छेद हो गया था। पुनः रात्रि के समय एक पहर में द्रोणगिरि तक गये, और रास्ते में दुष्ट कालनेमि को मारकर और पर्वत समेत औषधि लाकर लक्ष्मण को जिलाया मानो हमीं को जिला लिया (नहीं तो हम भी प्राण त्यागते)।

मूल—(दोहा)—

अपने प्रभु को आपनो कियो हमारो काज।
ऋषि जु कहौ हनुमंत सों भक्तन को सिरताज ॥४८॥

शब्दार्थ—अपने प्रभु को = सुग्रीव का (हनुमानजी सुग्रीव के मंत्री थे)।

भावार्थ—हनुमान ने अपने मालिक सुग्रीव का, अपना और हमारा सबका कार्य कुशलता से किया है। हे ऋषिराज ! इन हनुमान को समस्त भक्तों का सिरताज ही समझो (धन्य कृतज्ञता, धन्य-भक्तवत्सलता)।

मूल—(चामर छंद)—

बीरधीर साहसी बली जे बिक्रमी छमी।
साधु सर्वदा सुधी पती जपी जे संजमी।
भोग भाग जोग जाग बेगवंत हैं जिते।
वायुपुत्र मोर काज वारि डारिये तिते ॥४९॥

शब्दार्थ—बिक्रमी = कठिन काम में उद्योगी। छमी = छमतावान। साधु = पवित्र विचारवाला। संजमी = इन्द्रिजीत। भोग = पाँचों विषयों के भोगी। भाग = भाग्यवान। जोग = योगी। जाग – यज्ञकर्ता। बेगवंत = तेज़ चलानेवाले (मन वा गरुड़ इत्यादि)। वायुपुत्र = हनुमान पर। मोर काज = मेरा काम करने में। वारि डारिये = निछावर कर दीजिये।

भावार्थ—संसार में जितने भी वीर, धीर, साहसी, बली, बिक्रमी, छमतावान, साधु, सुन्दर बुद्धिवाले, तपी, जपी, संयमी, भोगी,

भाग्यवान, जोगी, यज्ञकर्ता, और तेज चलनेवाले हैं, वे सब मेरे कार्य में हनुमान पर निछावर किये जा सकते हैं (जो कार्य इन्होंने किये हैं वे किसी से भी न हो सकते) ।

मूल—(दोहा)—

सीता पाई रिपु हत्यो देख्यो तुम अरु गेहु ।
रामायण जय सिद्धि को कपि सिर टीका देहु ॥५०॥

शब्दार्थ— रामायण = रामचरित्र । कपि सिर टीका देहु = हनुमान को ही इसका सम्मान मिलना चाहिये ।

भावार्थ— इन्हीं हनुमानजी की बदौलत मैंने सीता को पुनः पाया, शत्रु को मारा, और घर आकर आपके दर्शन किये । मुझ राम के कार्यों में जो जयसिद्धि प्राप्त हुई है उसका सारा श्रेय इन्हीं के सिर है (हमारी विजय का मुख्य कारण ये ही हैं) ।

मूल—(दोहा)—

यहि बिधि कपिकुल गुणन को कहत हुते श्रीराम ।
देख्यो आश्रम भरत को केशव नन्दीग्राम ॥५१॥

(नंदिग्राम में रामगमन वर्णन)

मूल—(मोदक छंद)—

पुष्पक ते उतरे रघुनायक । यक्षपुरी पठयो सुखदायक ।
सोदर को अवलोकि तपोथल । भूलि रह्यौ कपि राक्षस को दल ॥५२॥

शब्दार्थ—यक्षपुरी = अलकापुरी (यह पुष्पक विमान वास्तव में कुबेर का था, अतः कुबेर के पास भेज दिया गया) ।

भावार्थ—नंदीग्राम में पहुँचकर रामजी अपने दल सहित पुष्पक विमान से उतरे और सुखदाता राम ने उसे कुबेर के पास अलकापुरी को भेज दिया । रामसहोदर भरत के तपस्थान नंदीग्राम को देखकर वानरों

और राक्षसों का दल चकित सा हो गया। (कि ऐसा भव्य तपोवन तो बड़े-बड़े मुनियों का भी नहीं होता जैसा यह है)।

मूल—(मोदक छंद)—

कंचन को अति शुद्ध सिंहासन। राम रच्यो तेहिं ऊपर आसन।
कोपर हीरन को अति कोमल। तामहँ कुंकुम चंदन को जल ॥५३॥

शब्दार्थ—कोपर = थाल। कोमल = सुन्दर, सचिक्कण। कुंकुम = केसर।

भावार्थ—भरत ने राम के बैठने को सोने की चौकी मँगाई जिसपर रामजी विराज गये। हीरा जड़ित सुन्दर सचिक्कण थाल में पैर धोने के लिये केसर चन्दन युक्त जल मँगाया गया।

मूल—दोहा

चरण कमल श्रीराम के भरत पखारे आप।
जाते गंगादिकन को मिटत सकल संताप ॥५४॥

भावार्थ—भरतजी ने स्वयं अपने हाथों से रामजी के उन चरणकमलों को धोया जिनसे गंगादिक पवित्र तीर्थों के समस्त संताप मिट जाते हैं (अर्थात् जो अत्यन्त पवित्र हैं। जिन चरणों का चरणोदक होने के कारण गंगा इतनी पवित्र मानी जाती है)।

मूल—(पंकजवाटिका छंद)—

सूरज चरण विभीषण के अति। आपुहि भरत पखारि महामति।
दुंदुभि धुनि करिकै बहु भेवनि। पुष्प बरषि हरषे दिवि देवनि ॥५५॥

शब्दार्थ—सूरज = (सूर + ज) सुग्रीव। बहु भेवनि = बहुत प्रकार से। दिवि = स्वर्ग लोक।

भावार्थ—महामति भरत ने सुग्रीव और विभीषण के भी चरण अति प्रेम से धोये। यह देख स्वर्ग से देवताओं ने फूल बरसाये और अनेक प्रकार से नगाड़े बजाकर आनन्दित हुए।

मूल—(दोहा)—

पीछे दुरि शत्रुघ्न सन लखन धुवाये पाइ।
पग सौमित्रि पखारियो अंगदादि के आइ ।।५६।।

शब्दार्थ—सौमित्रि = सुमित्रा के पुत्र, शत्रुघ्न।

भावार्थ—तदनन्तर ओट में होकर लक्ष्मण ने शत्रुघ्न से पैर धुलवाये, उसके बाद शत्रुघ्न ने सबके निकट आ आकर अंगदादि सरदारों के पैर धोये।

मूल—(तोमर छंद) -

सिरतें जटानि उतारि। अँग अंगरागनि धारि।
तन भूषि भूषन वस्त्र। कटिसों कसे सब शस्त्र ।।५७।।

भावार्थ—तदनन्तर सिर की जटाओं को मुड़वाकर, अंग पर अंगरागादि (चन्दनादि) धारण किये और वस्त्राभूषण पहनकर कमर में हथियार लगाकर राम-लक्ष्मण राजवेष से सज्जित हुए।

मूल—(दोहा)

शिरतें पावन पादुका लैकरि भरत विचित्र।
चरण कमल तरहरि धरी हसि पहिरी जगमित्र ।।५८।।

शब्दार्थ—तरहरि = नीचे। जगमित्र = संसार के हितैषी श्रीरामजी।

भावार्थ विचित्र मति भरत ने, श्रीरामजी की पवित्र पादुकाओं को सिर पर रखकर राम के चरण-कमलों के निकट ला धरा, और रामजी ने प्रसन्न होकर उन्हें पहन लिया (भरत ने राज्य का चार्ज राम को सौंप दिया)।

इक्कीसवाँ प्रकाश समाप्त

बाईसवाँ प्रकाश

दो०—या बाइसें प्रकाश में अवधपुरीहि प्रवेश ।
पुरवासिन मातान सों मिलिबो रामनरेश ॥

(अवध प्रवेश वर्णन)

मूल—(मोदक छंद)—

औधपुरी कहँ राम चले जब । ठौरहि ठौर विराजत हैं सब ।
भर्त भये प्रभु सारथि सोभन । चौंर धरं रविपुत्र विभीषन ॥१॥

मूल—(तोमर छंद)—

लीनी छरी दुहुँ बीर । शत्रुघ्न लक्ष्मण धीर ।
टारैं जहाँ तहँ भीर । आनद युक्त शरीर ॥२॥

भावार्थ—(१ छंद) जब नंदिग्राम से रामजी अयोध्या को चले, तब सब स्थान सुन्दर शोभा से युक्त थे (यथाविधि स्वागत की योजना की गई थी) भरतजी राम के सारथी बने, सुग्रीव और विभीषण चामरधारी हुए । (२ छंद) लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों भाई छरी-बरदार बने और आनन्द युक्त होकर आगे-आगे चलते हुए जहाँ-तहाँ भीड़ को हटाते वा यथास्थान करते जाते हैं ।

मूल—(दोधक छंद)

भूतल हू दिवि भीर बिराजैं । दीह दुहूँ दिसि दुंदुभि बाजैं ।
भाट भले बिरदावलि गावैं । मोद मनौ प्रतिबिम्ब बढ़ावैं ॥३॥

शब्दार्थ—दिवि—आकाश । प्रतिबिंब = अवधवासियों के प्रतिबिम्ब समान देवगण और देवगण के प्रतिबिम्ब सम अवधवासीजन ।

भावार्थ—उस समय भूमि पर तथा आकाश में बड़ी भीड़ हुई और बड़े बड़े नगाड़े दोनों ओर बजने लगे। भाट विरदावली गाते हैं, और ज़मीन पर अवधवासी जन तथा आकाश में देवगण आनन्द मनाते हैं, यह दृश्य ऐसा जान पड़ता है मानो परस्पर एक दूसरे के प्रतिबिंब आनन्दित हो रहे हैं।

नोट—अयोध्यावासियों का सौन्दर्य और विभव व्यंग्य है (अवधवासी देवसमान हैं।)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—भूतल को रज देव नसावैं। फूलन की बरषा बरषावैं।
हीन निमेष सबै अवलोकैं। होड़ परी बहुधा दुहु लोकैं ॥४॥

शब्दार्थ—हीन निमेष=टकटकी लगाकर (देवगण तो हीन-निमेष होते ही हैं पुरवासी भी उन्हीं के समान टकटकी लगाकर देख रहे हैं)। होड़—बराबरी की स्पर्द्धा। बहुधा=अनेक प्रकार की।

भावार्थ—पृथ्वी से धूर उड़ती है, वह मानो अवधपुरवासी देवताओं को ढँकने के लिये उड़ाते हैं, उस धूल को देवता गण फूल वर्षाकर दबा देते हैं (वर्षा से धूल दब जाती है)। देवता और पुरवासी अनिमेष होकर राम के दर्शन करते हैं, मानों दोनों के निवासियों में अनेक प्रकार से होड़ लगी है।

अलंकार—ललितोपमा अथवा गम्योत्प्रेक्षा।

मूल—(तारक छंद)—

सिगरे दल औधपुरी तब देखी। अमरावति ते अति सुन्दर लेखी।
चहुँ ओर विराजति दीरघ खाई। सुभ देवतरंगिनि सी फिरि आई ॥५॥

अति दीरघ कंचन कोटि बिराजै।
मणि लाल कँगूरन की रुचि राजै॥

पुर सुन्दर मध्य लसै छबि छायो।
परिवेष मनो रबि को फिरि आयो ॥६॥

शब्दार्थ—(५) अमरावती = इन्द्रपुरी। देव तरंगिनी = गंगा। (६) कोट = शहरपनाह की दीवार। परिवेष = वह प्रकाशमय घेरा जो कभी-कभी सूर्य वा चन्द्रमा को घेरे हुए दिखाई देता है। जिसे उर्दू-फारसी में 'हाला' कहते हैं।

भावार्थ—(५) राम के समस्त दल ने अयोध्या को देखा और इन्द्रपुरी से भी अधिक सुन्दर माना। नगर के इर्द गिर्द बड़ी गहरी खाई है मानो गंगा ही नगर को घेरे हुए हैं। (६) और बहुत ऊँचा सोने का कोट नगर को घेरे हुए है जिसके कँगूरों पर हीरों और माणिकों की प्रभा झलकती है, उस कोट के बीच में नगर ऐसा सुन्दर जान पड़ता है मानों सूर्य के इर्द गिर्द परिवेष पड़ा हुआ है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उदात्त।

मूल—(दोहा)

विविध पताका सोभिजैं ऊँचे केशवदास।
दिवि देवन के सोभिजैं मानहु व्यजन विलास ॥७॥

शब्दार्थ—दिवि = देवलोक। व्यजन = पंखा।

भावार्थ—नगर की ऊँची इमारतों पर विविध रंग के अनेक झंडे फहरा रहे हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो देवलोक में देवताओं के पंखे चल रहे हैं।

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

मूल—लवंगलता छंद—(८ जगण १ लघु)।

चढ़ीं प्रति मंदिर सोभ बढ़ी तरुणी अवलोकन को रघुनंदनु।
मनो गृहदीपति देह धरे सु किधौं गृहदेवि विमोहति हैं मनु ॥

किधौं कुलदेवि दिपैं अति केशव कै पुरदेवनि कौ हुलस्यो गनु ।
जहीं सु तहीं यहि भाँति लसैं दिवि देविन को मद घालति हैं मनु ॥८॥

भावार्थ—श्रीरामजी के दर्शनों के लिये स्त्रियाँ प्रति मन्दिर की अटारी पर चढ़ी हैं, उनसे नगर की शोभा ऐसी बढ़ी है मानो गृहदीप्ति ही साक्षात शरीर धरकर आ गई हो या गृहदेवियाँ ही सबके मन मोह रही हों, या कुल देवियाँ ही दीप्तमान हो रही हों, या ग्रामदेवियों का समूह ही हर्षित हो रहा है। जहाँ-तहाँ इस प्रकार शोभा देती हैं मानों देवलोक की देवियों के अहंकार को नष्ट कर रही हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और सन्देह।

मूल—(दोहा)—

अति ऊँचे मंदिरन पर चढ़ीं सुन्दरी साधु ।
दिवि देवनि को करति हैं मनु आतिथ्य अगाधु ॥९॥

भावार्थ—अत्यन्त ऊँचे घरों की अट्टालिकाओं पर रूपवती स्त्रियाँ चढ़ी हैं, मानो देवलोक की देवियों का अगाध प्रेम से स्वागत करती हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और सम्बन्धातिशयोक्ति द्वारा मन्दिरों की अति उँचाई व्यंग्य है। अर्थात् विमानों की उँचाई तक ऊँचे मकान हैं।

मूल—(तोटक छंद)—

नर नारि भली सुरनारि सबै ; तिन कोउ परैं पहिचान अबै ।
मिल फूलन की बरषैं बरषा । अरु गावति हैं जय के करषा ॥१०॥

शब्दार्थ—ति=(ते) वे। जय के करषा=विजय सूचक प्रशंसामय गीत

भावार्थ—नरनारियाँ और देवनारियाँ सब ऐसी सुन्दरी हैं कि वे इस समय कोई पहचानी नहीं जातीं (कि कौन नरनारी है कौन देवनारी

है)। वे सब मिलकर फूल बरसाती हैं और विजयसूचक प्रशंसामय गीत गाती हैं।

अलंकार—मीलित। इस छन्द से नरनारियों का रूपाधिक्य व्यंग्य है।

मूल—पद्मावती छंद (१० + ८ + १४ = ३२ मात्रा का, अन्त में दो गुरु)।

रघुनन्दन आये, मुनि सब धाये, पुरजन जैसे के तैसे।
दरसनरस, भूले, तन मन फूले, बहु बरने जात न जैसे।
पति के सँग नारी, सब सुखकारी, ते रामहिं यों दृग जोरी।
जहँ तहँ चहुँ ओरनि, मिलीं चकोरनि, ज्यों चाहति चंदचकोरी॥११॥

शब्दार्थ—जैसे के तैसे = जिसने जिस रूप में रामागमन सुना, बिना बनावट। रस = प्रचंड अभिलाषा। फूले = अत्यन्त हर्षित। यों दृग जोरी = इस प्रकार देखती हैं। चाहति = देखती है।

भावार्थ—पुरजन लोगों ने जब सुना कि रामजी आये हैं, तब जो जैसे रूप में था उसी रूप से उठ दौड़ा (बनाव सिंगार कुछ भी नहीं किया)। दर्शन की प्रचण्ड अभिलाषा से तन-मन से ऐसे हर्षित हुए कि वर्णन नहीं हो सकता। स्त्रियाँ अपने अपने सुखप्रद पतियों के साथ आ-आकर रामजी को इस प्रकार देखती हैं जैसे हर ओर से चकोर चकोरिनी मिलकर चन्द्रमा को देखते हैं।

अलङ्कार—पूर्णोपमा।

नोट—इस छन्द में प्रजा की 'राजरति' तथा पतियों के साथ स्त्रियों का आना जिससे पर-पुरुष दर्शन-दोष से मुक्ति और पातिव्रत उत्तम रीति से ध्वनित किये गये हैं।

मूल—पद्धटिका छंद।

बहु भाँति राम प्रति द्वार द्वार। अति पूजत लोग सबै उदार।
यहि भाँति गये नृपनाथ गेह। युत सुन्दरि सोदर स्यों सनेह॥१२॥

शब्दार्थ—नृपनाथ = राजराजेश्वर श्रीदशरथजी। सुन्दरि = सीता। सोदर = लक्ष्मण। स्यों सनेह = प्रेम सहित।

भावार्थ—प्रजाजन अपने-अपने द्वार पर रामजी की उदारता युक्त पूजा करते हैं, (सत्कार सूचक मंगलाचार करते हैं)। इस प्रकार पूजित होते हुए श्रीरामजी सीता और लक्ष्मण सहित सप्रेम सर्वप्रथम राजा दशरथ के निवासस्थान में गये। (स्मरण रखना चाहिये कि राज-कुल में प्रत्येक व्यक्ति के निज निवास के हेत एक-एक पृथक् स्थान होता है—अतः सारा महल तो दशरथ का था ही, पर यहाँ पर तात्पर्य यह है कि राजा दशरथ के खास रहने, बैठने और सोने के स्थान में गये)।

नोट—सर्वप्रथम नंदिग्राम में उतरकर भरत के प्रति स्नेह प्रदर्शित किया। नगर में पहुँच कर सर्वप्रथम पिताभवन में जाकर पिता प्रति सर्वाधिक आदर दरसाया।

मूल—(दोहा)—

> **मिले जाय जननीन कों जबही श्रीरघुराइ।**
> **करुणारस अद्भुत भयो मो पै कह्यो न जाइ ॥१३॥**

शब्दार्थ—करुणारस = विरह शोक का अंतिम प्रबल उभार (रोना पीटना, अश्रुप्रवाह इत्यादि)। अद्भुत = अपूर्व (जैसे पहले कभी न देखा था)।

मूल—(दोहा)—

> **सीता सीतानाथजू लक्ष्मण सहित उदार।**
> **सबनि मिले सब के किये भोजन एकहि बार ॥१४॥**

शब्दार्थ—सबनि = सबसे। सबके = सबके घर। बार = दिन। (स्मरण रखना चाहिये कि राजा दशरथ की ७६० रनियाँ थीं, जिनमें

कौशल्या, सुमित्रा और केकयी प्रधान थीं सबको रामजी समान आदर से मानते थे)।

मूल—(सोरठा)—

पुरजन लोग अपार, यहई सब जानत भये।
हमहीं मिले अगार, आये प्रथम हमारे ही ॥१५॥

शब्दार्थ—यहई = यही। अगार = अगाड़ी, सबसे पहले, सर्व प्रथम। हमारे ही = हमारे ही द्वार पर।

नोट—छन्द १४, १५ में राम का सर्वव्यापक ईश्वरत्व व्यंग्य है।

मूल—(मदनहरा छन्द)--(१०+८+१४+८=४० मात्रा का, आदि में दो लघु अंत में एक गुरु)।

सँग सीता लछिमन, श्री रघुनन्दन,
मातन के शुभ पाइ परे, सब दुःख हरे।
अँसुवन अन्हवाये, भागनि आये,
जीवन पाये अँक भरे, अरु अंक धरे॥
वर बदन निहारैं, सरबसु वारैं,
देहिं सबै सबहीन घनो, बरु लेहि घनो।
तन मन न सँभारैं, यहै बिचारैं,
भाग बड़ो यह है अपनो, किधौं है सपनो॥१६॥

भावार्थ—सीता और लक्ष्मण सहित श्रीराम जी सब माताओं के पैरों पड़े और सबके सब दुःख (विरह दुःख) दूर किये। माताएँ मिलते समय इतना रोईं कि आँसुओं से तीनों मूर्तियों को स्नान करा दिया (बहुत रोईं) और कहा कि हमारे भाग्य से तुम लौट आये (हमें तो इस जीवन में पुनः मिलने की आशा न थी) पर तुमको

पाकर हमने जीवन ही पा लिया, यह कहकर अँकवार देकर भेंटा और गोद में बैठा लिया। सुन्दर मुख देखती हैं, और सर्वस्व निछावर करती हैं, याचकों और नेगियों सबको बहुत धन देती हैं, और अनेक आशीर्वाद लेती हैं (पाती हैं)। तन मन की सँभार नहीं है, यही विचारती हैं कि यह हमारे बड़े भाग्य का फल है या हम स्वप्न देख रही हैं।

अलङ्कार—कारक दीपक, और सन्देह।

मूल—(स्वागत छंद)—

धाम धाम प्रति होति बधाई। लोक लोक तिनकी धुनि धाई।
देखि देखि कपि अद्भुत लेखैं। जाहिं यत्र तित रामहिं देखैं॥१७॥

भावार्थ—अयोध्या में घर घर बधाई का आनन्द गान होता है, चौदहों लोकों तक उस गान की धुनि पहुंची है। यह सब हाल देखकर वानर आश्चर्य मानते हैं (क्योंकि उनके देश में ऐसा नहीं होता था) और जहाँ कहीं जाते हैं वहाँ राम ही को देखते हैं (अर्थात् रामजी की ही चर्चा वा अर्चा देखते हैं)।

नोट—इस छंद से रामभक्ति का आधिक्य व्यंजित है।

मूल—

दौरि दौरि कपि रावर आवैं। बार-बार प्रति धामन धावैं।
देखि देखि तिनको दै तारी। भाँति भाँति बिहँसै पुरनारी॥१८॥

शब्दार्थ—रावर = रनिवास।

भावार्थ—काम काज करने के लिये वानरगण रनिवास में आते हैं, बार-बार प्रत्येक घर में काम के लिये दौड़ते हैं। उनको देखकर तालियाँ दे-देकर पुर की स्त्रियाँ अनेक भाँति से हँसती हैं (क्योंकि उन्होंने वानरों को मनुष्यों की तरह काम-काज करते कभी नहीं देखा था)।

मूल—(श्रीराम)—दोहा—

इन सुग्रीव विभीषणौ अंगद अरु हनुमान।
सदा भरत शत्रुघ्न सम माता जी मैं जान ॥१९॥

भावार्थ—रामजी माता सुमित्रा से कहते हैं कि हे माता! इन सुग्रीव विभीषण, अंगद और हनुमान को मैं सदा भरत और शत्रुघ्न के समान ही जानता हूँ।

अलङ्कार—उपमा

मूल— (सुमित्रा)—सोरठा—

प्राणनाथ रघुनाथ. जियकी जीवन मूरि हौ।
लक्ष्मण हे तुम साथ, छमियों चूक परी जु कछु ॥२०॥

शब्दार्थ—हे = थे। प्राणनाथ = प्राणों पर अधिकार रखनेवाले। जिय की जीवनमूरि = जीवन के आधारभूत कारण।

नोट—अर्थ सरल है। हेतु अलंकार है। साध्यवसाना लक्षणा है। वात्सल्य का आधिक्य व्यंग्य है।

मूल—(दंडक—छन्द)

पौरिया कहौं कि प्रतीहार कहौं किधौं प्रभु,
पुत्र कहौं मित्र किधौं मन्त्री सुखदानिये।
सुभट कहौं कि शिष्य दास कहौं किधौं दूत,
केशोदास हाथ को हथ्यार उर आनिये।
नैन कहौं किधौं तन मन किधौं तनत्राण,
बुद्धि कहौं किधौं बल बिक्रम बखानिये।
देखिबे को एक हैं अनेक भाँति कीन्हीं सेवा,
लखन के मातु कौन कौन गुण मानिये ॥२१॥

शब्दार्थ— पौरिया = द्वारपाल। प्रतिहार = नकीब (सभाद्वार का रक्षक)। तनत्राण = कवच। गुण = उपकार, एहसान।

भावार्थ—राम जी सुमित्रा जी से लक्ष्मण की प्रशंसा करते हैं। अर्थ सरल है। तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण ने हमारी अनेक प्रकार से सेवा की है। जब जहाँ जैसा काम पड़ा वहाँ उसी प्रकार सेवा की है, मैं उनके कौन-कौन कृत्य कहौं।

अलङ्कार—सन्देह से पुष्ट उल्लेख। साध्यवसाना लक्षणा। अति कृतज्ञता व्यंग्य।

मूल—मोटनक छन्द—

शत्रुघ्न विलोकत राम कहैं। डेरान सजौ जहँ सुख लहैं।
मेरे घर संपतियुक्त सबै। सुग्रीवहिं देहु निवास अबै ॥२२॥

शब्दार्थ—संपति = सुखसामग्री, भोग्य वस्तुएँ।

भावार्थ—श्रीराम जी ने शत्रुघ्न को आज्ञा दी कि हमारे साथियों के लिये ऐसे डेरे दो जहाँ सब लोग सब प्रकार का आराम पावें। खास मेरे निवासस्थान में सुग्रीव को ठहराओ और समस्त सुख-सामग्री वहाँ एकत्र कर दो।

नोट—'सुख' शब्द को केशव ने बहुधा सुष रूप से लिखा है।

मूल—

साजे जु भरत्थ सबै जन को। राखौ तहँ जाय बिभीषन को।
नैऋत्यन को कपि लोगन को। राखौ निज धामन भोगन को ॥२३॥

शब्दार्थ—सबै जन = समवयस्क लोगों के ठहराने के लिये। नैऋत्य = निश्चर जो विभीषण के साथ आये थे।

भावार्थ—भरत जी जो मकान मित्रों के ठहराने के लिये सजाये हुए हैं, वहाँ विभीषण को ठहराओ। और निश्चरों तथा अन्य बानरों को अपने स्थान में रक्खो और भोग विलास की सब सामग्री प्रस्तुत कर दो।

मूल—दोहा—

एक एक नैऋत्य को जितने बानर लोग।
आगे ही ठाढ़े रहत अमित इन्द्र के भोग।।२४।।

भावार्थ—राम की आज्ञा पाकर शत्रुघ्न ने सबको यथायोग्य स्थान में ठहराया और ऐसा प्रबन्ध किया कि प्रत्येक निश्चर और बानर के लिये अनेक इन्द्रों की भोगसामग्री प्रस्तुत रहती थी।

अलङ्कार—उदात्त। राम की सम्पत्ति की अधिकता व्यंग्य है।

बाईसवाँ प्रकाश समाप्त

तेईसवाँ प्रकाश

दोहा—या तेइसैं प्रकाश में ऋषिजन आगम लेषि।
राज्यश्री-निंदा कही श्रीमुख राम विशेषि।।

मूल—मल्लिका छंद—

एक काल रामदेव। साधुबंधु कर्त सेव।
सोभिजैं सबै सु और। मंत्रि मित्र ठौर ठौर।। १।।
बानरेश यूथनाथ। लङ्कानाथ बन्धु साथ।
सोभिजै सभा सुवेश। देसदेस के नरेश।। २।।

शब्दार्थ—(१) एक काल = एक समय। साधु बंधु = पवित्र-चरित्र। कर्त—(छन्द के लिहाज से यही रूप रहेगा)। सबै = (स + वय) समवयस्क सखा।

(२) बानरेश = सुग्रीव। यूथनाथ = सेनापति (अंगदादि)। लंकनाथ = विभीषण। बंधु = विभीषण के बंधुवर्ग, अर्थात् राक्षसगण।

भावार्थ—सरल है—अर्थात् एक समय सभा लगी हुई थी, सब एकत्र थे, कि इतने ही में।

मूल—दोहा—

सरस स्वरूप बिलोकि कै उपजी मदनहि लाज।
आइ गये ताही समय केशव रिषि रिषिराज।। ३।।

शब्दार्थ—सरस = अपने से अधिक सुन्दर ।

(ऋषिगण आगमन वर्णन)

मूल—दोहा—

असित अत्रि भृगु अंगिरा, कश्यप गौतम व्यास ।
विश्वामित्र अगस्त्य युत बालमीक दुर्बास ॥ ४ ॥
बामदेव मुनि कण्व युत भरद्वाज मतिनिष्ठ ।
पर्वतादि दै सकल मुनि आये सहित बशिष्ठ ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—असित = एक ऋषि विशेष । मतिनिष्ठ = उत्कृष्ट मति वाले । पर्वत —एक ऋषि विशेष ।

मूल—नागस्वरूपिणी छंद ।

सबन्धु रामचन्द्र जू उठे बिलोकि कै तबै ।
सभा समेत पाँ परे विशेष पूजियो सबै ।
बिवेक सों अनेकधा दए अनूप आसने ।
अनर्घ अर्घ आदि दै बिनै किये घने बने ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—बिबेक सों = विचार-पूर्वक, यथोचित । अनेकधा = अनेक प्रकार के । दए = दिये । अनर्घ = बहुमूल्य । अर्घ = अर्घपाद इत्यादि ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—(राम)—रूपमाला छंद ।

रावरे मुख के विलोकत ही भये दुख दूरि ।
सुप्रलापन ही रहो उर मध्य आनन्द पूरि ॥
देह पावन ह्वै गयो पदपद्म को पय पाय ।
पूजतै भयो वंश पूजित आशु ही मुनिराय ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सुप्रलापनै = सुबचनों से (सुन्दर-सुन्दर वचन सुनकर) पदपद्म को पय = चरणोदक । पय = जल । आशु = तुरंत ।

भावार्थ—(श्रीराम जी सब मुनियों के प्रति कहते हैं) आपके दर्शन होते ही हमारे सब दुःख दूर हो गये । आपके सुन्दर वचन सुनकर हृदय में आनन्द भर गया । आपका चरणोदक पाकर हमारा शरीर

शुद्ध हो गया और हे मुनिराय ! आपको पूजते ही तुरंत हमारा वंश भी पूजित हो गया।

अलङ्कार— हेतु (प्रथम) मुनियों का माहात्म्य व्यंग्य है।

मूल—

> **संनिधान भरे तपोधन ! धाम धी, धन धर्म।**
> **अद्य सद्य सबै भये निरवद्य वासरकर्म।**
> **ईश ! यद्यपि दृष्टि सों भइ भूरि मङ्गल वृष्टि।**
> **पूँछिबे कहँ होति है सु तथापि वाक बिसृष्टि ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ— संनिधान = सामीप्य, संग से। तपोधन = (सम्बोधन में) हे तपोधन ! धाम = घर। धी = बुद्धि। अद्य = आज। सद्य = शीघ्र ही। निरवद्य = अनिंद्य, प्रशंसनीय। वासरकर्म = नित्यकर्म (दान पूजादि-कर्म) ईश = (सम्बोधन में) हे प्रभु ! बिसृष्टि = विशेष उत्पत्ति।

भावार्थ— हे तपोधन ! आपके सामीप्य से (आपके यहाँ आने मात्र से) हमारा घर और हमारी बुद्धि धन और धर्म से भर गये (अर्थात् घर तो धन से भर गया और बुद्धि धर्म से भर गई) और आज हमारे सब नित्यकर्म (दान पूजादि) भी प्रशंसनीय हो गये। हे प्रभु ! यद्यपि आपकी दृष्टि मात्र से हमारे ऊपर कल्याण की वर्षा हो चुकी (सब प्रकार कल्याण हो चुका) तो भी हमें आपसे कुछ पूँछने की इच्छा है, अतः कुछ वचनों की विशेष उत्पत्ति होने वाली है (हम आपसे कुछ प्रश्न करना चाहते हैं)।

अलङ्कार—१—अनुप्रासों की भरमार।
२—धाम, धी, धन, धर्म में यथासंख्य।
३—वृष्टि शब्द से अतिशयोक्ति।
४—'भरे' शब्द से तुल्ययोगिता।

मूल—दोहा—

> **गङ्गासागर सों बड़ो साधुन को सतसङ्ग।**
> **पावनकर उपदेश अति अद्भुत करत अभङ्ग ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ—गंगासागर = गंगा और समुद्र का संगमस्थान जो एक तीर्थ-विशेष माना जाता है। मकर संक्रान्ति को यहाँ मेला लगता है। पावनकर और अद्भुत = ये दोनों शब्द 'उपदेश' के विशेषण हैं। अभंग = अविनाशी अर्थात् मुक्त।

भावार्थ—श्रीराम जी कहते हैं कि साधुओं का सत्संग गंगासागर तीर्थ से भी बड़ा तीर्थ है, क्योंकि साधुओं के उपदेश अति अद्भुत पावनकर हैं केवल उन्हीं उपदेशों से पापियों को पवित्र करके जीवनकाल ही में जीवन्मुक्त बना देते हैं (गंगासागर तीर्थ मरने पर मुक्ति देता है, और गंगासागर कुछ दिन सेवन करने से मुक्ति देता है, साधुसंग केवल क्षणमात्र में और उपदेश मात्र से जीवन्मुक्त बनाता है, इसीसे बड़ा कहा गया है)।

अलंकार—व्यतिरेक।

मूल—(अगस्त्य) -पंचचामर छन्द-

किये बिशेष सों अशेष काज देवराय के।
सदा त्रिलोक-लोकनाथ धर्म बिप्र गाय के॥
अनादि सिद्धि राज सिद्धि राज्य आज लीजई।
नृदेवतानि देवतानि दीह सुक्ख दीजई॥१०॥

शब्दार्थ—विशेष सों = बड़ी योग्यता से। अशेष = सब और सम्पूर्ण। देवराज = इन्द्र। त्रिलोक लोकनाथ = त्रिलोक के निवासियों के स्वामी। अनादिसिद्धि = परम्परा से जो तुम्हारी कई पीढ़ियों से तुम्हारे वंश की है। राजसिद्धि = परम्परागत राजाओं द्वारा सुव्यवस्था में लाई हुई। नृदेवता = राजा।

भावार्थ—(सब मुनियों में से अगस्त्य जी बोले) हे राम जी! आपने इन्द्र के सब काम बड़ी योग्यता से सम्पूर्ण कर दिये और सदैव से आप ही तीनों लोकों के लोगों के तथा धर्म, ब्राह्मण और गायों के स्वामी हो अतः परंपराभुक्त और अनेक राजाओं से सुव्यवस्थित राजपद आज ग्रहण कीजिये, और सब राजाओं और देवताओं को अत्यन्त सुख दीजिये।

अलंकार—तुल्ययोगिता ।

मूल—(दोहा)--

मारे अरि पारे हितू कौन हेत रघुनन्द ।
निरानन्द से देखिये, यद्यपि परमानन्द ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—पारे = पाले । निरानन्द = शोकयुक्त ।

भावार्थ—हे राम जी ! आपने शत्रुओं को मारा है और हित मित्रों को पाला है (सहायता की है) । और यद्यपि आप स्वयं परमानन्द रूप हैं, तो भी हे राम जी ! किस कारण हम तुम्हें शोकयुक्त देखते हैं ।

अलंकार—चौथी विभावना ।

(रामकृत राज्यश्री की निन्दा)

मूल—(श्रीराम)--तोमर छन्द

सुनि ज्ञान-मानस हंस । जप जोग जाग प्रशंस ।
जग माँझ है दुख जाल । सुख है कहा यहि काल ॥ १२ ॥
तहँ राज है दुखमूल । सब पाप को अनुकूल ।
अब ताहि लै ऋषिराय । कहि को न नरकहि जाय ॥ १३ ॥

भावार्थ—(श्रीराम जी अगस्त्य जी को उत्तर देते हैं कि) हे ! ज्ञान-रूपी मानसरोवर के हंस (परम विवेकी) और जप, योग, और यज्ञादि कर्मों द्वारा प्रशंसा पाये हुए ऋषिराज जी, सुनिये इस जग में बड़ा दुःख है. इसमें इस समय सुख क्या है ? (कुछ भी नहीं है) । तहाँ राज्य तो और भी दुःखों की जड़ ही है, क्योंकि सब तरह के पापों के लिये अनुकूल शक्ति देता है । हे ऋषिराज ! उसे लेकर कौन ऐसा है जो नरक को न जाय (राज्य लेकर सब ही नरक जाते हैं) ।

अलंकार—(छन्द १२ में) परम्परित रूपक और वक्रोक्ति ।
(छन्द १३ में) काकु वक्रोक्ति ।

मूल—(जयकरी छन्द)*

सोदर मंत्रिन के जु चरित्र। इनके हमपै सुनि मखमित्र।
इनही लगे राज के काज। इनही ते सब होत अकाज ॥१४॥

शब्दार्थ—सोदर = भाई। हमपै = हमसे (यह बुन्देलखंडी मुहावरा है)। मखमित्र = ऋषि। इन्हीं......काज = इन्हीं के वास्ते राज्यकार्य किया जाता है अर्थात् भाइयों तथा मंत्रियों के सुख के वास्ते ही तो राज्यभार ग्रहण किया जाता है।

भावार्थ—हे मुनि ! राज्य लेकर भाइयों और मन्त्रियों के जैसे चरित्र हो जाते हैं (सो इनके चरित्र) हमसे सुन लीजिये। इन्हीं के सुख और आनन्द के लिये तो राज्यभार वहन किया जाता है, और इन्हीं के द्वारा सब प्रकार का अनर्थ होता है (उदाहरण सुनिये)।

मूल— राज भार नल भैयहि दीन। छल बल छीनि सबै तेहि लीन।
जब लीनो सब राज विचारि। नल दमयंतिहि दीन निकारि ॥१५॥

भावार्थ—राजा नल ने (सतयुग में) अपने राज्य का सब भार प्रेमवश अपने छोटे भाई पुष्कर को सौंप दिया था, उसने छल के बल से (जुवा में) सारा राज्य ही छीन लिया, तब निकट रखना अनुचित विचार कर सपत्नीक राजा नल को राज्य से निकाल दिया।

मूल—राजा सुरथराज की गाथ। सौंपी सब मन्त्रिन के हाथ।
संतत मृगयालीन बिचारि। मंत्रिन राजहि दियो निकारि ॥१६॥

शब्दार्थ—राजा सुरथ = दुर्गासप्तशती में देख लो। गाथ = कथा। संतत = सदैव। मृगया = शिकार।

भावार्थ—राजा सुरथ के राज्य की यह कथा है कि राजा सुरथ ने अपने राज्य का समस्त प्रबन्ध मन्त्रियों को सिपुर्द कर दिया था और आप

---

*जयकरी छन्द १५ मात्रा का होता है। अन्त में गुरु लघु होने चाहिये। चौबोला छन्द भी १५ मात्रा का होता है; पर अन्त में लघु गुरु होने चाहिये। इस प्रकार कई छन्दों में इन दोनों का मिश्रण है। लेखकों ने उसे चौपाई छन्द लिखा है, पर हमने उसे जयकरी ही लिखा है।

सदैव शिकार में लगे रहते थे। मन्त्रियों ने उन्हें राज्य-प्रबन्ध से अनभिज्ञ समझ कर राज्य से निकाल दिया था।

मूल—राजश्री अति चंचल तात। ताहू की सुन लीजै बात।
यौवन अरु अबिबेकी रङ्ग। बिनस्यो को न राजश्री संग ॥१७॥

शब्दार्थ—राज्यश्री = राजवैभव। यौवन = जवानी। अविवेकी रंग = बद-तमीज़ लोगों का संग (पाकर)।

भावार्थ—हे प्रिय ऋषिवर! अति चंचल (अस्थिर) राजवैभव की दशा भी सुन लीजिये। राजवैभव पाकर युवावस्था तथा अविवेकी जनों का संग पाकर कौन नहीं नष्ट हो गया? (तुलना कीजिये)—"यौवन धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता"।

अलंकार—वक्रोक्ति।

मूल—शास्त्र सुजल हू धोवत तात। मलिन होत अति ताके गात।
यद्यपि है अति उज्वल दृष्टि। तदपि सृजति रागन की सृष्टि ॥१८॥

शब्दार्थ—सृजति = पैदा करती है। राग = प्रेम (विषयों का)।

भावार्थ—शास्त्र रूपी जल से धोते हुए भी उस राजश्री के अंग मलीन ही होते जाते हैं अर्थात् नीतिशास्त्रादि पढ़ते सुनते रहने पर भी राज-वैभवजनित दुष्टाचार होते ही रहते हैं, और यद्यपि राजश्री की दृष्टि अति उज्ज्वल होती है तो भी अनेक प्रकार के रोग पैदा करती है. अर्थात् यद्यपि राजा लोग विद्याद्वारा खूब चतुर और दूरदर्शी हो जाते हैं, तो भी उनकी प्रवृत्ति परमार्थ की ओर न जाकर सांसारिक विषयों की ओर ही अधिक जाती है।

अलंकार—रूपक, विषम (तीसरा), और उत्तरार्द्ध में विषमा (दूसरा),

मूल—महापुरुष सों जाकी प्रीति। हरति सो झंझा मारुत रीति।
विषवयमरीचिकानि की ज्योति। इन्द्रयी हरिन हारिणी होति ॥१९॥

शब्दार्थ—महापुरुष = ईश्वर। झंझामारुत = तेज वायु। हरहित = तोड़ती है। मरीचिका = मृगतृष्णा। हारिणी = ले जाने वाली, खींचने वाली।

भावार्थ—जैसे तेज हवा वृक्षादि को तोड़ती है वैसे ही यह राजश्री ईश्वर-

प्रीति को तोड़ती है, और यह राजश्री इन्द्रीरूपी मृगों विषय-मृग-तृष्णा की ज्योति की ओर खींच ले जाती है।

अलंकार—उपमा, रूपक।

मूल—गुरु के वचन अमल अनुकूल। सुनत होत श्रवणन को शूल।
मैनबलित नव बसन सुदेश। भिदत नहीं जल ज्यों उपदेश ॥२०॥

शब्दार्थ—शूल = दुःख। मैन = मोम। मैनबलित = मोम में डुबाया हुआ।

भावार्थ—गुरु के विवेकयुक्त और यथार्थ वचन सुनकर कानों को कष्ट होता है, और गुरु का उपदेश चित्त में नहीं समाता जैसे मोम में डुबाए हुए नवीन और सुन्दर वस्त्र में जल नहीं भिदता (जैसे मोम-जामे में पानी असर नहीं करता वैसे ही राजा के मन में उपदेश कुछ प्रभाव नहीं डालता)।

अलङ्कार—उदाहरण।

मूल—मित्रनहू को मतो न लेति। प्रतिशब्दक ज्यों उत्तर देति।
पहिले सुनै न शोर सुनन्ति। मातीकरिणी ज्यों न गनंति ॥२१॥

शब्दार्थ—प्रतिशब्दक = देवालय वा कूपादिक में शब्द करने पर जो शब्द तुरन्त सुनाई पड़ता है। न गनति = नहीं मानती।

भावा—राजश्री (अर्थात् राजा लोग) मित्रों का भी मत नहीं मानती और प्रतिशब्दक की भाँति तुरन्त उत्तर देती है। पहले तो हित वचन राजा लोग सुनते ही नहीं, और यदि शोर करने पर सुन भी लिया तो जैसे मस्त हथिनी महावत के हित वचन नहीं मानती वैसे ही राजा भी मित्रों के हित वचन नहीं मानते।

अलङ्कार—उदाहरण।

मूल—दोहा—

धर्म बीरता विनयता, सत्य शील आचार।
राज-श्री न गनै कछू, वेद पुराण विचार ॥२२॥

शब्दार्थ—(नोट)—विनयता = इस शब्द में 'ता' प्रत्यय अधिक है,

केवल 'विनय' शब्द से काम चल जाता। विशेषणों में 'ता' प्रत्यय लगता है।

भावार्थ—राजश्री धर्म, वीरता, नम्रता, सत्य, शील, आचार और तथा पुराणों के सुन्दर विचारों को कुछ भी नहीं समझती।

अलङ्कार—तुल्ययोगिता।

मूल – जयकरी छन्द।

सागर में बहु काल जु रही। सीत बक्रता ससि ते लही।
सुर तुरंग चरननि ते तात। सीखी चंचलता की बात ॥२३॥

शब्दार्थ—सुरतुरंग=उच्चैःश्रवा घोड़ा।

नोट—इस छन्द का पूर्वार्द्ध भाग चौबोला छन्द का अंश है, उत्तरार्द्ध जयकरी है, ऐसा ही कई एक छन्दों में है।

भावार्थ—चूँकि यह लक्ष्मी बहुत काल तक समुद्र में रही है, अतः संगति के कारण सर्दी (सर्दमिजाजी, बेमुरौवती) और कुटिलता चन्द्रमा से पाई है और उच्चैःश्रवा के चरणों से चंचलता सीखी है।

अलङ्कार—उल्लास (तीसरा)

मूल—काल कूट ते मोहन रीति। मणिगण ते अति निष्ठुर प्रीति।
मदिरा ते मादकता लई। मन्दर उदर भई भ्रम मई ॥२४॥

शब्दार्थ—कालकूट = हलाहल विष। मोहनरीति = बेसुध करना।

नोट—इन छन्दों में कहीं कहीं जयकरी और चौबोला छन्द का मिश्रण पाया जाता है।

भावार्थ—इस लक्ष्मी ने समुद्र में साथ रहने के कारण बेसुध कर देने का गुण कालकूट से सीखा, मणिगण से प्रीति में भी अति निष्ठुरता का गुण सीखा (अर्थात् राजा लोग बहुधा अपने प्रिय के भी भयंकर शत्रु हो जाते हैं), मदिरा से मादकता का गुण लिया, और समुद्र के उदर में मन्दराचल पर्वत को घूमते देख उससे भ्रमनिमग्नता सीखी (राजा लोग सदैव भ्रमनिमग्न रहते हैं)।

अलङ्कार—उल्लास (तीसरा)।

मूल—दोहा—

शेष दई बहुजिह्वता बहुलोचनता चारु।
अप्सरान ते सीखियो अपर पुरुष संचारु ॥२५॥

शब्दार्थ—बहुजिह्वता—बहुत सी बातें करने की शक्ति, अर्थात् कहना कुछ और करना कुछ और जब पूछा जाय कि ऐसा क्यों ? तब अपनी कही हुई बात का कुछ और अर्थ कर देना। बहुलोचनता = सब ओर दृष्टि रखना।

भावार्थ—इस लक्ष्मी को शेषनाग ने अनेक प्रकार की बातें बनाने की शक्ति और सब ओर दृष्टि रखने की शक्ति दी है, और इसने अप्सराओं से अन्य पुरुषों के पास जाने का दुर्गुण सीखा है।

अलङ्कार—उल्लास (तीसरा)।

मूल—जयकरी छंद।

दृढ़ गुन बाँधे हू बहुभाँति। को जानै केहि भाँति बिलाति।
गज घोटक भट कोटिन अरैं। खङ्गलता पंजर हू परैं ॥२६॥
अपनाइति कीन्हें बहु भाँति। को जानै कित ह्वै भजि जाति।
धर्म-कोश मण्डित सुभ देस। तजति भ्रमरि ज्यों कमल नरेस। २७॥

नोट—यहाँ दोनों छन्दों का अन्वय एक साथ होता है।

शब्दार्थ—(२६) गुन = (गुण) गुण और रस्सी (इस शब्द में श्लेष है) घोटक = घोड़ा। अरैं = रोकें। खंगलता = तलवार (यहाँ रूपक है) पंजर हू परैं = पिंजड़ा बना दिया जाय।

(२७) अपनाइति = प्रीति ! धर्मकोशमंडित = धर्म और धन से युक्त राजा (और कमल का धर्म कोमलता तथा करहाटक से युक्त कमल)। सुभ देस = सुन्दर (रुप से) और अच्छे स्थान में लगा हुआ (कमल)। भ्रमरि = भौंरी।

भावार्थ—(२६) अनेक प्रकार से मज़बूत रस्सी से बाँधने पर भी (राजा के अनेक गुणयुक्त होने पर भी) कौन जाने यह राजलक्ष्मी किस तरह विलीन हो जाती है और चाहे करोड़ों हाथी-घोड़े उसे

रोकें और तलवार रूपी लता से चारों ओर पिंजड़ा सा बना दिया जाय (कितनी ही रक्षा की जाय)।

(२७) और बहुत तरह से उससे प्रीति की जाय, तो भी यह लक्ष्मी न जाने कहाँ होकर भाग जाती है। राजधर्म में सुपंडित धनसम्पन्न और सुन्दर राजा को यह लक्ष्मी वैसे ही त्याग जाती है जैसे कोमल, सुन्दर, करहाटक युक्त और सुन्दर स्थान में उत्पन्न कमल को भौंरी त्याग जाती है (त्याग कर दूसरे कमल पर जाती है)।

नोट—धर्ममंडित, कोशमंडित और शुभदेश शब्द क्लिष्ठ हैं। इनका क्लिष्टार्थ कमल पर भी लगेगा और राजा पर भी और कमल-नरेश में रूपक है। अतः—

अलङ्कार—(दोनों छन्दों में) श्लेष और रूपक।

मूल—यद्यपि होय शुद्ध मति सत्तु। फिरै पिशाची ज्यों उनमत्तु।
गुनवन्तनि आलिंगति नहीं। अपवित्रनि ज्यों छाँड़ति तहीं ॥२८॥

शब्दार्थ—सत्तु = प्राणी, मनुष्य। उनमत्तु = मदमस्त। तहीं = तुरन्त।

भावार्थ—प्राणी चाहे पहले शुद्धमति वाला हो, पर राजलक्ष्मी पाने पर वह उन्मत्त पिशाचिनी सा हो जाता है। राजलक्ष्मी गुणवानों से मेल नहीं रखती, उन्हें इस प्रकार त्यागती है जैसे अपवित्र वस्तु त्यागी जाती है।

अलङ्कार—उपमा।

मूल—सूरनि नाकति ज्यों अहि देखि। कंटक ज्यों बहु साधुनि लेखि।
सुधा सोदरा यद्यपि आप। सब ही त अति कटुक प्रताप ॥२९॥

शब्दार्थ—नाकति = लाँघ जाती है। कंटक = बाधक। सोदरा = बहिन !

भावार्थ—जैसे कोई मनुष्य रास्ते में पड़े हुए सर्प को देख कर उस पर पैर नहीं रखता, वरन् उसे लाँघ जाता है उसी प्रकार राजलक्ष्मी शूर-वीर पुरुषों को लाँघ जाती है (उन्हें नहीं मिलती) और अनेक साधु पुरुषों को तो बाधक ही समझती है अर्थात् शूर और साधु पुरुषों को राजलक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। यद्यपि स्वयं अमृत की

सहोदरा बहिन है, तो भी अन्य सब बहनों से इसका प्रताप अत्यन्त कटु है।

अलंकार—(पूर्वार्द्ध में) उपमा (उत्तरार्द्ध में) विरोधाभास और अवज्ञा का सङ्कर।

मूल—यद्यपि पुरुषोत्तम की नारि। तदपि सकल खलजन अनुहारि।
हितकारिन की अति द्वेषिनी। अहित लोग की अन्वेषिनी ॥३०॥

शब्दार्थ—पुरुषोत्तम = विष्णु। खलजन अनुहारि = खलों के स्वभाव वाली (कर्कशा)। द्वेषिनी = शत्रु। अन्वेषिनी = ढूँढ़ने वाली।

भावार्थ—यद्यपि यह लक्ष्मी विष्णु भगवान की स्त्री है तो भी इसका स्वभाव खलों का-सा है। हितकारी लोगों से अति शत्रुता मानती है, और अहितकारी लोगों को ढूँढ ढूँढ कर संग्रह करती है।

अलंकार—विरोधाभास।

मूल—मनमृग को सुबधिक की गीति। विषयबेलि को बारिदरीति।
मद पिशाचिका की सी अली। मोह नींद की शय्या भली ॥३१॥

शब्दार्थ—गीति = रागिनी (गान)। वारिद = बादल। अली = सखी।

भावार्थ—मनरूपी मृग को मोहित करने के लिये राजलक्ष्मी बधिक की रागिनी है, विषयरूपी बेलि को बढ़ाने के लिये बादल सम है, मद-रूपी पिशाचिनी की सखी सम (सहायिका) है और मोहरूपी निद्रा के लिये सुन्दर (मुलायम) सेज ही है।

अलंकार—परम्परित रूपक।

मूल—आशीविष दोषन की दरी। गुरु सतपुरुषन कारण छरी।
कल हंसन की मेघावली। कपट नृत्यकारी की थली ॥३२॥

शब्दार्थ—आशीविष = सर्प। दरी = गुफा। छरी = साँटी। कल = चैन, आराम, सुख। थली = नाट्यशाला, रंगस्थल।

भावार्थ—दोषरूपी सर्पों के रहने के लिये राजश्री गुफा है, गुणरूपी सत्पुरुषों के लिये दण्डकारिणी साँटी है, आराम चैन रूपी हंसों के लिये मेघमाला है, और कपट-नट की नाट्यशाला है अर्थात् राजाओं

में अनेक दोष रहते हैं, सत्पुरुष उनके पास नहीं फटकते, कभी आराम चैन नहीं मिलता, और अति कपट करना पड़ता है।

अलंकार--परम्परित रूपक।

मूल—दोहा—

बाम काम करिको किधौं कोमल कदलि सुवेष।
धीर धर्म द्विजराज को मनहु राहु की रेख ॥३३॥

शब्दार्थ—वाम=कुटिल। कामकरि=कामरूपी हाथी। कदली=केला। सुवेष=सुन्दर। द्विजराज=चन्द्रमा। राहु की रेख=राहु की कला।

भावार्थ--किधौं यह राजलक्ष्मी कुटिल कामरूपी हाथी के लिये सुन्दर कोमल कदली वृक्ष है, अथवा धीरज और धर्मरूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिये राहु की कला है (अर्थात् राजश्री के अहंकार से राजा लोग कामी और अधर्मी हो जाते हैं)।

अलंकार--परंपरित रूपक से पुष्ट सन्देह।

मूल—चौबोला छन्द—

मुख रोगी ज्यों मौने रहै। बात बनाय एक द्वै कहै॥
बन्धु वर्ग पहिचानै नहीं। मानो सन्निपात की गही ॥३४॥

शब्दार्थ--बनाय=दिखाऊ रीति से, हृदय सेवा प्रेम से नहीं। सन्निपात=त्रिदोष।

भावार्थ--राजलक्ष्मी से प्रभावित राजा मुखरोगी की तरह सदा मौन ही रहता है (किसी से बात नहीं करता) और यदि कहीं कुछ कहने का अवसर ही आजाय तो दो एक बात दिखाऊ रीति के कह देता है (हृदय से नहीं) और अपने बन्धु-वर्ग तक को नहीं पहचानता, मानो उसकी बुद्धि को सन्निपात ने ग्रस लिया हो।

अलंकार--उपमा और उत्पेक्षा।

मूल—

महामन्त्रहू होत न बोध। डसी काल अहि करि जनु क्रोध॥
पानविलास उदित आतुरी। परदारा गमनै चातुरी॥ ३५॥

शब्दार्थ--पानविलास=शराब पीने का शौक। उदित=प्रकट, प्रत्यक्ष। आतुरी=शीघ्रता, फुर्ती। गमन=समागम, रति-संभोग।

भावार्थ--महामन्त्र से भी उनको चैतन्यता नहीं आती, मानो कालसर्प ने क्रोध से डस लिया हो। उनकी फुर्ती केवल मद्यपान में ही प्रकट होती है और परस्त्री समागम को ही वे बड़ी चतुराई समझते हैं।

अलंकार--उत्प्रेक्षा और परिसंख्या।

मूल—चौबोला—

मृगया यहै सूरता बढ़ी। बन्दी मुखनि चाय सों पढ़ी।
जो केहू चितवै यह दया। बात करै तो बड़ियै मया ॥३६॥

भावार्थ--उनकी बढ़ी हुई शूरता यही है कि वे कुछ शिकार कर लेते हैं, जिसकी प्रशंसा बन्दीजनों के मुखों द्वारा चाव से पढ़ी जाती है। यदि किसी की ओर ज़रा हेर दिया बस यही बड़ी भारी दया है, और यदि किसी से कुछ वार्त्ता कर ली तो समझते हैं कि हमने उस पर बड़ी भारी ममता की है। (तात्पर्य यह कि राजा लोग अपने किए हुए अति तुच्छ कामों को भी बड़ा महत्त्व देते हैं)।

अलंकार—निदर्शना।

मूल—दर्शन दीबोई अति दान। हँसि बोलै तो बड़ सनमान।
जो केहू सों अपनो कहै। सपने की सी सम्पति लहै ॥३७॥

नोट—इस छन्द में पूर्वार्द्ध 'जयकरी' और उत्तरार्द्ध चौबोला छन्द है।

शब्दार्थ--दीबोई=देना ही। सपने की सी सम्पति=बड़ी भारी सम्पत्ति।

भावार्थ--राजा लोग किसी को दर्शन देना ही बड़ा भारी दान देना समझते हैं, यदि किसी से हँसकर बोल दिया, तो मानों उसका बड़ा भारी सन्मान कर डाला। यदि किसी को अपने मुख से "तुम तो अपने हो" ऐसा कह दिया, तो वह जन इतना प्रसन्न हो जाता है मानो भारी सम्पत्ति मिल गई।

अलंकार—निदर्शना।

मूल—दोहा—

जोई अति हित की कहै, सोई परम अमित्र ।
सुखवक्ता ई जानिये, संतत मन्त्री मित्र ॥३८॥

शब्दार्थ—अमित्र = शत्रु । सुखवक्ता = ठकुरसोहाती कहने वाला, चापलूस ।

भावार्थ—राजश्री के प्रभाव से राजा का ऐसा स्वभाव हो जाता है कि जो जन परम हित की बात कहता है वही परम शत्रु माना जाता है, और चापलूस लोग ही सदा मन्त्री और मित्र माने जाते हैं ।

अलंकार—निदर्शना ।

मूल—

कहौं कहाँ लगि ताके साज । तुम सब जानत हौ ऋषिराज ।
जैसी शिव मूरति मानिये । तैसी राजश्री जानिये ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—साज = प्रभाव । शिवमूरति = बड़ी बिकट वा अद्भुत सेवा बन पड़े तो 'आशुतोष' नहीं तो संहारक ।

भावार्थ—हे ऋषिराज ! तुम तो सब जानते ही हो, मैं राजश्री का विकट अद्भुत प्रभाव कहाँ तक कहूँ । राजश्री ठीक शिव के समान है ।

नोट—शिव और राजश्री की समता आगे के छन्द में देखिये ।

अलंकार—उपमा ।

मूल—

सावधान ह्वै सेवै याहि । साँचो देत परम पद ताहि ।
जितने नृप याके बश भये । पेलि स्वर्ग मग नरकहिं गये ॥४०॥

शब्दार्थ—सावधान = होशियार । परमपद = मुक्ति । पेलि = त्याग कर ।

भावार्थ—सावधान होकर जो जन इस राजश्री का सेवन करते हैं उन्हें यह राजश्री (शिव की तरह) सच्ची मुक्ति पदवी देती है, और असावधानी से जितने राजा इस राजश्री के बुरे प्रभाव से प्रभावित हुए; वे सब (बेणु त्रिशंकु इत्यादि) स्वर्गमार्ग को त्याग कर नरकगामी ही हुए हैं—(अतः हम राजपद ग्रहण न करेंगे) ।

ते सवाँ प्रकाश समाप्त

चौबीसवाँ प्रकाश

—:*:—

दो०—चौबीसवें प्रकाश में राम विरक्ति बखानि।
विश्वामित्र वशिष्ठ स्यों बोध कर्यो शुभ आनि॥

शब्दार्थ—विरक्ति = विराग, सांसारिक पदार्थों के प्रति उदासीन भाव। स्यों = सहित। बोध कर्यो = समझाया।

(रामविरक्ति वर्णन)

मूल—(राम) अमृतगति छन्द।

(लक्षण—नगण, जगण, नगण + एक गुरु)

सुमति महा मुनि सुनिये। जग महँ सुक्ख न गुनिये।
मरणहिं जीव न तजहीं। मरि मरि जन्म न भजहीं॥१॥

शब्दार्थ—जन्म न भजही = जन्म धारण करते हैं।

भावार्थ—हे सुन्दरमति वाले महामुनियो! सुनो, (राजश्री तो दुःखदायी है ही) इस संसार में कोई भी सुख नहीं है। इस संसार में जितने जीव हैं, उनका जन्म-मरण नहीं छूटता, बार-बार मरते हैं और पुनः जन्म लेते हैं (जन्म-मरण का चक्र चला ही जाता है)।

मूल—उदरनि जीव परत हैं। बहु दुःख सों निसरत हैं।
अंतहु पीर अनत ही। तन उपचार सहित ही॥२॥

शब्दार्थ—उदरनि = गर्भ में। निसरत हैं = निकलते हैं, जन्मते हैं। अनत (अन्यत्र) दूसरी जगह अर्थात् शरीर सम्बन्ध में। तन उपचार = शारीरिक व्यवहार में अर्थात् खाते-पीते, चलते-फिरते।

भावार्थ—जीव गर्भ में आते हैं (तब गर्भ में कष्ट होता है) और बड़े कष्ट से उस गर्भ से बाहर होते हैं (तब) शरीर सम्बन्धी व्यवहारों में पड़कर अंत में कष्ट सहते हैं।

(बचपन के व्यवहारजनित दुःख)

मूल—(दोधक छन्द)—(लक्षण—तीन भगण, दो गुरु)

पोच भली न कछू प्रिय जानैं। लै सब बस्तुन आनन आनै।
शैशव ते कछु होत बड़े ई। खेलत हैं ते अयान चढ़े ई ॥३॥

शब्दार्थ—पोच = बुरी। आनन आनै = मुख में डाल लेते हैं। शैशव = बचपन। ई = ही। अयान = अज्ञान, नासमझी।

भावार्थ—जीव (बचपन में) भली-बुरी वस्तु को नहीं जानता, सब ही वस्तु लेकर मुख में डाल लेता है। बचपन से कुछ बड़े होते ही, अज्ञान वश केवल खेल ही में लगे रहते हैं (खेल से थकते नहीं, जैसे सवारी पर चढ़ा मनुष्य थकता नहीं)।

मूल—

हैं पितु मातन तें दुख भारे। श्रीगुरु ते अति होत दुखारे।
भूख न प्यास न नींद न जोवैं। खेलन को बहु भाँतिन रोवैं ॥४॥

अन्वय—भूख न······जोवैं = भूख न जोवैं, प्यास न जोवैं, नींद न जोवैं।

शब्दार्थ—भारे = बड़े। दुखारे = दुखी। न जोवैं = नहीं गिनते, ध्यान नहीं देते।

भावार्थ—पिता-माता से बड़े दुःख पाते हैं (जब पिता-माता किसी काम के करने से हटकते हैं तब दुःखी होते हैं) और श्रीगुरु जी से (शिक्षण समय में) अति दुखित होते हैं। भूख, प्यास, नींद को कुछ नहीं गिनते, केवल खेल के लिये रोते हैं (पटकने पर)।

(जवानी के व्यवहार जनित दुःख)

मूल—

जारति चित्त चिता दुचिताई। रोह त्वचा अहि कोप चबाई।
कामसमुद्र झकोरनि भूल्यो। यौवन चोर महामद भूल्यो ॥५॥

शब्दार्थ—दुचिताई = द्विविधा, संशय।

भावार्थ—युवावस्था में संशयरूपी चिता चित्त को चबाती है (मन की चंचलता के कारण प्रत्येक व्यवहार में संशय रहता है और उससे दुःख होता है) और क्रोध रूपी बड़ा सर्प त्वचा को चबाता है (व्यवहार में बाधा पड़ने पर क्रुद्ध हो उठता है और क्रोध में इतना बेहोश हो जाता है जितना

सर्प डसा हुआ मनुष्य) कामरूपी समुद्र की तरल तरंगों में चंचल रहता है, और यौवन के बल के महामद में बेहोश रहता है।

अलंकार - रूपक।

मूल —

धूम से नील निचोलनि सोहै। जायं छुई न विलोकत मोहै।
पावक पापशिखा बड़ वारी। जारति है नर को परनारी ॥६॥

शब्दार्थ—निचोल = कपड़ा। मोहै = बेहोश कर देती है। पापशिखा बड़वारी = पाप की बड़ी-बड़ी लपटों वाली (जिससे पाप ही की बड़ी बड़ी लपटें उठती हैं)। परनारी = परस्त्री, परकीया।

भावार्थ- धुएँ के समान नीलाम्बर से सुशोभित परनारी रूपी अग्नि पाप की बड़ी-बड़ी लपटों वाली होने के कारण (युवावस्था में) नर को जलाया करती है, लोक-मर्यादा के कारण उसे छू नहीं सकते, पर वह देखने ही से मूर्च्छित कर देती है (अग्नि में जलने से मूर्च्छित होता है, पर यह परनारीरूपी अग्नि बड़ी-बड़ी पाप लपट वाली होने के कारण दूर से देखते ही मनुष्य को मूर्च्छित करती है।

अलङ्कार—उपमा, व्यतिरेक और रूपक का उत्तम मिश्रण है।

मूल—

बंक हियेन प्रभा सँरसी सी। कर्दम काम कछू परसी सी।
कामिनि काम की डोरि ग्रसी सी। मीन मनुष्यन की बनसी सी ॥७॥

शब्दार्थ—बंकहियेन प्रभा = कुटिल हृदयों की चमक दमक अर्थात् 'खरी कुटिलता'। सँरसी = (सँड़सी) बनसी में लगी हुई लोहे की कँटिया जिसमें चारा लगाया जाता है। कर्दम = माँस का चारा जो कँटिया में लगाया जाता है। काम कछू = थोड़ी सी गुप्त कामेच्छा। परसी = लगी हुई। ग्रसी सी = पकड़ी हुई सी। काम = कामदेव।

नोट—इस छन्द में कामदेव की शिकारी से, स्त्री की बनसी से और मनुष्यों की मीन से उपमा है।

भावार्थ—स्त्रियों के कुटिल हृदयों की प्रभा अर्थात् खरी कुटिलता ही कँटिया (बनसी में लगा लौहकंटक) के समान है, उनके हृदय की गुप्त कामेच्छा

ही उस कँटिया में लगा हुआ माँस का चारा है और कामिनी (स्त्री का समस्त शरीर) ही डोरी के समान है जिसे कामदेव शिकारी अपने हाथ से पकड़े हुए है। इस प्रकार स्त्री, मनुष्यरूपी मीनों को फँसाने के लिये पूर्णतया बनसी के समान ही है (अर्थात् कामशिकारी मनुष्यरूपी मीनों को स्त्री रूपी बनसी से फँसा-फँसाकर मारा करता है)।

अलंकार—उपमा।

मूल—मत्तगयंद सवैया—(लक्षण—सात भगण और दो गुरु)
खैंचत लोभ दसौं दिसि को गहि मोह महा इत फाँसिहि डारे।
ऊँचे ते गर्व गिरावत, क्रोधहु जीवहि लूहर लावत भारे।
ऐसे में कोढ़ की खाज ज्यों केशव मारत कामहु बाण निनारे।
मारत पाँच करे पँचकूटहि कासों कहैं जगजीव बिचारे ॥८॥

शब्दार्थ—इत = इस संसार में। लूहर = लूक, लुआठ (जलता अंगारा)। कोढ़ की खाज = दुःख पर और दुःख देने वाली वस्तु वा घटना। निनारे = (न्यारे) अनोखे, चोखे। पंचकूट = पाँच व्यक्तियों का समूह, पाँच जन मिल कर। विचारे = अनाथ, सहायक हीन।

भावार्थ—इस संसार में यह हाल है कि महामोह (स्त्री-पुत्रादि प्रति राग) की फाँसी से गला फँसाये लोभ देव मनुष्य को दसों दिशाओं को खींचते हैं (अर्थात् मोह में पड़ा मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की परवरिश के लिये धन कमाने के हेतु इधर-उधर मारा-मारा फिरता है)। गर्व उसे उच्च पदवी से नीचे गिरा देता है, और क्रोध उसी जीव को बड़े-बड़े जलते अंगारों से जलाता है। इतने दुःखों पर कोढ़ की खाज की तरह (और अधिक दुःख देने को) कामदेव भी अनोखे चोखे बाण भी मारते हैं। इस प्रकार जीव को ये पाँच लुटेरे (लोभ, मोह, गर्व, क्रोध और काम) समूह बनाकर (पृथक पृथक नहीं, पाँचो एकत्र होकर एक ही समय अर्थात् युवावस्था में) मारते हैं, तो जीवधारी विचारे अपना दुःख किससे कहैं।

अलंकार—लोकोक्ति (कोढ़ में खाज)।

मूल—भूलत है कुलधर्म सबै तबहीं जबहीं यह आनि ग्रसै जू।
केशव बेद पुराणन को न सुनै, समुझै न, त्रसै न, हँसै जू।

देवन तें नरदेवन तें नर तें बर बानर ज्यों बिलसै जू।
यंत्र न मंत्र न मूरि गनै जगजीवन काम पिशाच बसैजू ॥९॥

शब्दार्थ—गह = काम । ग्रसै = पकड़ता है। हँसै = हँसी उड़ाता है। नरदेव = राजा। बानर सम बिलसै = पशुवत् व्यवहार करता है।

भावार्थ—यौवनावस्था में जब काम आ ग्रसता है तब तुरन्त मनुष्य अपने कुल-धर्म को भूल जाता है. (केशव कवि कहता है कि) वेदों और पुराणों के उपदेश तो वह सुनता नहीं, वरन् निंदा करके उनकी हंसी उड़ाता है देवताओं से राजाओं से और मनुष्यों से पशुवत व्यवहार करता है। जब जगजीवों के सिर पर काम--पिशाच आ बसता है, तब यत्र, मंत्र, जड़ी, बूटी किसी की भी कानि नहीं मानता।

अलङ्कार—रूपक

मूल—

ज्ञानिन के तनत्राणनि को कहि फूल के बाननि बेधत को तो।
बाय लगाय बिबेकिन को, बहु साधक को कहि बाधक हो तो।
और को केशव लूटतो जन्म अनेकनि के तपसान को पोतो।
तौ शमलोक सबै जग जातो जु काम बड़ो बटमार न हो तो ॥१०॥

शब्दार्थ—तनत्राण = कवच (ज्ञानरूपी कवच)। कहि = कहिये. बतलाइये। को तो = कौन ऐसा था बाय लगाना-अहंकारी बना देना, अविवेकी बना देना। तपसा = तपस्या, तप। पोतो = (पोत) लगान, उपज का फल। शमलोक = शान्तिलोक, स्वर्ग। बटमार = लुटेरा।

भावार्थ—(श्रीराम जी विश्वामित्र और वशिष्ठ जी को संबोधित करके कहते हैं कि) आप ही कहिये कि यदि काम नामक यह भारी डाकू न होता तो ऐसा कौन था जो ज्ञानियों के ज्ञान कवच को फूल के बाणों से बेध सकता, विवेकियों को अविवेकी बनाता और अनेक मुक्तिसाधकों के साधनों में बाधक हो सकता। और कौन ऐसा था जो अनेक जन्मों की तपस्या के फल को लूट लेता, यदि यह भारी डाकू काम न होता तो सभी संसारी जीव स्वर्ग को ही जाते।

नोट—किसी प्रति में शमलोक' के स्थान में 'मम लोक' पाठ है। पर हमारी सम्मति में 'शमलोक' ही पाठ शुद्ध है, क्योंकि 'मम लोक' पाठ

से यह स्पष्ट विदित होता है कि राम जी अपना ईश्वरत्व प्रकट करते हैं, पर यह बात राम जी स्वयं न कहेंगे, क्योंकि पचीसवें प्रकाश के अन्तिम दोहे में वे स्वयं कहते हैं:—

'मोहि न हुतो जनाइबो सबही जान्यो आज"।

अलंकार- रूपक।

(वृद्धावस्थाजनित दुःखवर्णन)

मूल (मकरंद सवैया)—(लक्षण—७ जगण+यगण)

कँपै उर बानि डगै बर डीठि त्वचाऽति कुचै सकुचै मति बेली।
नवै नवग्रीव थकै गति केशव बालक ते सँगही सँग खेली॥
लिये सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा का सहेली।
भगै सब देह दशा, जिय साथ रहै दुरिदौर दुराश अकेली॥११॥

शब्दार्थ—कँपै उरबानि=उरसे कंठ तक आते-आते वाणी कँप जाती हैं अर्थात् उर से जो कहना चाहती है उसका उच्चारण कंठ से स्पष्ट नहीं होता। त्वचाऽति कुचै=खाल अति ढीली पड़ जाती है और झुरियाँ पड़ जाती है। सकुचै=सिकुड़ जाती है। ग्रीव=गर्दन। गति=चलने की शक्ति। आधि= मानसिक व्यथा (चिंता, शोक, संशय, आशंका इत्यादि)। व्याधि=शारीरिक रोग। जरा=बृद्धावस्था ज्वर=मृत्यु। भगे सब देह दशा=शरीर के सब ही अंगों की स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है। दुराशा=ऐसी आशा जो उसके लिये उचित न थी।

भावार्थ- हृदयस्थल से निकलती हुई और कंठ की ओर आती हुई वाणी कँपने लगती है (स्पष्ट शब्द उच्चारण नहीं हो सकते । दृष्टि भी डगमगाती है, शरीर की त्वचा अति ढीली होकर सिकुड़ जाती है, और बुद्धिरूपी लता भी संकुचित हो जाती है (बुद्धि मंद पड़ जाती है) गर्दन झुक जाती है, और चलने की शक्ति जो बालकपन से अब तक संग ही संग रही, थक जाती है। जब मृत्यु की सहेली जरावस्था सब आधियों तथा व्याधियों को साथ लिये हुए मानव शरीर पर आ विराजती है तब शरीर के सब अंगों की स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है, जीव के साथ केवल एक दुराशा मात्र छिपी हुई रह जाती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति और (मतिबेली, ज्वरा की सहेली में) रूपक।

मूल—

विलोकि सिरोरुह सेत समेत तनोरुह कोबिद यों गुण गायो।
उठे किधौं आयु की औधि के अंकुर शूल कि शुष्क समूल नसायो।
जरैं किधौं केशव व्याधिन की किधौं आधि के आखर अंत न पायो।
जरा सर पंजर जीव जर्यो कि जरा ज़रकबर सों पहिरायो ॥१२॥

शब्दार्थ—सिरोरुह = सिर के बाल, केश। सेत = सफेद। तनोरुह = शरीर पर के बाल (रोएँ)। आयु की औधि = मृत्युकाल। शुष्क शूल = सूखे काँटे शूल की शुष्क समूल। नसायो = अथवा जड़ की जीव सम्पूर्णतः सूखे काँटों से नष्ट कर दिया गया है (छेद दिया गया है)। आखर = अक्षर। जर-कंबर = ज़रबाफी की कबल, ज़रदोज़ी का दुशाला। जरयो = जड़ दिया है, कैद कर रक्खा है।

भावार्थ—(जरावस्था में सिर बाल और शरीर के सब रोएँ सफेद हो जाते हैं) रोएँ सहित सिर के बालों को सफेद देख कर कोविद लोग यों वर्णन करते हैं, कि ये सिर के बाल और रोएँ हैं या मृत्युकाल (जो अति निकट है) के अँकुर हैं, या जड़जीव पूर्णतः सूखे काटों से छेद दिया गया है। अथवा व्याधियों की जड़ें हैं, अथवा भाल में लिखी हुई मानसिक व्यथाओं के असंख्य अक्षर हैं, या जरावस्था ने जीव को शर-पंजर में डाल दिया है, या जरावस्था ने जीव को ज़रदोज़ी का दुशाला (क्योंकि दुशाला भी रोमों से ही बनता है) पहना रखा है।

अलंकार—सन्देह।

मूल—(चन्द्रकला वा सुन्दरी सवैया)—लक्षण—८ सगण और १ गुरु)

दिन ही दिन बाढ़त जाय हिये जरि जाय समूल सो औषधि खैहै।
किधौं याहि के साथ अनाथ ज्यों केशव आवतजात सदा दुख सैहै।
जग जाकी तू ज्योति जगै जड़ जीव रे कैमहु तापहँ आन न पैहै।
सुनि, बालदशा गई ज्वानी गई जरि जैहै जराऊ दुराशा न जैहै ॥१३॥

शब्दार्थ—समूल जरि जाय = पूर्णतया नष्ट हो जाय। जा, ता = परब्रह्म। सुनि = ध्यान से सुन ले। जराऊ = जरावस्था भी।

नोट—किसी अन्य का कहा हुआ उपदेश राम जी दुहराते हैं।

भावार्थ—जरावस्था में दुराशा दिन-दिन बढ़ती जाती है, अतः रे जड़ जीव ! अब तू इसे समूल नष्ट करने की औषधि खाएगा, या इसी के साथ रहकर अनाथ की तरह आते-जाते (जन्मते मरते) सदा दुःख ही सहता रहेगा रे जड़ जीव ! इस दुराशा के मारे तू उस ब्रह्म के पास न जने पायेगा जिसकी ज्योति से तू प्रकाशित है। ध्यान देकर सुन ले लड़कपन बीता जवानी बीती, और जरावस्था भी जल जायगी पर यदि दुराशा (जीव की कुत्सित वासनाएँ) न जायँगी।

ल—(दोहा)—

जहाँ भामिनी, भोग तहँ, बिन भामिनि कहं भोग।
भामिनि छूटे जग छुटै, जग छूटे सुख योग॥१४॥

शब्दार्थ—भोग तहँ = तहाँ ही साँसारिक दुःखों का भोग। भोग = संसार के दुःख। सुखयोग = मुक्ति का योग।

नोट—स्त्री-व्यवहार कृत बाधा का वर्णन है। स्त्री-पुत्रादि ही मुक्ति के बाधक हैं।

भावार्थ—जहाँ स्त्री है (अर्थात् स्त्री पुत्रादि की आसक्ति है) वहीं सांसारिक दुःखों का भोग भी है, बिना स्त्री पुत्रादि वाले मनुष्य को दुःख-भोग कहाँ है (अर्थात् कहीं नहीं है) स्त्री छुटी तो जग छूटा और जग के छूटने ही पर परब्रह्म संयोग के सुख का अनुभव करने का सुयोग प्राप्त होता है।

अलंकार—कारणमाला।

मूल—(दोहा)—

जोई जोई जो करै अहङ्कार के साथ।
स्नान दान तप होम जप निष्फल जानो नाथ॥१५॥

भावार्थ—हे नाथ ! स्नान, दान, तप, होम, जप इत्यादि शुभकर्मों में से जो-जो कर्म अहंकार युक्त होकर किये जाते हैं। (अपने को कर्त्ता मानकर किये जाते हैं, ईश्वरार्पण नहीं किये जाते हैं) वे सब निष्फल हो जाते हैं अर्थात् मुक्ति

नहीं दिला सकते, वरन् और उलटे संसार में जन्म-मरण का कारण होते हैं।
नोट—इस दोहे में अहंकारजनित दुःख का वर्णन है।

मूल—(तोटक छन्द)—(लक्षण—४ सगण)

जिय माँझ अहं पद जो दमिये। जिनही जिनही गुण श्री रमिये।
तिनही तिनही लखि लोभ डसै। पट तंतुन उंदुर ज्यों तरसै॥१६॥

शब्दार्थ—अहंपद = अहंकार। दमिये—दबाइये, दूर कीजिये। गुण = उपाय श्री रमिये = लक्ष्मी प्राप्त की जाती है। पटतंतु = कपड़े का सूत। उंदुर = चूहा, मूसा। तरसै—(फा० तराशना) काटता है।

नोट—इसमें लोभजनित दुःख का वर्णन है।

भावार्थ—यदि किसी प्रकार से अहंकार को दबाया जाय (तो जीव में यह बुराई पैदा होती है कि) जिन-जिन उपायों से लक्ष्मी प्राप्त होती है, उन-उन उपायों को देखकर (चाहे वे उचित हों वा अनुचित लोभ काटने लगता है (लोभ पैदा होता है) और जीव को इतना जर्जरित कर देता है जैसे चूहा कपड़े के सूत को काटकर कपड़े को खराब कर देता है (तात्पर्य यह कि अहंकारहीन होने पर प्राणी योग्यायोग्य का विचार नहीं करता और अनुचित मार्गों से लाभ उठाने को ठान लेता है। उनका लोभ बढ़ जाता है और भिक्षादि अयोग्य कर्म करने लगता है, दान की रुचि जाती रहती है, इत्यादि इत्यादि।

मूल—(मत्तगयंद सवैया)

दान सयाननि के कलपद्रुम टूटत ज्यों ऋण ईश के माँगे।
सूखत सागर से सुख केशव ज्यों दुःख श्री हरि के अनुरागे॥
पुन्य बिलात पहारन से पल ज्यों अघ राघव की निशि जागे।
ज्यों द्विज दोष ते संतति नाशत त्यों गुण भाजत लोभ के आगे॥

नोट इसमें लोभ जनित दुःख का वर्णन है।

शब्दार्थ—ईश = महादेव। पल = पलमात्र में, अतिशीघ्र। राघव निशि = राम नवमी की रात्रि। संतति = संतान औलाद।

भावार्थ—दान और चतुराई के कल्पवृक्ष इस प्रकार टूट जाते हैं जैसे शङ्कर से याचना करने पर ऋण छूट जाता है (केशव कहते हैं कि) सागर समान सुख ऐसे सूख जाता है जैसे विष्णु भक्ति से दुःख नष्ट हो जाता है।

मात्र में पहाड़ समान पुण्य ऐसे बिला जाते हैं जैसे रामनवमी के जागरण से पाप विलीन हो जाते हैं। लोभ के आगे समस्त सुन्दर मनोवृत्तियाँ इस प्रकार मानव हृदय से पलायन कर जाती हैं जैसे ब्रह्मदोष (ब्रह्महत्या) से सन्तान नाश हो जाती है।

अलंकार—रूपक, उपमा, देहरीदीपक, प्रतिवस्तूपमा।

नोट—ऊपर वाले के छंद का तात्पर्य यह है कि लोभ बढ़ने से मनुष्य दान पुन्य करना छोड़ देता है, असत्य भाषण करके भिक्षादि नीच कर्मों में प्रवृत्त होकर पर आश्रित बन बैठता है।

मूल—

दानदया शुभशील सखा बिझुकैं, गुणभिक्षुक को बिझुकावैं।
साधु सुधी सुरभी सब केशव भाजि गई भ्रमभूरि भजावैं।
सज्जन-संग बछेरु डरैं बिडरैं बृषभादि प्रवेश न पावैं।
बार बड़े अघ बाघ बँधे उर मन्दिर बालगोबिन्द न आवैं ॥१८॥

नोट—इस छंद में पाप के व्यवहार का वर्णन है, कि हृदय-मन्दिर के द्वार पर पाप रूपी बाघ बँधे रहने के कारण परम सुखद बालगोविन्द (भगवान्) हृदय में नहीं आते।

शब्दार्थ—शुभशील = अच्छा शीलमय स्वभाव। बिझुकैं = डरते हैं। बिझुकावैं = डर कर भगा देते हैं। साधु = अच्छी। सुधी = सुन्दर बुद्धि। सुरभी = गाय। भ्रम = चित्त की अव्यवस्था। बिडरैं = डरकर भागते हैं। वृषभ = धर्म रूपी बैल। बार = (द्वार) दरवाजा। बालगोविन्द = बालकरूप नारायण।

भावार्थ—पापी के हृदय में बालगोविन्द नही आते, क्योंकि उसके हृदय मन्दिर के द्वार पर पापरूपी बाघ बँधे रहते हैं। दान, दया और सुन्दर शीलवान स्वभाव ये सब बालगोविन्द के सखा हैं. सो ये भी डरकर भाग जाते हैं, भिक्षुक रूपी गुणों को भी वे बाघ डराकर भगा देते हैं (अर्थात् जैसे बाघयुक्त द्वार पर भिक्षुक नहीं जाते हैं वैसे ही पापी के हृदयद्वार पर गुण भी नहीं आते. डरकर भाग जाते हैं)। चित्त की घोर अव्यवस्था (भ्रमभूरि) भगा देती है, इस कारण गाय रूपी सुन्दर बुद्धियाँ (सुप्रवृत्तियाँ) भी भाग जाती हैं। सत्संग रूपी बछेरू

(गाय के बच्चे) भी वहाँ जाने से डरते हैं. धर्मरूपी बैल भी वहाँ प्रवेश नहीं कर पाता।

तात्पर्य यह है कि बालगोविन्द रूप नारायण वहीं रहते हैं जहाँ उनके सखा, गायें बछड़े बैल इत्यादि रहें। पापी के हृदय में दान, दया और शील रूपी सखा, तथा सुबुद्धि गायें, सत्संगरूपी बछड़े, धर्मरूपी बैल पापरूपी बाघ के डर से प्रवेश ही नहीं कर सकते तो वहाँ बालगोविन्द रूप नारायण कैसे रहेंगे।

अलङ्कार—रूपक।

मूल—(दोहा)—

> **आँखिन आछत आँधरो जीव करै बहु भाँति।**
> **धीरन धीरज बिन करै तृष्णा कृष्णा राति ॥१६॥**

शब्दार्थ—आँखिन आछत = आँखें होते हुए भी। कृष्ण रात = काली रात।

भावार्थ—तृष्णा काली रात है, अतः सब जीवों को सब प्रकार की आँखें रहते हुये भी अन्धा कर देती है, और धीरवानों को भी अधीर (भयभीत) कर देती है. अर्थात् जैसे काली रात में आँख वाले को भी कुछ नहीं सूझता और धीरवान लोग भी अधीर हो जाते हैं, वैसे ही तृष्णा भी जीवों को अन्धा और अधीर कर देती है।

अलंकार—रूपक।

मूल—(दोहा)—

> **तृष्णा कृष्णा षटपदी हृदय कमल मों बास।**
> **मत्तदंति गलगंड युग, नर्क अनर्क बिलास ॥२०॥**

शब्दार्थ—तृष्णा = जितना ही मिलता जाय उतना ही और अधिक प्रबल होने वाली इच्छा। कृष्णा = काली। षटपदी = भौंरी। नर्क = नरक। अनर्क = स्वर्ग।

भावार्थ—तृष्णा काली भौंरी है जो हृदय में बसती है, और नरक तथा स्वर्ग ही मस्त हाथी के दोनों कपोल हैं जहाँ यह तृष्णा रूपी भौंरी विहार किया करती है (तृष्णा ही स्वर्ग वा नरक का कारण होती है)।

अलङ्कार—रूपक।

मूल—(मत्तगयन्द सवैया)

कौन गनै यहि लोक तरीन बिलोक बिलोकि जहाजन बोरै।
लाज विशाल लता लपटी तन धीरज सत्य तमालन तोरै।
बंचकता अपमान अयान अलाभ भुजंग भयानक कृष्णा।
पाटु बड़ो कहुँ घाटु न केशव क्यों तरि जाय तरंगिनि तृष्णा ॥२१॥

शब्दार्थ—यहि लोक तरीन = इस मर्त्यलोक की नावों को अर्थात् नर शरीरों को। तरी = नाव। बिलोकि = विशेष ध्यान से देखो। बिलोक = (द्विलोक) दूसरा लोक अर्थात् सुरलोक। विलोक जहाजन = सुरलोक के जहाज अर्थात् इन्द्रादि बड़े बड़े देवता। तमालन = (यहाँ पर उपलक्षण मात्र है, अर्थ है) बड़े-बड़े वृक्ष। बंचकता = छल। अयान = अज्ञान। अलाभ = इच्छित वस्तु की अप्राप्ति। कृष्णा = काले रंग की (यह शब्द 'तरंगिनी' का विशेषण है)। पाटु = नदी की चौड़ाई। घाटु = नाव वा जहाज लगाने का अच्छा और सुगम स्थान।

भावार्थ—इस लोक की नावों को तो गिनती ही क्या है (नर शरीर धारी जीवों की तो बात ही क्या है) यदि ग़ौर से देखो तो मालूम हो जायगा कि यह तृष्णा नदी सुरलोक के बड़े-बड़े जहाज़ों को भी (बड़े-बड़े देवताओं को भी) डुबो देती है। और लाज रूपी घनी लता से आवेष्टित धैर्य और सत्य के तमालों को (लज्जायुक्त धैर्य और सत्य के वृक्षों को) तोड़ डालती है अर्थात् बड़े-बड़े लज्जावान, धीरवान और सत्य वक्ता लोगों को भी बहा ले जाती है। और इस तृष्णा रूपी नदी में छल, अपमान अज्ञान और अप्राप्ति रूपी भयानक सर्प भी रहते हैं, तथा काले रंग की है (अर्थात् इसका जल गँदला है स्वच्छ नहीं) इस नदी की चौड़ाई भी बड़ी है, कहीं उतरने योग्य स्थान भी नहीं है, केशव कहते हैं कि यह तृष्णा नदी कैसे पार की जा सकती है।

अलंकार—रूपक।

मूल—(मत्तगयंद सवैया)

पैरत पाप पयोनिधि में नर मूढ़ मनोज जहाज चढ़ोई।
खेल तऊ न तजै जड़ जीव जऊ बड़वानल क्रोध डढ़ोई।
झूठ तरंगनि में उरझै सु इते पर लोभ-प्रवाह बढ़ोई।
बूड़त है तेहि ते उबरै कह केशव काहे न पाठ पढ़ोई ॥२२॥

शब्दार्थ—तऊ=तब भी। जऊ=यद्यपि। डढ़ोई=मुग्ध हो रहा है।

भावार्थ—रे मूढ़ मन! तू काम जहाजपर चढ़ा हुआ पाप समुद्र में तैरता फिरता है, और यद्यपि क्रोध बड़वाग्नि से जल रहा है तो भी रे जड़जीव! तू यह खेल नहीं छोड़ता। असत्य की तरंगों में उलझा (फँसा) हुआ है और इस पर भी लोभ का प्रवाह बढ़ा हुआ है। केशव कहते हैं कि वह पाठ क्यों नहीं पढ़ता जिसके सहारे इस डूबती हुई दशा से तू उबर जाय (पाप समुद्र से निकल जाय)।

अलङ्कार—रूपक।

मूल—(दोहा)—

जो केहूँ सुख-भावना काहू को जग होति।
काल आखु पटतंतु ज्यों तब ही काटत ज्योति ॥२३॥

शब्दार्थ—सुख-भावना=मुक्ति की इच्छा। केहूँ=किसी प्रकार। आखु=चूहा, मूषक। ज्योति=अंकुर, आरंभिक प्रकाश।

भावार्थ—जो किसी प्रकार इस जग में किसी को मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा भी होती है, तो समय रूपी चूहा तुरन्त वस्त्र के सूत्र के समान उनके अंकुर को ही काट देता है (अर्थात् समय मति को फेर देती है और उसकी वह इच्छा किसी तरह हट जाती है)।

अलंकार—रूपक

मूल—(दोहा)—

ब्रह्म विष्णु शिव आदि दै जितने दृश्य शरीर।
नाश हेतु धावत सबै ज्यों बड़वानल नीर ॥२४॥

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव से लेकर जितने व्यक्ति इस जगत में दृश्यमान शरीरवाले हैं, वे सब नाश की ओर तेजी से जा रहे हैं, जैसे समुद्र का जल आप से आप बड़वानल की ओर दौड़ता है।

अलंकार—उदाहरण।

मूल—(सुन्दरी वा मोदक वृत्त)—(लक्षण—४ भगण)।

दोषमयी जु दवारि लगी अति। देखत ही तिहि को जु जरै मति ॥
भोग की आश न गूढ़ उजागर! ज्यों रज सागर में, मुनिनागर ॥२५॥

शब्दार्थ—दोषमयी = दुर्गुण वा मापमय। दवारि = दावाग्नि। अति = बहुत अधिक (समस्त संसार में)। आश = इच्छा। गूढ़ = गुप्त (हृदय में)। उजागर = प्रकट। मुनि नागर = सम्बोधन में।

भावार्थ—रामजी कहते हैं कि हे मुनिनागर! (मुनियों में सर्वाधिक चतुर) सर्व संसार में जो यह पापमयी दावाग्नि लगी हुई है, इसको देखते ही मेरी मति दग्ध हो गई (संसार के पापाचरण को देखकर मेरी बुद्धि चकरा गई है) अतः अब मुझे राज्य भोग की इच्छा न तो हृदय ही में है न प्रकट ही है, जैसे सागर में धूल न तो प्रकट ही दिखाई देती है न जल के भीतर ही होती है।

अलंकार—उदाहरण।

मूल (मत्तगयन्द सवैया)—

माछी कहै अपनो घरु माछरु मूसो कहै अपनो घरु ऐसो।
कोने घुसी कहै घूसि घिनौनी बिलारि औ व्याल बिले महँ बैसो।
कीटक स्वान सो पच्छि औ भिच्छुक भूत कहैं, भ्रमजाल है जैसो।
हौंहूँ कहौं अपनो घरु तैसहिं ता घरुसों, अपनो घरु कैसो॥२६॥

शब्दार्थ—माछी = मक्खी। माछरु = मच्छड़। मूसो = (मूषक) चूहा। घूसि = एक प्रकार का बड़ा चूहा। घिनौनी = घृणित। बिलारि = बिल्ली। व्याल = सर्प। बिल = सूराख। बैसो = बैठा हुआ। कीटक = कीड़ा।

भावार्थ—एक ही घर को मक्खी और मच्छड़ अपना घर कहते हैं, चूहा भी उसको अपना ही घर सा मानता है। कोने में घुसी घृणित घूस और बिल्ली भी उसे अपना ही घर मानते हैं, सूराख में बैठा सर्प भी अपना घर कहता है। कीड़े, कुत्ता, पक्षी, भिक्षुक और भूत भी उसे अपना ही घर समझते हैं यह तो बड़ा ही विकट भ्रमजाल है। उसी घर को मैं भी उसी प्रकार अपना घर मानता हूँ, पर सच तो कहिये यह अपना घर कैसे है? (जिस पर इतने दावेदार हैं) तात्पर्य यह कि संसार के पदार्थों पर ममत्व व्यर्थ है, ये किसी एक के नहीं, इन पर अनेक दावेदार हैं।

मूल—(सुन्दरी वा मोदक वृत्त)—

जैसहि हौं अब तैस रहौं जग। आपद सम्पद के न चलौं मग।
एकहि देह तियाग बिना सुनि। हौं न कछू अभिलाष करौं मुनि॥२७॥

शब्दार्थ—तैस = वैसा ही। आपद = आपदा, विपत्ति, दुःख। सम्पद = सम्पदा, सुख। तियाग बिना = त्यागने के सिवाय। अभिलाष = इच्छा।

भावार्थ—हे मुनि! मैं जैसे हूँ वैसे ही रहूँगा, सुख या दुःख के मार्ग पर न चलूँगा अर्थात् राजगद्दी ग्रहण करके उसके सुखों के भोगों अथवा राज्य श्री द्वारा पतित होकर उसके दुखों के मार्ग पर न चलूँगा। हे मुनिराज! अब तो मुझे केवल एक देहत्याग के सिवाय कोई भी इच्छा नहीं है।

मूल—

जो कुछ जीव उधारन को मत। जानत हौ तो कहौ मन है रत।
यों कहि मौन गह्यौ जगनायक। 'केशव' दास मनो बचकायक॥२८॥

शब्दार्थ मन = उपाय। मन है रत = मेरा मन उस उपाय को जानने पर अनुरक्त है (मैं जानना चाहता हूँ)। जगनायक = श्रीरामजी। केशव...... कायक = मन वचन कर्म से केशव कवि जिनका दास है।

भावार्थ—श्रीरामजी कहते हैं कि हे मुनि! यदि आप जीव-उद्धार का कुछ उपाय जानते हों तो कहिये, मेरा मन उसे जानना चाहता है। ऐसा कहके केशव कवि जिन श्रीराम का मन वचन कर्म से दास है, वे जगनायक राम चुप हो रहे।

मूल—(चामर छंद)—(लक्षण—सात बार गुरु लघु और अंत में एक गुरु)

साधु साधु कै सभा अशेष हर्ष हर्षियो।
दीह देव लोक ते प्रसून वृष्टि वर्षियो॥
देखि देखि राजलोक मोहियो महाप्रभा।
आइयो तहाँ तुरन्त देव की सबै सभा॥२९॥

शब्दार्थ—साधु साधु = शाबाश, शाबाश। अशेष = सम्पूर्ण, यहाँ पर 'बड़े'। दीह = (यह शब्द वृष्टि का विशेषण है)। राजलोक = राज भवन।

भावार्थ—(रामजी के वचन सुन कर) समस्त सभा साधुवाद करके बड़े हर्ष से हर्षित हुई। देवलोक से देवताओं ने फूलों की बड़ी घनी वर्षा बरसाई। और तुरन्त समस्त देवगण वहाँ आगये और राजभवन की महाछबि देख-देख कर समस्त देवगण मोहित होगये।

मूल—(विश्वामित्र) चामर छंद ।

व्यास पुत्र के समान शुद्ध बुद्धि जानिये ।
ईश को अशेष सत्य तत्व सो बखानिये ।
इष्ट हौ वशिष्ठ शिष्ट नित्य वस्तु शोधिये ।
देवदेव राम देव को प्रबोध बोधिये ॥३०॥

शब्दार्थ—व्यास-पुत्र = शुक्राचार्य । ईश = ईश्वर । अशेष = सम्पूर्ण । सत्वतत्व = सत्य स्वरूप । इष्ट = गुरु । शिष्ट = सभ्य, भलेमानुस । नित्य वस्तु = सत्य स्वरूप ईश्वर । शोधिये = शोधा करते हो, खोजा करते हो । देवदेव = देवताओं के भी पूज्य । रामदेव = रामराजा । प्रबोध = अच्छा ज्ञान (जीव उधारन उपाय) । प्रबोधिये = समझाइये, समझाकर कहिये ।

भावार्थ—विश्वामित्र कहते हैं कि हे वशिष्ठजी, हम तो तुमको शुक्राचार्य के समान शुद्ध बुद्धिवाला समझते हैं । ईश्वर का जो सम्पूर्ण सत्य स्वरूप है उसे बखान करो । हे सुसभ्य वशिष्ठ ! तुम रघुबंशियों के गुरु हो और नित्य वस्तु (ईश्वर) की खोज किया करते हो अतः देवताओं के पूज्य श्रीराम जी को अच्छा ज्ञान अर्थात् जीव उद्धार का उपाय अच्छी तरह समझाइये ।

चौबीसवाँ प्रकाश समाप्त

पचीसवाँ प्रकाश

दोहा—कथा पचीस प्रकाश में ऋषि बशिष्ठ सुख पाइ ।
जीव उधारन रीति सब रामहि कह्यौ सुनाइ ॥

मूल—(पद्धटिका छंद) वशिष्ठ—

तुम आदि मध्य अवसान एक । अरु जीव जन्म समुझै अनेक ।
तुमही जु रची रचना विचारि । तेहि कौन भाँति समझौं मुरारि ॥१॥

शब्दार्थ—अवसान = अन्त । समुझौ = समझते हो ।

भावार्थ—(वशिष्ठ जी रामजी से कहते हैं) हे राम ! तुम तो परब्रह्म हो, तुम आदि से अंत तक एक से रहते हो (तुम में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता) और जीव तो अनेक बार जन्म धारण करता है (परिवर्तित होता रहता है—

मरता, जन्मता रहता है) इस बात को तुम अच्छी तरह समझते हो। तुमने जो खूब सोच विचार कर रचना रची है, उसे, हे मुरारि! मैं किस प्रकार (तुमसे अधिक) समझ सकता हूँ। तात्पर्य यह कि तुम स्वयं ब्रह्म हो, जीव के उद्धार का उपाय जानते हो, मैं आपसे अधिक नहीं जानता।

मूल—

सब जानि बूझियत मोहि राम। सुनिये सो कहौं, जग ब्रह्मनाम।
तिनके अशेष प्रति बिंबजाल। तेइ जीव जानि जग में कृपाल ॥२॥

शब्दार्थ—जग ब्रह्मनाम = जिसे जग में ब्रह्म नाम से पुकारते हैं। अशेष = सब।

भावार्थ—हे राम! सब बात जान-बूझकर यदि आप मुझसे पूछते ही हैं, तो सुनिये मैं कहता हूँ। इस जग में जिसे 'ब्रह्म' नाम से पुकारते हैं, हे कृपाल! उसी के समस्त प्रतिबिम्बों को जग में 'जीव' जानो।

अलंकार—निदर्शना।

मूल—(निशिपालिका छंद)-लक्षण—(१५ अक्षर, भ, ज, स, न, र पाँच गण)

(वशिष्ठ)—लोभ मद मोह बस काम जब ही भयो।
भूलि गयो रूप निज बीधि तिनसों गयो॥
(राम)—बूझियत बात वह कौन विधि उद्धरे।
(वशिष्ठ)—वेद विधि शोधि बुध यत्न बहुधा करै॥ ३॥

शब्दार्थ—बीधि गयो = फँस गया, उलझ गया।

भावार्थ—(वही ब्रह्म का प्रतिबिंब स्वरूप जीव) जब लोभ, मोह, मद और काम के वश हो जाता है, तब अपने सहज रूप (ब्रह्मरूप) को भूल जाता है। (इतना सुन रामजी पुनः कहते हैं कि हाँ यह तो मैं भी जानता हूँ पर) पूछता यह हूँ कि उस लोभ मोहादि में फँसे हुए जीव का उद्धार कैसे हो (अर्थात् फँसने की बात तो मैं जानता हूँ, आपसे उद्धार का उपाय चाहता हूँ) तब वशिष्ठ बोले—बुद्धिमान को चाहिये कि वेदविधि से ढूँढकर अनेक प्रकार के उपाय करे अर्थात् वेद में इसके अनेक उपाय कहे गये हैं, खोजकर जो अपने अनुकूल हो उसे करे।

मूल—(राम) दोहा—

जित लै जैहै बासना तित तित ह्वै है लीन।
जतन कहौ कैसे करै जीव बापुरो दीन॥ ४॥

शब्दार्थ—वासना = दुराशा, अपूर्ण इच्छा। बापुरो = बेचारा, अशक्त।

भावार्थ—रामजी वशिष्ठ जी से पुनः पूछते हैं कि बेचारा जीव यत्न करै तो कैसे करै, वह तो विवश हो जाता है, जहाँ-जहाँ (जिस-जिस योनि में) उसकी दुराशा उसे ले जायगी, वहाँ वहाँ वह उस योनि के कर्मों में निमग्न रहैगा (यत्न करने की बुद्धि और सामग्री कहाँ पावैगा)।

मूल—(वशिष्ठ) दोधक छंद (लक्षण—३ भगण दो गुरु)।

जीवन की युग भाँति दुराशा। हाति शुभाशुभ रूप प्रकाशा।
यत्नन सों शुभ पंथ लगावै। तौ अपनो तब ही पद पावै॥५॥

शब्दार्थ—आशा = वासना।

भावार्थ—जीवों की दुराशा (वासना) दो प्रकार की होती है। एक शुभ रूप से दूसरी अशुभ रूप से प्रकाशित होती है (हरिपूजन, तीर्थ व्रतादि की वासना शुभ है। बुरे कर्मों की वासना अशुभ है) अतः यत्नपूर्वक शुभ-वासना को सुपंथ में लगावै तो जीव तुरंत अपने निजपद (ब्रह्मपद) को प्राप्त कर ले सकता है (अर्थात् जीवन्मुक्त हो सकता है और जीवन्मुक्त होने पर उस शुभ वासना को भी छोड़ देना चाहिये)।

मूल—

हौं मनते विधि पुत्र उपायो। जीव उधारन मन्त्र बतायो।
है परिपूरण ज्योति तिहारी। जाय कही न सुनी न निहारी॥ ६॥

शब्दार्थ—हौं = (कर्मकारक में है) मुझको। (नोट) अन्य प्राचीन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग केवल कर्त्ता कारक में किया है। उपायो = उत्पन्न किया। ज्योति = ब्रह्मज्योति।

भावार्थ—ब्रह्मा ने जब मुझ को अपने मन से पुत्रवत उत्पन्न किया, तब जीवोद्धार की युक्ति मुझे बतलाई थी (वही मैं सुनाता हूँ) वह जो तुम्हारी पूर्ण ब्रह्म ज्योति है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता, न कोई उसका पूर्ण वर्णन सुन ही सकता है और न उसे कोई पूर्णतः देख ही सकता है।

मूल—(दोहा)—

ताकी इच्छा ते भये नारायण मति निष्ठ।
तिनते चतुरानन भये तिनते जगत प्रतिष्ठ॥ ७॥

भावार्थ—उस ब्रह्मज्योति की इच्छा से मतिमान् नारायण उत्पन्न हुए, उनसे ब्रह्मा पैदा हुए और ब्रह्मा से जगत की प्रतिष्ठा हुई।

अलङ्कार—कारणमाला।

मूल—(दोधक छंद)—

जीव सबै अवलोकि दुखारे। अपने चित्त प्रयोग विचारे।
मोहि सुनाये तुम्हें ते सुनाऊँ। जीव उधारन गीत सु गाऊँ॥ ८॥

शब्दार्थ—दुखारे = दुखी। प्रयोग = उपाय, यत्न।

भावार्थ—जगत की प्रतिष्ठा करके जब ब्रह्मा ने जगजीवों को दुखी देखा, तब दुःख-निवारणार्थ जो उपाय उन्होंने अपने चित्त में विचारे थे, वे उपाय उन्होंने मुझे सुनाये थे, वे ही उपाय मैं तुम्हें सुनाता हूँ और जीवोद्धार का वही गीत गाता हूँ (लो सुनो)।

मूल—(दोहा)—

मुक्ति पुरी बर द्वार के चार चतुर प्रतिहार।
साधुन को सतसंग सम अरु संतोष विचार॥ ९॥

शब्दार्थ—बर = श्रेष्ठ (यह शब्द मुक्तिपुरी का विशेषण है)। प्रतिहार = दर्बान। सम = (शम) मन को अपने वश में रखना।

भावार्थ—सुन्दर मुक्ति पुरी के दरवाजे के चार चतुर दर्बान हैं (१) साधुसंग, (२) शम (३) सन्तोष (४) विचार (यदि ये द्वारपाल आज्ञा दें तो जीव सुन्दर मुक्तिपुरी के भीतर जा सकता है)।

अलङ्कार—रूपक।

नोट—आगे के छन्दों में चारों की परिभाषा कहते हैं।

मूल—(दोहा)—

यह जग चक्राव्यूह किय कज्जल कलित अगाधु।
तामहँ पैठि जो नीकसै अकलङ्कित सो साधु॥ १०॥

शब्दार्थ—चक्राव्यूह = चक्रव्यूह । कज्जलकलित = काजल ही का बना हुआ । अगाधु = अति अगम । अकलंकित = कज्जल चिह्न रहित, निर्दोष ।

नोट—प्राचीन काल में शपथ लेने के लिये चक्रव्यूह का अति सङ्कीर्ण चित्र काजल से बनाते थे । उसमें सन्दिग्ध दोषी की उँगली फिरवाते थे । यदि वह जन द्वार से भीतर तक और भीतर से द्वार तक अपनी उँगली फेरते हुए उसे काजल से बचा सकता तो वह निर्दोष समझा जाता था ।

भावार्थ—ईश्वर ने इस जगरूपी चक्रव्यूह को काजलयुक्त अगम (सङ्कीर्ण रास्तों वाला) बनाया है । इसमें पैठ कर जो निर्दोष निकले वही साधु है (ऐसे साधु का सत्संग मुक्ति पुरी का दर्शन है) ।

अलङ्कार—रूपक और निदर्शना ।

मूल—(दोधक छंद)—

देखत हूँ बहु काल छिये हूँ । बात कहे सुने भोग किये हूँ ।
सोवत जागत नेक न छोभै । सो समता सब ही महँ शोभै ॥११॥

शब्दार्थ— न छोभै = उन विषयों में लीन न हो । समता = चित्त का शमन ।

भावार्थ—(मन को इस प्रकार अपने वश करे कि) विषय वस्तु के सौन्दर्य को देखते हुए, बहुत समय तक स्पर्श करते हुए, बात करते हुए और सुनते हुए तथा भोग करते हुए भी किसी समय (किसी प्रकार) उन विषयों में लीन न हो, वही शमन गुण सबको शोभा देता है । (तात्पर्य यह कि रूप, रस, गंध, श्रवण, स्पर्शादि के विषयों को भोगते हुए भी मन को उनमें लीन न होने दे, तब सच्चा 'शमन' है और ऐसा ही 'शमन' मुक्तिप्रद होता है । ऐसा ही शमन राजा जनक का था) ।

अलङ्कार—निदर्शना ।

मूल—

जो अभिलाष न काहु की आवै । आये गये सुख दुःख न पावै ।
लै परमानँद सों मन लावै । सो सब माहिं सँतोष कहावै ॥१२॥

भावार्थ—मन में किसी वस्तु की अभिलाषा न आवै और किसी वस्तु के मिलने पर सुखी वा किसी वस्तु के नष्ट होने पर दुखी न हो, मन को परमानन्द

स्वरूप ईश्वर में लगाये रहे, इसी आचार को सब शास्त्र सच्चा सन्तोष कहते हैं।

अलङ्कार—निदर्शना।

मूल—

आयो कहाँ अब हौं कहि को हौं। ज्यों अपनो पद पाऊँ सो टोहौं।
बंधु अबंधु हिये महँ जानै। ताकहँ लोग बिचार बखानैं ॥१३॥

शब्दार्थ—हौं = मैं। टोहौं = तलाश करूँ। बंधु = हितकारी (शमदमादि) अबंधु = अहितकारी (काम क्रोधादि)। जानै = पहचाने।

भावार्थ—मैं कौन हूँ, कहाँ आया हूँ, कहाँ से किस लिये आया हूँ। जिस प्रकार पुनः मैं अपने असली पद को प्राप्त हूँ उसे खोजना मेरा परम धर्म है। और कौन मेरा हितू है कौन अहितू है इसको चित्त में भली भाँति जाने। इसी को विचार कहते हैं। किसी कवि ने संक्षेप में यों कहा है :—

दोहा—"को हौं आयों कहाँ ते कित जैहौं का सार।
को मैं जननी को पिता याको कहिय विचार॥"

अलङ्कार - निदर्शना।

मूल—(वशिष्ठ)—

चारि में एकहु जो अपनावै। सो तुमपै प्रभु आवन पावै।
(राम) ज्योति निरीह निरंजन मानी। तामहँ क्यों ऋषि इच्छ बखानी॥१४॥

शब्दार्थ—तुमपै = तुम्हारे पास (मुक्ति पद में)। निरीह = (निः + ईह) इच्छा रहित। निरंजन = (निः + अंजन) माया से परे, मायातीत। मानी = मानी गई है सब शास्त्रों ने माना है। इच्छ = इच्छा।

भावार्थ—(वशिष्ठजी कहते हैं) हे प्रभु! ऊपर कहे हुए चार गुणों में से (१-साधुसंग, २-शम, ३-सन्तोष, ४-विचार) किसी एक को जो कोई अपनावे (धारण करे) वही आपके पास आ सकता है (मुक्तिपद पा सकता है, अन्यथा नहीं)।

(तदनन्तर राम पुनः प्रश्न करते हैं कि) वह ज्योति स्वरूप ब्रह्म तो इच्छारहित और मायातीत माना गया है, फिर उसमें इच्छा का होना कैसे कहते हैं? (देखो इससे पहले का छन्द नं० ६)।

मूल—(वशिष्ठ)—दोहा—

सकल शक्ति अनुमानिये अद्‌भुत ज्योति प्रकाश।
जाते जग को होत है उत्पति थिति अरु नाश ॥१५॥

भावार्थ—(वशिष्ठ का उत्तर है कि) उस अद्‌भुत और प्रकाशमान ब्रह्मज्योति में सब शक्तियों का अनुमान किया जा सकता है (इच्छा भी शक्ति है, यदि इच्छा न हो तो वह सर्वशक्तिमान कैसे कहलावे, अतः उसमें इच्छा-शक्ति का होना असम्भव नहीं) उसी ज्योति के अद्‌भुत शक्ति-प्रकाशन से संसार की उत्पत्ति, उसकी स्थिति और उसका नाश होता है।

नोट—इस छंद में 'अद्‌भुत' शब्द बड़ा विलक्षण है। तात्पर्य यह है कि उस ब्रह्मज्योति में यही तो अद्‌भुतता है कि वह 'निरीह' और 'निरंजन' भी कही जाती है, तब भी उसमें 'इच्छा' है।

मूल—(श्रीराम) दोधक छंद।

जीव बँधे सब आपनि माया। कीन्हें कुकर्म मनोबच काया।
जीवन चित्त प्रबोधन आनो। जीवन मुक्त को मर्म बखानो ॥१६॥

शब्दार्थ—माया = ममता (अहंकार)। जीवन प्रबोधन = जीवों के विषय का पूर्ण ज्ञान। चित्त आनो = समझ गया। मर्म = ठीक परिभाषा।

भावार्थ—(श्रीरामजी कहते हैं कि) अब समझे कि जीव अपनी ममता (अहं) के कारण बन्धन में पड़े हैं, क्योंकि वे मन वचन और शरीर से कुत्सित कर्म करते हैं (और उनका कर्ता अपने को मानते हैं) जीवों के विषय का पूर्ण ज्ञान (समस्त जानकारी) अब मैं समझ गया, अब आप मुक्त जीवों की परिभाषा (ठीक पहचान) बतलाइये।

मूल—(वशिष्ठ)—

बाहर हूँ अति शुद्ध हिये हूँ। जाहि न लागत कर्म किये हूँ ॥
बाहर मूढ़ सु अंतस यानो। ताकहँ जीवन मुक्त बखानो ॥१७॥

शब्दार्थ—मूढ़ = मूर्ख, अज्ञान (बालकवत्)। अंतस = अंतःकरण में। यानो = ज्ञानवान।

भावार्थ—मुक्त जीव बाह्य शरीर से और हृदय से अति शुद्ध होता है। कर्म सब करता है पर उनमें लिप्त नहीं होता (जैसे जनकादि थे)। बाहर से तो

मूर्ख-सा जान पड़ता है, पर अंतःकरण से ज्ञानवान होता है, ऐसे को जीवन-मुक्त कहते हैं।

अलङ्कार--निदर्शना।

मूल—दोहा—

आपन सों अवलोकिये सबही युक्त अयुक्त।
अहं भाव मिटि जाय जो कौन बद्ध को मुक्त ॥१८॥

शब्दार्थ—आपन सो=अपने समान (आत्मवत् सर्व-भूतानि)। अवलोकिये=समझिये। युक्त=योग्य जीव (मनुष्यादि)। अयुक्त=अयोग्य (पशु, कीट, पतंगादि)। अहंभाव=मै हूँ, मैं यह कर्म करता हूँ, इत्यादि भावना।

भावार्थ—जो नर मनुष्य से लेकर कीट-पतंगादि तक सब ही बड़े छोटे जीवों को आत्मवत् समझता है, और जिसका अहंभाव मिट जाता है, उसके लिये बन्धन क्या और मुक्ति क्या? अर्थात् वह अनेक प्रकार के सांसारिक कर्म बन्धनों में रहते हुए भी मुक्त ही है।

नोट--वशिष्ठ जी चाहते हैं कि रामजी राज्यभार ग्रहण करें, अतः तत्वज्ञान बतलाते हैं कि 'आत्मवत् सर्व-भूतानि' सिद्धान्त का अभ्यास करते हुए अहंभाव को छोड़कर आप राज्य करैं तो दोष न लगेगा।

मूल—(राम)

ये सिगरे गुण हौं हुत जानो। थावर जीवन मुक्त बखानो।
(वशिष्ठ)-जानि सबै गुण दोषन छंडै। जीवन मुक्तन के पद मन्डै॥१९॥

शब्दार्थ--हौं=मैं। हुत जानो=जानता था। थावर जीवन मुक्त=मुक्त जीवों के हृदय का स्थायीभाव।

भावार्थ--(वशिष्ठ जी की लंबी व्याख्या सुनकर रामजी कहते हैं कि) ये सब गुण तो मैं भी जानता था पर आप संक्षेप से वह मुख्य स्थायी भाव बतलाइये जिनको हृदय में रखने से और जिसके अनुसार बरतने से लोग जीवन्मुक्त हो सकते हैं। (तब वशिष्ठ कहते हैं कि) संसार में सब भली बुरी वस्तुओं को जान कर (उनका अनुभव करके) उन सब का त्याग करे अर्थात् बरते सब कुछ पर उसमें लिप्त न हो। जो ऐसा करे वही जीवन्मुक्त पद को सुशोभित करता है।

अर्थात् 'प्रबल त्याग' ही जीवन मुक्त लोगों का स्थायी भाव है। त्याग की भावना रखने ही से जीव कष्टों से मुक्त हो सकता है।

नोट—इस भाव को आजकल के समय में महात्मा गाँधी जी ने अच्छी तरह समझा है।

मूल—(राम)—दोहा।

साधु कहावत करत हैं जग के सब व्यौहार।
तिनको मीचु न छ्वै सकै कहि प्रभु कौन विचार ॥२०॥

शब्दार्थ— जग के व्यौहार = स्त्री पुत्रादि गृहस्थीय सम्बन्ध। मीचु न छ्वै सकै = वे मरते नहीं अर्थात् जीवन्मुक्त होकर अमर पद प्राप्त करते हैं। (मृत्यु की कुछ परवाह नहीं करते)।

भावार्थ—(रामजी पूछते हैं कि) महाराज गुरुजी! इसका मर्म तो बतलाइये कि संसार में अनेक लोग ऐसे होते हैं जो साधु वृत्ति के होकर भी गृहस्थ की सी स्थिति में रहते हैं और वे मुक्तिपद को प्राप्त होते हैं (अर्थात् जग-व्यौहार उनकी मुक्ति-प्राप्ति में बाधक नहीं हो सकते यह क्या बात है)।

मूल—(वशिष्ठ) पद्धटिका छंद।

जग जिनको मन तव चरण लीन। तन तिनको मृत्यु न करति छीन।
तेहि छनही छन दुख छीन होत। जिय करत अमित आनँद उदोत ॥२१॥

भावार्थ—(वशिष्ठजी कहते हैं) संसार में जिन जीवों का मन (चाहे वे गृहस्थ हों चाहे तपस्वी) तुम्हारे चरणों में लीन रहता है, उनके शरीर को मृत्यु नाश नहीं कर सकती, क्योंकि प्रतिक्षण उनके दुःख नाश होते जाते हैं और हृदय में अपार आनन्द का उदय होता जाता है (होते-होते वे तुम्हारे आनन्द-स्वरूप में निमग्न हो जाते हैं)।

मूल—

जो चाहै जीवन अति अनंत। सो साधै प्राणायाम मन्त।
शुभ पूरक कुंभक मान जानि। अरु रेचकादि सुखदानि मानि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—प्राणायाम = स्वाँस को शरीर के भीतर ले जाना, हृदय में उसे रोकना, पुनः विधिपूर्वक बायें नासाछिद्र से निकाल देना। पूरक = नाक के दाहिने छेद को अँगूठे से दबा कर बन्द करके बायें छेद से स्वाँस ऊपर को

खींचना। कुंभक = नाक के दोनों पुटों को अँगूठे और अनामिका से दबाकर बन्द कर देना और स्वाँस को हृदय में स्थिर करके रोके रहना। रेचक = बाँयें नासापुट को अनामिका से दबाकर रोकना और दायें पुट से धीरे-धीरे स्वाँस को बाहर निकालना। मान जानि = पूरक, कुंभक और रेचक क्रियाओं के काल का परिमाण जानकर।

नोट—कायदा यह है कि यदि एक मिनट का समय पूरक में लगावे तो चार मिनट कुंभक में लगावे (स्वाँस को हृदय में रोके) और दो मिनट रेचक में लगावे। पूरक से चौगुना समय कुंभक में और दूना समय रेचक में लगाना चाहिये। यही प्राणायाम का विधान है। पर यहाँ 'मंत' (मंत्र) शब्द प्रयुक्त है। अतः अर्थ यह होगा कि अपने इष्ट मंत्र को जपते हुए पूरकादि क्रियायें करें। अर्थात् पूरक करते समय यदि चार बार इष्टमंत्र जपै, तो कुंभक इतनी देर साधना चाहिये जितनी देर में सोलह बार इष्टमंत्र जप सके, और आठ बार मंत्र जपने में जितना समय लगै उतनी देर में रेचक क्रिया समाप्त करे।

भावार्थ—(वशिष्ठ जी कहते हैं कि) यदि कोई जन अपनी आयु अति दीर्घ करना चाहे तो उसे अपने इष्ट मंत्र द्वारा प्राणायाम क्रिया को साधना चाहिये। पूरक कुंभक और रेचकादि क्रियाओं का परिणाम जान कर और सुखद समझकर (आगे का छंदार्द्ध इसी छंद के साथ पढ़िये)।

मूल

जो क्रम क्रम साधै साधु धीर। सो तुमहि मिलै याही शरीर ॥
(राम)-जग तुमतं नहिं सवज्ञ आन। सब कहौ देव पूजा विधान ॥२३॥

भावार्थ जो धीरवान साधु इस क्रिया को क्रम-क्रम साधेगा वह इसी शरीर से (वर्तमान शरीर से. जिस शरीर से साधना करता है) तुमसे मिल सकेगा। अर्थात् जीवन्मुक्त पद प्राप्त कर सकता है। (यह सुनकर रामजी पुनः प्रश्न करते हैं) इस जग में आप से अधिक सर्वज्ञ कोई दूसरा नहीं है, अतः हम किससे पूछें। हे देव! अब पूजा का विधान बतलाइये (अर्थात् किस देव का पूजन करना चाहिये)।

मूल—(वशिष्ठ)—तारक छंद—(लक्षण—४ सगण एक गुरु)

हम एक समै निकसे तपसा को। तब जाइ भजे हिमवंत रसा को ॥
बहु भाँति करयो तप क्यौं कहि आवै। शितिकंठप्रसन्नभये जगु गावै ॥२४॥

शब्दार्थ—तपसा = तपस्या। जाइ भजे = पहुँचे। हिमवंत रसा = हिमाचल पर्वत की धरती। शितिकंठ = महादेवजी। जगु गावै = जिनकी प्रशंसा संसार करता है।

भावार्थ—(वशिष्ठ कहते हैं) हम एक बार तप करने को निकले और चलते चलते हिमाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ अनेक प्रकार से घोर तप किया, जिसका वर्णन मैं क्या करूँ। इतना तप किया कि जगत-प्रशंसित शिवजी प्रसन्न हो गये, (और इस रूप से मेरे पास आये)।

मूल—(दंडक छंद)—

ऊजरे उदार उर बासुकी विराजमान,
हार के समान आन उपमा न टोहिये।
शोभिजैं जटान बीच गंगा जू के जलबुन्द,
कुन्द की कली सी केशोदास मन मोहिये ॥
नख की सी रेखा चंद्र, चंदन सी चारु रज,
अंजन सिंगारहू गरल रुचि रोहिये।
सब सुख सिद्धि शिवा सोहैं शिव जू के साथ,
जावक सो पावक लिलार लाग्यो सोहिये ॥२५॥

शब्दार्थ—उदार = बड़ा, विस्तृत। आन उपमा न टोहिये = अन्य उपमा नहीं तलाश करता (क्योंकि दूसरी उपमा मिल ही नहीं सकती)। रज = विभूति, भस्म। गरलरुचि = विष की आभा (कालकूट की काली आभा)। रोहिये = आरोहित है, शिव पर चढ़ी है शिव के गले में लगी है। शिवा = पार्वती। जावक = महाउर। लिलार = (ललाट) मस्तक।

भावार्थ—शिव जी के उज्ज्वल और चौड़े वक्षस्थल पर हार के समान वासुकी विराज रहा था जिसकी दूसरी कोई उपमा खोजना व्यर्थ है, स्वच्छ सफेद कुन्द कलियों के समान गंगोदक-बुन्द जटाओं पर बड़े ही मनोहर मालूम होते थे. नख रेखा सम क्षीण चन्द्रमा, चन्दन के समान भस्म और सिंगारी अंजन के समान विष की काली आभा उनके तन में यथास्थान लगे हुए थे। और

सब सुखों की सिद्धि रूपी पार्वती जी साथ में थीं, और मस्तक पर जावक के समान (लाल) अग्नि भी शोभित थी।

नोट— चूँकि पार्वती का संग था, अतः कवि ने बड़ी चतुराई से शिव के अंग चिह्नों की शृंगारी वस्तुओं से उपमा देकर रूप का वर्णन किया है। हार, कुंदकली, नखरेखा, चन्दनलेप, काजल इत्यादि शृंगारी वस्तुएँ हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिवजी मानो सुरत चिन्ह युक्त हैं, क्योंकि सपत्नीक हैं। शान्त में शृंगार का अति पवित्र और बड़ा ही मनोहर मेल है। धन्य केशव।

अलंकार—उपमा और रूपक।

मूल—(महादेव) तरक छंद।

> **बर माँगि कछू ऋषिराज सयाने।**
> **बहु भाँति किये तप पन्थ पयाने॥**
> **(वशिष्ठ)— पुजवो परमेश्वर मो मन इच्छा।**
> **सिखवो प्रभुदेव प्रपूजन शिक्षा॥२६॥**

शब्दार्थ—तप पंथ पयाने किये = तपमार्ग में चले हो (तप किया है)। प्रपूजन = अच्छी तरह पूजन करना।

भावार्थ—(महादेव जी ने कहा) हे ज्ञानी ऋषिराज! कुछ बर माँगे क्योंकि तुमने बहुत अच्छी तरह से तप किया है (मैं तुम पर प्रसन्न हूँ)। (तब वशिष्ठ ने कहा) हे परमेश्वर! यदि मेरी इच्छा पूर्ण करना चाहते हो तो मुझे देव पूजन की अच्छी शिक्षा दीजिये।

मूल—(शिव)—दोहा—

> **उमा रमापति देवनहिं रंग न रूप न भेव।**
> **देव कहत ऋषि कौन को सिखऊँ जाकी सेव॥ २७॥**

शब्दार्थ - भेव = भेद, रूपान्तर।

भावार्थ उमापति और रमापति नामक देवों का न कोई रंग है न रूप है और न रूपान्तर है, अतः ये तो शरीरधारी देव नहीं हैं। (और पूजा हो सकती है केवल शरीरधारी ही की) अतः हे ऋषि! तुम देव किसको कहते हो जिसकी पूजा में तुम्हें सिखाऊँ।

मूल—(वशिष्ठ)-तोमर छंद-(लक्षण--१२ मात्रा, अंत में गुरु लघु)।

हम कहा जानहिं अज्ञ। तुम सर्वदा सर्वज्ञ॥
अब देव देहु बताय। पूजा कहौ समुझाय॥ २८॥

भावार्थ—अत्यन्त सरल है।

मूल—(शिव) तोमर छंद।

सत चित प्रकाश प्रभेव। तेहि बेद मानत देव।
तेहि पूजि ऋषि रुचि मन्डि। तब प्राकृतन को छंडि॥ २९॥

शब्दार्थ—सत=जिसका कभी नाश न हो। चित=जो संसार के समस्त पदार्थों को चेतनता दिये हुए है (जिसकी सत्ता से सर्वजीव चेतन हैं, काम काज करते हैं) प्रभेव=रूपान्तर अर्थात् राम का सगुण रूप। प्राकृतन=प्राकृत देवता अर्थात् गणेश, महेश, देवी, दुर्गा इन्द्र, आदित्य आदि।

भावार्थ (शिव जी कहते हैं कि) सत् और चित् तत्व के प्रत्यक्ष रूपान्तर को अर्थात् सत् चित् तत्व के सगुण रूपान्तर श्रीराम को ही वेद देव मानते हैं। अतः हे ऋषि! सब अन्य प्राकृत देवताओं को छोड़कर रुचि पूर्वक उसी की पूजा कर।

मूल—

पूजा यहै उर आनु। निर्व्याज धरिये ध्यानु।
यों पूजि घटिका एक। मनु किये याज अनेक॥ ३०॥

शब्दार्थ—निर्व्याज=निष्कपट। याज=यज्ञ।

भावार्थ—उस देवता की पूजा यही समझो कि निष्कपट होकर उसका ध्यान करे। इस प्रकार यदि एक घड़ी भी पूजन किया तो मानो अनेक यज्ञ कर लिये (उसकी पूजा केवल ध्यान ही है और कुछ नहीं।)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

जिय जान यहई योग। सब धर्म कर्म प्रयोग।
तेहि ते यही उर लाव। मन अनत कहुँ न चलाव॥ ३१॥

भावार्थ—हृदय से इसी ध्यान को योग समझो, इसीको समस्त धर्म और इसीको सब प्रकार के कर्म जानो। इसलिये तुम इसी बात पर चित्त लगाओ और अपने मन को अन्यत्र न चलाओ (दूसरे का ध्यान छोड़ दो)।

मूल—

यह रूप पूजि प्रकास। तब भये हम से दास।
यह बचन करि परमान। हर भये अन्तरधान ॥३२॥

भावार्थ—शिवजी कहते हैं कि इसी सत्-चित् प्रकाश रूप को पूज कर ही हम सरीखे दास सर्वमान्य हुए हैं। इस बात को प्रमाण स्वरूप देकर श्रीशंकर जी गायब हो गये।

मूल—(दोहा)—

यह पूजा अद्भुत अगिनि सुनि प्रभु त्रिभुवन नाथ।
सबै शुभाशुभ बासना मैं जारी निज हाथ ॥३३॥

भावार्थ—हे प्रभु! तीन लोक के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी! सुनिये, इसी पूजारूपी अग्नि में मैंने अपने हाथों अपनी समस्त भली बुरी वासनाएँ जला दी हैं।

अलंकार—रूपक।

मूल—(झूलना छंद)—(लक्षण—७+७+७+५=२६ मात्रा अंत में गुरु लघु)।

यहि भाँति पूजा पूजि जीव जु भक्त परम कहाय।
भव भक्ति रस भागीरथी महँ देइ दुखिन बहाय॥
पुनि महाकर्ता महात्यागी महाभोगी होय।
अति शुद्ध भाव रमै रमापति पूजिहैं सब कोय ॥३४॥

अन्वय—दूसरी पंक्ति के 'भव' शब्द का अन्वय 'दुखनि' शब्द के साथ है अर्थात् 'भव दुखनि' जानना चाहिये।

भावार्थ—इस प्रकार पूजा करके जो जीव परम भक्त कहलाकर, भक्तिरस की गंगा में सांसारिक दुःखों को बहा दे, और महाकर्ता, महात्यागी तथा महाभोगी होकर अतिशुद्ध रूप से ईश्वर में लीन हो जाय, उसे सारा संसार पूजैगा (सम्मान करैगा)।

मूल—(दोहा)—

राग द्वेष बिन कैसहूँ धर्माधर्म जु होय।
हर्ष शोक उपजै न मन कर्ता महा सु सोय ॥३५॥

नोट—अब ऊपर कहे हुए महाकर्ता, महात्यागी, महाभोगी के लक्षण क्रम से कहते हैं। यह दोहा महाकर्ता के लक्षण में है।

भावार्थ—बिना विशेष प्रीति कोई धर्म कार्य हो जाय, अथवा बिना बैर कोई अधर्म कार्य हो जाय, दोनों दशाओं में मन एक-सा रहै अर्थात् न तो उस धर्मकार्य से हर्ष हो, न उस अधर्म कार्य से शोक हो। जिसका मन इस ऊँची दशा तक पहुँच गया हो उस जन को महाकर्ता जानो।

अलङ्कार—यथासंख्य।

मूल—(दोहा)—

जो कछु आँखिन देखिये, बानी बरन्यो जाहि।
महा तियागी जानिये, झूठो जानै ताहि ॥३६॥

भावार्थ—(इसमें महात्यागी का लक्षण कहते हैं) जो पदार्थ आँख से देखे जाते हैं, अथवा जिसका वर्णन वाणी ने किया है, उन सब पदार्थों को जो झूठे समझे (नाशवान जानकर उनमें मन न लगावै न उनका संग्रह करै) उसे महात्यागी जानो।

मूल—(दोहा)—

भोज अभोज न रत बिरत नीरस सरस समान।
भोग होय अभिलाष बिन महाभोगि तेहि मान ॥३७॥

भावार्थ—भोज्य पदार्थ में न तो अनुरक्त हो, न अभोज्य पदार्थ से विरत हो, अर्थात् भक्ष्य अभक्ष्य को समान समझै, नीरस और सरस पदार्थों को भी समान ही समझै, और अभिलाषित होकर किसी पदार्थ का भोग न करै, उस जन को महाभोगी मानना चाहिये।

अलङ्कार—यथासंख्य। ('भोज अभोज न रत बिरत' में)।

मूल—तोमर छंद।

जिय ज्ञान बहु व्यौहार। अरु योग भोग बिचार।
यहि भाँति होय जो राम। मिलिहैं सो तेरे धाम ॥३८॥

भावार्थ—जिसके हृदय में समस्त जग-व्यवहारों का ज्ञान हो, और योग तथा भोग को विचार पूर्वक भली भाँति समझ गया हो, ऐसा जीव तुम्हारे धाम में आकर तुमसे मिल सकता है।

मूल—(दुर्मिल छंद)—(लक्षण—८ सगण)
निशिबासर वस्तु विचार करै, मुख साँच हिये करुणाधनु है।
अघ निग्रह. संग्रह धर्म कथान, परिग्रह साधुन को गनु है॥
कहि केशव योग जगै हिय भीतर, बाहर भोगन यों तनु है।
मनु हाथ सदा जिनके, तिनको बन ही घरु है, घरु ही बनु है॥३६॥

भावार्थ—वस्तु विचार=मुख्य वस्तु अर्थात् ब्रह्म का विचार। निग्रह= छोड़ना। परिग्रह=परिजन, निकटवासी (परिग्रहः परिजने, इति मेदनीकोशे) यों=सहित। मनु हाथ=मन को शमन करके वशीभूत किया है। बन ही घरु......बन है=वन में रहकर भी घर का सा सुख भोगते हैं और घर में रहते हुए भी वन की सी तपस्या कर सकते हैं।

भावार्थ—जो लोग सदैव ब्रह्म विचार में निमग्न हैं, मुख से सत्य ही बोलते हैं, हृदय में करुणा है, पापों को त्यागते हैं, धर्म-कथाओं के कथनोपकथनों में लगे रहते हैं, जिसके निकटवर्ती केवल साधुगण हैं और (केशव कहते हैं कि) जिनके हृदय में योग का प्रभाव जगमगा रहा है, पर बाहर से जिनका शरीर भोगों में लगा हुआ दिखाई देता है, और जिनका मन सदा उनके ही वशीभूत रहता है, उनके लिये घर और वन बराबर है (अर्थात् वन में जाकर तप करने की जरूरत नहीं, वे घर में रह कर मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं)।

मूल—(दोहा)—
लेइ जो कहिये साधु तेहि, जो न लेइ सो बाम।
सब को साधन एक जग, राम तिहारो नाम॥४०॥

भावार्थ—जो तुम्हारा नाम जपै वही साधु है, जो न जपै वही विमुख है। हे राम! सब सुखों और मुक्तियों का उपाय एक तुम्हारा नाम ही है (तुम्हारे नाम जपने से मुक्ति प्राप्त होती है)।

मूल—(राम) दोहा—
मोहि न हुतो जनाइबे, सबही जान्यो आजु।
अब जो कहौ सो कीजिये कहे तुम्हारे काजु॥४१॥

भावार्थ—रामजी कहते हैं कि मैं यह बात प्रकट करना नहीं चाहता था (कि मैं ब्रह्म का अवतार हूँ) पर आप की इस वार्ता से सब ने जान लिया,

तो अब जो कुछ कहो तुम्हारे कहने से वह कार्य मैं करूँ (मेरी इच्छा नहीं है, तुम्हारी खातिर से करूँगा) तात्पर्य यह कि तुम्हारे अनुरोध से अब मैं राज्य-भार ग्रहण करने को तैयार हूँ ।

(पचीसवाँ प्रकाश समाप्त)

छब्बीसवाँ प्रकाश

दोहा - कथा छबीस प्रकाश मे कह्यो वशिष्ठ विवेक ।
राम नाम को तत्व अरु रघुबर को अभिषेक ॥

मूल—(मोटनक छंद)—(लक्षण - १ तगण २ जगण और लघु गुरु)

बोले ऋषिराज भरत्थ तबै । कीजै अभिषेक प्रयोग सबै ।
शत्रुघ्न कह्यौ चुप ह्वै न रहो । श्रीराम के नाम को तत्व गहौ ॥१॥

शब्दार्थ—बोले—बुलाया । प्रयोग = सामग्री एकत्र करने का यत्न । चुप ह्वै न रहो = चुप होकर क्यों नही बैठते (अभिषेक तो अब हो ही गा) ।

भावार्थ—रामजी की स्वीकृति पाकर वशिष्ठ जी भरत को बुलाकर कहा कि रामजी ने राज्यभार लेना स्वीकार कर लिया है अब तुम अभिषेक की सामग्री एकत्र करने का यत्न करो । तब शत्रुघ्नजी ने भरत से कहा कि अभी चुप बैठे रहो (रामजी ने राज्य लेना स्वीकार किया है, तो अभिषेक तो हो ही गा, पर फिर ऐसा मौका न मिलैगा अतः) राम नाम का तत्व वशिष्ठजी से इसी समय पूछ लेना चाहिये (क्योंकि उन्होंने कहा है कि :—"सब को साधन एक जग राम तिहारो नाम" । देखो प्रकाश २५ छंद ४०)

मूल—

श्रद्धा बहुधा उर आनि भई ।
ब्रह्मासुत सों बिनती बिनई ॥
(भरत)—श्रीराम को नाम कहौ साँच कै ।
मतिमान महा मन को शुचि कै ॥ २॥

शब्दार्थ—ब्रह्मासु = वशिष्ठजी । बिनती बिनई = नम्रता से निवेदन किया ।

भावार्थ—शत्रुघ्न की बात सुनकर भरतजी के हृदय में श्रीराम नाम की महिमा सुनने की बड़ी श्रद्धा पैदा होगई, और उन्होंने वशिष्ठजी से निवेदन किया कि हे मतिमान ! अपना मन पवित्र करके रुचि से श्रीराम नाम का माहात्म्य तो कह डालिये ।

(रामनाम माहात्म्य वर्णन)

मूल—(स्वागता छन्द)*

(वशिष्ठ)—चित्त माँझ जब आनि अरूझी ।
बात तात पहँ मैं यह बूझी ॥
योग याग करि जाहि न आवै ।
स्नान दान विधि मर्म न पावै ॥
है अशक्त सब भाँति बिचारो ।
कौन भाँति प्रभु ताहि उधारो ॥४॥

शब्दार्थ—चित्त माँझ आनि अरूझी = मेरे चित्त में भी एक समय ऐसी ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी । तात कहँ = ब्रह्म से ।

भावार्थ—वशिष्ठ जी उत्तर देते हैं कि एक बार मेरे चित्त में भी ऐसी ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी, मैंने अपने पिता श्रीब्रह्माजी से यह बात पूछी थी कि जिससे योग-यज्ञ न करते बने, तथा स्नान-दानादि के विधान की बारीकी न जानता हो, और बेचारा सब तरह से शक्तिहीन हो, हे प्रभु ! उसे किस भाँति नरक-पथ से उबारते हो (उसका उद्धार कैसे होता है) ।

मूल—(भुजंगप्रयात) (लक्षण—४ यगण)

(ब्रह्मा)—
जहीं सच्चिदानन्द रूपै धरेंगे । सु त्रैलोग के ताप तीनों हरेंगे ।
कहैंगे सबै नाम श्रीराम ताको । स्वयं सिद्ध है, शुद्ध उच्चार जाको ॥५॥

---

*लक्षण—२१ वर्ण । रगण, नगण, भगण और २ गुरु । छंद तो चार ही चरण का होता है पर न जाने यहाँ चौथे छंद में दो ही चरण क्यों हैं । यह छंद एक प्रकार की वर्णिक चौपाई है ।

शब्दार्थ—जहीं = जब । सच्चिदानन्द = परब्रह्म । त्रैलोक = मर्त्य स्वर्ग, पाताल । तीनों ताप = दैहिक, दैविक, भौतिक । स्वयं सिद्ध है = अन्य मन्त्र तो पहले विधि से सिद्ध किये जाते हैं तब फलप्रद होते हैं, पर यह 'राम' नाम का मन्त्र स्वयं सिद्ध है, सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं । शुद्ध उच्चार जाको = जिसका उच्चारण भी सरल है, क्लिष्ट नहीं (अन्य मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण न हो तो प्रतिकूल फल देते हैं । पर इसको चाहे उलटा कहै चाहे सीधा, चाहे पूरा कहै, चाहे आधा, सदा सुखप्रद है, इति भावः) ।

भावार्थ—जब सच्चिदानन्द परब्रह्म सगुण रूप धारण करेंगे और त्रिलोक के तीनों ताप हरेंगे, तब सब लोग उनको ' राम ' कहैंगे, और तब से यह ' राम ' शब्द स्वयं सिद्ध मन्त्र हो जायगा और इसका उच्चारण भी बहुत शुद्धता और सरलता से हो सकता है (अतः इसका जप अन्य मन्त्रों की तरह कष्टसाध्य नहीं) ।

नोट—इसकी सरलता और इसका फल सुनिये ।

मूल—

कहै नाम आधो सो आधो नसावै । कहै नाम पूरो सो बैकुंठ पावै ।
सुधारै दुहूँ लोक को बर्ण दोऊ । हिये छद्म छाँड़ै कहै बर्ण कोऊ ॥६॥

शब्दार्थ—आधो = अधोगति । छद्म = छल । कोऊ = तात्पर्य यह है कि कोई भी हो, इस मन्त्र के अधिकारी सभी हैं ।

भावार्थ—इस नाम का आधा ही नाम जपै (अर्थात् 'रा') तो उसकी अधोगति नष्ट हो जाती है —वह अधोगति को नहीं जा सकता । और पूरा नाम कहै तो वह झट बैकुंठ का वास पावैगा । ये दोनों अक्षर दोनों लोकों को सुधार देते है, इसका जपने वाला लोक-परलोक दोनों में सुखी रहता है, यदि छल कपट छोड़कर इन दोनों का जप करे चाहे कोई भी हो ।

अलङ्कार—'आधो, आधो' में यमक । 'छद्म छाँड़ै' में अनुप्रास ।

मूल—

सुनावै सुनै साधु संगी कहावै । कहावै कहै पाप पुंजै नसावै ।
जपावै जपै बासना जारि डारै । तजै छद्म को देवलोकै सिधारै ॥७॥

शब्दार्थ—साधुसंगी = साधुओं का सत्संगी । कहावै कहै = ज़ोर-ज़ोर से

खुद कहै और दूसरों से कहलावै। जगावै जपै = मन्त्रवत धीरे-धीरे स्वयं स्मरण करै व अन्यों से करावै। वासना = इच्छा। छद्म = छल, कपट। देवलोक = स्वर्ग।

मूल—(तामरस छन्द)—(लक्षण—१ नगण, २ जगण, १ यगण)

जब सब वेद पुराण नसैहैं। जप तप तीरथ हू मिटि जैहैं।
द्विज सुरभी नहिं कोउ विचारै। तब जग केवल नाम उधारै॥८॥

भावार्थ—जब ऐसा घोर कलियुग आजायगा कि सब वेद पुराण नष्ट हो जायेंगे, जप तप और तीर्थ भी मिट जायेंगे, कोई भी गो-ब्राह्मण का सन्मान न करैगा, तब संसार में केवल राम-नाम ही उद्धार का कारण होगा।

मूल—(दोहा)—

मरण काल काशी विषे, महादेव गुण धाम।
जीवन को उपदेशि हैं, रामचन्द्र को नाम॥ ९॥
मरण काल कोऊ कहै, पापी होय पुनीत।
सुख ही हरिपुर जाइहै, सब जग गावै गीत॥१०॥
रामनाम के तत्व को, जानत वेद प्रभाव।
गंगाधर कै धरणिधर, बालमीकि मुनिराव॥११॥

शब्दार्थ—(९) काशी विषे = काशी में। गुणधाम = (महादेव का विशेषण है) = सर्व-शक्ति-सम्पन्न अर्थात् स्वयं मुक्तिदाता। (१०) सुख ही = सरलता से। जग गावै गीत = संसार प्रशंसा करैगा। (११) तत्व = पूर्णशक्ति। गंगाधर = महादेव। धरणिधर = शेषनाग।

(तिलकोत्सव वर्णन)

मूल—(दोधक)—

सातहु सिंधुन के जल रूरे। तीरथजालनि के पय पूरे।
कंचन के घट बानर लीने। आय गये हरि आनँद भीने॥१२॥

शब्दार्थ—पय = जल। हरि आनँद भीने = रामप्रेम में मग्न, अतः आनन्दित, (खुशी के कारण थकावट नहीं है) !

भावार्थ—रामराज्याभिषेक के वास्ते सातों समुद्रों के तथा समस्त तीर्थों के

जलों से भरे हुए घड़े लिये रामभक्ति के कारण आनन्दित (अतः अश्रमित) वानरगण आगये।

मूल (दोहा)—

सकल रतन सब मृत्तिका शुभ औषधी अशेष।
सात दीप के पुष्प फल पल्लव रस सविशेष ॥१३॥

भावार्थ—सब प्रकार के रत्न, सब प्रकार की मिट्टियाँ, समस्त माँगलिक औषधियाँ और सब द्वीपों के फूल, फल, पल्लव और विशेष २ रस (घृत, मधु इत्यादि) जो अभिषेक में लगते हैं एकत्र किये गये हैं।

अलङ्कार—तुल्ययोगिता।

मूल—(दोधक छन्द)—

आँगन हीरन को मन मोहै। कुंकुम चंदन चर्चित सोहै।
है सरसी सम शोभ प्रकासी। लोचन मीन मनोज विलासी ॥१४॥

शब्दार्थ—चर्चित = सिंचित। सरसी = तलैया, हौज़। मनोजविलासी = कामदेव के खेलने की।

भावार्थ—जिस प्रांगण (चौक) में राजतिलक होना है, वह हीरों से जड़ा है, और वहाँ केशर चंदन का छिड़काव किया गया है। उस आँगन की शोभा तड़ाग की सी है, उसमें मनुष्यों के नेत्रों के जो प्रतिबिंब पड़ते हैं वे काम के खेलने की मछलियों के समान जान पड़ते हैं।

अलङ्कार—उदात्त और उपमा।

मूल—(दोहा)—

गज मोतिन युत शोभिजैं मरकतमणि के थार।
उदक बुंद ज्यों जनु लसत पुरइनपत्र अपार ॥१५॥

शब्दार्थ—मरकतमणि = पन्ना। उदक = जल। पुरइन = कमल।

भावार्थ— गजमुक्ताओं से भरे पन्ने के थाल वहाँ रखे गये (न्यौछावर के लिये) वे थाल ऐसे शोभते हैं मानों असंख्या जलबुंद सहित कमल-पत्र हैं।

अलङ्कार—उदात्त और उत्प्रेक्षा।

मूल—(विशेषक छंद)—(लक्षण—५ भगण एक गुरु। इसे 'अश्वगति' भी कहते हैं)।

भाँतिन भाँतिन भाजन राजत कौन गनै।
ठौरहि ठौर रहे जनु फूलि सरोज घने।
भूपन के प्रतिबिंब बिलोकत रूप रसे।
खेलत हैं जल माँझ मनो जलदेव बसे॥१६॥

शब्दार्थ—भाजन = अनेक प्रकार के जल पात्र, कलस। रूप रसे = रूपवान, अति सुन्दर।

भावार्थ—वहाँ और भी असंख्य जलपात्र रखे हैं, मानो (सरसी में) कमल फूले हैं। उन पात्रों में रूपवान राजाओं के प्रतिबिंब पड़ते हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो अनेक जलदेव क्रीड़ा करते हैं।

अलङ्कार—उदात्त और उत्प्रेक्षा।

मूल—(पद्धटिका छंद)—(लक्षण—१६ मात्रा, अंत में जगण)

मृगमद मिलि कुंकुम सुरभि नीर। घनसार सहित अंबर उसीर।
घसि केसरि स्यों बहु विविध नीर। छिति छिरके चर थावर सरीर॥१७॥

शब्दार्थ—मृगमद = कस्तूरी। कुंकुम = केसर। सुरभि = सुगंधित। घनसार = कपूर। अंबर = सुगन्धवस्तु विशेष। उसीर = खस।

भावार्थ—कस्तूरी, केसर, कपूर, अंबर, और खस से सुवासित जल से भरे पात्र वहाँ रखे हैं, और बहुत सी केसर डाल कर विविध प्रकार के जलों से ज़मीन सींची गई है, और वही जल सब चर और स्थावर देह धारियों पर भी छिड़का गया है जिससे चारों ओर सुगंध फैल रही है।

अलङ्कार—उदात्त।

मूल—

बहु बर्ण फूल फल दल उदार। तहँ भरि राखे भाजन अपार।
तहँ पुष्प वृक्ष सोभैं अनेक। मणिवृक्ष स्वर्ण के वृक्ष एक॥१८॥

शब्दार्थ—उदार = बहुत अच्छे। अपार = असंख्य। एक = हज़ारों में एक अर्थात् अति उत्तम।

भावार्थ—बहुत रंग के और बहुत अच्छे फूल-फल और दल असंख्य टोकरों में भरे वहाँ रखे हैं। वहाँ अनेक गमले भी शोभा दे रहे हैं, जिसमें एक से एक उत्तम मणिवृक्ष (सोने से बने और मणियों से जड़े) लगे हुए हैं।

अलंकार—उदात्त ।

मूल—

तेहि ऊपर रच्यो एकै वितान । दिवि देखत देवन के विमान ।
दुहुँ लोक होत पूजा विधान । अरु नृत्य गीत वादित्र गान ॥१९॥

शब्दार्थ—एकै = अति उत्तम । दिवि = आकाश । पूजा = आदर, सम्मान । वादित्र = बाजन । बादित्रगान = बाजों के स्वरों द्वारा गाया हुआ गान ।

भावार्थ—आकाश से देखते हुए देवों के विमानों से उस स्थल पर एक अति उत्तम चँदोवा सा तन गया है । पृथ्वी और आकाश दोनों जगह रामजी के सत्कार हेतु प्रबन्ध हो रहा है, और नाच, गान, तथा बाजों द्वारा गान हो रहा है !

मूल—

तरु ऊमरि को आसन अनूप । बहु रचित हेममय विश्वरूप ।
तहँ बैठे आपुन आय राम । सिय सहित मनो रति रुचिर काम ॥२०॥

शब्दार्थ—ऊमरि = (सं० उदुम्बर) गूलर । आसन = सिंहासन । विश्वरूप = संसार भर की वस्तुओं के चित्र (संसार के सुन्दर पुष्प, पक्षी, वृक्ष, लतादि के चित्र) ।

भावार्थ—वहाँ गूलर काठ का बना एक अनुपम सिंहासन रखा गया, जिसमें सुवर्णमय सुन्दर चित्र बने हुए थे, उस पर सीता समेत श्रीराम जी आकर बैठे, उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सुन्दर कामदेव और रति हैं ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—

जनु घन दामिनि आनंद देत । तरुकल्प कल्पवल्ली समेत ।
है कैधों । विद्यासहित ज्ञान । कै तप संयुत मन सिद्ध जान ॥२१॥

भावार्थ—(श्रीराम-सीता सिंहासन पर बैठे कैसे जान पड़ते हैं) मानों बिजली सहित बादल देखने वालों को आनंद दे रहा है, या कल्पलता समेत कल्पवृक्ष है, या विद्या सहित ज्ञान है, या मन से ऐसा जानो कि सिद्धि सहित तप है ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा से पुष्ट संदेह ।

मूल—

कै विक्रम युत कीरति प्रवीन। कै श्रीनारायण शोभ लीन।

कै अति शोभित स्वाहा सनाथ। कै सुन्दरता सृङ्गार साथ ॥२२॥

शब्दार्थ—स्वाहा = अग्निदेव की स्त्री। सनाथ = अपने पति अग्निदेव सहित।

भावार्थ—या प्रवीन बल सहित कीर्ति विराजी है, या लक्ष्मी सहित नारायण ही शोभा दे रहे हैं, अथवा अग्निदेव सहित स्वाहा है, या सुन्दरता और सिंगार ही एकत्र हो गये हैं।

अलङ्कार—संदेह।

मूल—(मोदक छंद)—(लक्षण—४ भगण)

केशव शोभन छत्र विराजत। जाकहँ देखि सुधाधर लाजत।

शोभित मोतिन के मनि कै गन। लोकन के जनु लागि रहे मन ॥२३॥

शब्दार्थ—शोभन = सुन्दर। सुधाधर = चन्द्रमा। लोकन = लोगों।

भावार्थ—केशव कवि कहते हैं कि राम के सिर पर सुन्दर छत्र लगा हुआ है, जिसे देख कर चन्द्रमा शरमाता है। उस छत्र में रंग-रंग के मोती और मणि लगे हैं, मानों दर्शकों के मन अटके हुए हैं (तात्पर्य कि वह छत्र अत्यंत मनोहर है)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—दोहा—

शीतलता शुभ्रता सबै सुन्दरता के साथ।

अपनी रबि की अंशु लै सेवत जनु निशिनाथ ॥२४॥

शब्दार्थ—अंशु = किरण। निशिनाथ = चन्द्रमा।

भावार्थ—वह छत्र कैसा है कि मानों ठंडक, सफेदी और सुन्दरता सहित चन्द्रमा अपनी किरणें तथा सूर्य की किरणें लेकर श्रीराम की सेवा करता है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(मोदक छन्द)

ताहि लिये रबिपुत्र सदारत। चौंर बिभीषण अङ्गद ढारत।

कीरति लै जग की जनु वारत। चंद्रक चंदन चंद सदाऽरत ॥२५॥

शब्दार्थ—रविपुत्र = सुग्रीव । चन्द्रक = कपूर । सदाऽरत = (सदा + आरत) सदा दुखी रहते हैं ।

भवार्थ—(उपर्युक्त प्रकार के छत्र को) उसको लिये हुए सुग्रीव हर समय सेवा में हाज़िर रहते हैं, विभीषण और अगद दोनों ओर चौंर कर रहे हैं, जिन चँवरों को देख कर उनकी कांति और शुभ्रता के कारण कपूर, चन्दन और चन्द्रमा सदा दुखी रहते हैं । यह चँवरों का ढारना कैसा जान पड़ता है मानो संसार की कीर्त्ति ले लेकर निछावर की जा रही है ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—

लक्ष्मण दर्पण को दिखरावत । पाननि लक्ष्मण-बंधु खवावत ।
भर्त भले नरदेव हँकारत । देव अदेवन पायन पारत ॥२६॥

शब्दार्थ—लक्ष्मण-बंधु = शत्रुघ्न । भर्त = भरतजी । नरदेव = राजा । देव = गद्दीधर राजा । अदेव = वे राजे जो गद्दी के उत्तराधिकारी तो हैं, पर अभी तक उन्हें गद्दी मिली नहीं, युवराज, राजकुमार ।

भावार्थ—(उस समय) लक्ष्मणजी आईनाबर्दारी करते हैं, शत्रुघ्न जी खवासी में हैं (पानदान लिये हुए हैं) और भरतजी अच्छे-अच्छे राजों को बुला-बुला कर गद्दीधर तथा युवराजों से ताज़ीम करा रहे हैं ।

नोट—देव का अर्थ देवता, अदेव का अर्थ दानव लेना अनुचित है । यह राम जी के राजत्व का वर्णन है, ईश्वरत्व का नहीं । देवताओं का पैरों पड़ना अनुचित है । जब 'देव' का यह अर्थ है तब अदेव का दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता ।

मूल—(दोहा)—

जामवन्त हनुमन्त नल नील मरातिब साथ ।
छरी छबीली शोभिजै दिगपालन के हाथ ॥२७॥

शब्दार्थ—मरातिब = (फा० माहीमरातिब) राजध्वजा, शाही निशान, शाही झण्डा ।

भावार्थ—जामवन्त, हनुमान, नल और नील शाही झण्डे को चारों ओर

से सँभाले हुए हैं और आठों दिगपालों के हाथों में सुन्दर छड़ियाँ हैं (अर्थात् दिगपालों को छरीबर्दारी का काम मिला है) ।

अलंकार—उदात्त ।

मूल—(दोहा)—

> **रूप, बयक्रम, सुरभि स्यों बचन रचन बहु भेव ।**
> **सभा मध्य पहिचानिये नहिं नरदेव अदेव ॥ २८ ॥**

शब्दार्थ—बयक्रम = अवस्था, उम्र । सुरभि = अंगरागादि की सुगन्ध । स्यों = सहित । बचन = बोली, भाषा । रचन = वस्त्राभूषण की सजावट । बहु भेव = बहुत प्रकार की ।

भावार्थ—उस समय दर्बार में इतने लोग एकत्र थे और सब के रूप, उम्र, सुगन्ध, भाषा और वस्त्राभूषण इतने अधिक प्रकार के थे कि उस सभा में यह नहीं पहचाना जा सकता था कि कौन राजा है और कौन युवराज है ।

मूल—(दोहा)—

> **आई जब अभिषेक की घटिका केशवदास ।**
> **बाजे एकहि बार बहु दुंदुभि दीह अकाश ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ—अभिषेक = राजतिलक । घटिका = घड़ी, मुहूर्त । दीह (दीर्घ) बड़े-बड़े ।

मूल—(झूलना छन्द) ।

> **तब लोकनाथ बिलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ ।**
> **सबिशेष सों अभिषेक कै पुनि उच्चरी शुभ गाथ ।**
> **ऋषिराज इष्ट बसिष्ठ सों मिलि गाधिनंदन आइ ।**
> **पुनि बालमीकि बियास आदि जिते हुते मुनिराइ ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ—लोकनाथ = ब्रह्मा । बिलोकि कै = शुभ मुहूर्त आया हुआ देख कर सबिशेष सों = वेदविहित विशेष विधि से । उच्चरी सुभगाथ = आशीर्वाद दिया । इष्ट = गुरु । गाधिनन्दन = विश्वामित्र । बियास = व्यासजी । हुते थे ।

भावार्थ—तब ब्रह्मा ने मुहूर्त आया हुआ जान कर अपने हाथ से विशेष विधि से रामजी का अभिषेक किया और आशीर्वाद दिया । तदनंतर राजगुरु

ऋषिराज वशिष्ठ के साथ विश्वामित्र ने अभिषेक किया, फिर बाल्मीकि और व्यास इत्यादिक मितने मुनि थे सबों ने अभिषेक किया।

नोट—इस छन्द में असमर्थ दोष आ गया है, क्योंकि लोकनाथ से 'ब्रह्मा' का अर्थ लेना, और 'विलोकि कै' का कर्म 'शुभ मुहूर्त' गुप्त रहने से इन शब्दों में असमर्थता आ गई।

मूल—

> **रघुनाथ शंभु स्वयंभु को निज भक्ति दी सुख पाय।**
> **सुरलोक को सुरराज को किय दीह निरभय राय॥**
> **बिधिसों ऋषीशन सों विनय करि पूजियो परि पाय।**
> **बहुधा दई तप वृत्त की सब सिद्धि शुद्ध सुभाय॥ ३१॥**

शब्दार्थ—स्वयंभु = ब्रह्मा। सुरलोक को = देवता लोगों को। राय = राज्य। बिधिसों = क़ायदे से बहुधा = बहुत प्रकार से।

भावार्थ—श्रीराम मी ने शिव और ब्रह्मा को आनन्द पूर्वक अपनी भक्ति दी। देवता लोगों और इंद्र के राज्य को खूब निर्भय कर दिया। क़ायदे से ऋषियों की बिनती की और पैर छूकर उनका सत्कार किया और शुद्ध स्वभाव से उनको उनकी तपस्या का फल बहुत प्रकार से दिया।

मूल—(दोहा)—

> **दीन्हों मुकुट बिभीषणै अपनो अपने हाथ।**
> **कंठमाल सुग्रीव को दीन्ही श्रीरघुनाथ॥ ३२॥**

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(चंचरी छंद)—(लक्षण—र, स, ज, ज, भ, र, = १८। अक्षर)।

> **माल श्रीरघुनाथ के उर शुभ्र सीतहिं सो दई।**
> **अर्पियो हनुमन्त को तिन दृष्टि कै करुणामई॥**
> **और देव अदेव बानर याचकादिक पाइयो।**
> **एक अंगद छोड़िकै जोइ जासु के मन भाइयो॥ ३३॥**

भावार्थ—श्रीरघुनाथजी के हृदय पर जो बड़े-बड़े सफेद हीरों की माला थी (जो सर्वाधिक मूल्यवान थी) वह उन्होंने सीताजी को दी। वह माला उन्होंने

कृपा करके हनुमान जी को दे दी। और अन्य देव, अदेव, बानर, याचक इत्यादि ने जो कुछ चाहा सो सब ने पाया, केवल एक अंगद ने कुछ भी नहीं माँगा।

मूल—(अंगद) चंचरी छंद।

देव ही नरदेव बानर नैऋतादिक धीर हौ।
भर्त लक्ष्मण आदि दै रघुवंश के सब वीर हौ॥
आजु मोसन युद्ध माँड़हु एक एक अनेक कै।
बाप को तब हौं तिलोदक दीह देहुँ विवेक कै॥ ३४॥

शब्दार्थ—नैऋत = राक्षस। भर्त = भरत (छन्द नियम के कारण यह रूप करना पड़ा है)। युद्ध माँड़हु = युद्ध करो। तिलोदक = (तिल + उदक) तिलांजुलि। दीह = खूब अच्छी तरह से।

भावार्थ— (अंगद जी ललकारते हैं) हे देव (रामचन्द्र) तुम खुद भी मौजूद हो, और अन्य राजा, बानर और धीरवान राक्षस सब मौजूद हैं। भरत, लक्ष्मणादि रघुवंश के सब वीर मौजूद हैं, मैं आपको ललकारता हूँ कि आज मुझसे, चाहे एक-एक करके चाहे अनेक वीर मिल कर, युद्ध करो (तब मुझे सन्तोष होगा कि मैंने बाप का बदला लिया) तब मैं विवेकयुक्त अच्छी तरह से पिता जी को (तुम्हारे रक्त से) तिलांजुलि दूँगा।

मूल—(राम)—दोहा।

कोऊ मेरे वंश में करिहै तोसों युद्ध।
तब तेरो मन होइगो अंगद मोसों शुद्ध॥ ३५॥

भावार्थ—(रामजी समझ गये कि अंगद का मन हमारी ओर से साफ नहीं है अतः कहते हैं कि) आगे हमारा कोई वंशधर तुझसे युद्ध करेगा। तब तेरा मन हमारी ओर से शुद्ध हो जायगा।

नोट—आगे अड़तीसवें प्रकाश में अंगद और लव का संग्राम हुआ है।

मूल—(दोहा)—

विधि सों पायँ पखारि कै राम जगत के नाह।
दीन्हे ग्राम सनौढियन, मथुरामंडल माह॥ ३६॥

भावार्थ—तदनन्तर जगत्पति श्रीरामजी ने विधिपूर्वक सनाढ्य ब्राह्मणों के पैर धोकर भूमिदान में मथुरा के ज़िले में अनेक गाँव दिये।

(छब्बीसवाँ प्रकाश समाप्त)

सत्ताईसवाँ प्रकाश

— :❀: —

दोहा—सत्ताइसें प्रकाश में रामचन्द्र सुखसार ।
ब्रम्हादिक अस्तुति विविधि निजमति के अनुसार ।

मूल—(ब्रह्मा)—भूलना छन्द ।

तुम हौ अनन्त अनादि सर्वग सर्वदा सर्वज्ञ ।
अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ ॥
भ्रमिबो करैं जन लोक चौदहु लोभ मोह समुद्र ।
रचना रची तुम ताहि जानत हौं न बेद न रुद्र ॥१॥

शब्दार्थ—सर्वग =(सर्वगत) सब में व्याप्त ।

भावार्थ—हे राम जी ! तुम अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य और सर्वज्ञ हो (अर्थात् साक्षात् परब्रह्म के रूप हो) हम अज्ञानी जन तुम्हारी महिमा नहीं जानते, यह भी नहीं जानते कि तुम एक हो या अनेक हो । चौदहों लोकों के जन तो लोभ मोह के समुद्र में भ्रमा करते हैं (वे भला क्या जानेंगे) जो रचना तुमने रची है (जो कार्य तुम करते हो) उसे न मैं जानता हूँ, न वेद ही जानता है और न रुद्र ही जानते हैं ।

नोट—चूंकि ब्रह्मा सृष्टि रचयिता हैं, अतः इन्हें रचना ही रचना दिखाई देती है ।

मूल—(शिव)—दंडक छंद ।

अमल चरित तुम वैरिन मलिन करो,
साधु कहैं साधु परदार प्रिय अति हौ ।
एक थल थित पै बसत जग जन मध्य,
केशोदास द्विपद पै बहुपद-गति हौ ।
भूषण सकल युत शीश धरे भूमिभार,
भूतल फिरत यों अभूत भुवपति हौ ।
राखौ गाइ ब्राम्हणनि राजसिंह साथ चिरु,
रामचन्द्र राज करौ अद्भुत गति हौ ॥२॥

शब्दार्थ—परदार = (१) परस्त्री, (२) लक्ष्मी। द्विपद = दो पैरवाले। अभूत = अपूर्व। भुवपति = राजा।

भावार्थ—हे राम ! तुम अमल चरित हो, पर अपने निर्मल चरित्र से बैरियों को मलिनमुख करते हो, साधु लोग तुम्हें साधु कहते हैं, पर तुम तो परदारा (सबसे परे है जो स्त्री अर्थात् लक्ष्मी) को अतिप्रिय हो। एक जगह रहकर भी समस्त जीवों में बसते हो, (केशव कहते हैं कि) द्विपद होकर भी तुम्हारी गति बहुपद की सी है। सब भूषण पहने हो, पर सिर पर पृथ्वी का भारी बोझा धारण किये हो (भूषणधारी जन बोझा नहीं लेता, यह विरोध है) और भूमि के भार को सिर पर लिये हो तो भी भूतल पर फिरते हो (जो वस्तु सिर पर है उसी पर फिरना विरोध है) तुम ऐसे अद्भुत राजा हो। तुम राजसिंह हो, पर गायों और ब्राह्मणों को साथ रखते हो। हे राम ! तुम अद्भुत चरित्र-वाले हो, अतः तुम चिरकाल तक राज्य करो।

नोट—शिव की समाज भी अद्भुत है, बैल सिंह, साँप चूहा, साँप मयूर, विषधर और अमृतधर साथ ही रहते हैं, अतः इन्हें वही बात सर्वत्र दिखाई देती है।

अलंकार—विरोधाभास।

मूल—(इन्द्र)—

बैरी गाय ब्राह्मण को ग्रन्थन में सुनियत,
कविकुल ही के सुबरणहर काज है।
गुरुशय्यागामी एक बालकै बिलोकियत,
मातंगन ही के मतवारे को सो साज है॥
अरि नगरीन प्रति होत है अगम्यागौन दुर्गनहिं,
केशोदास दुर्गति सी आज है।
देवताई देखियत गढ़न गढ़ोई जीवो चिरु चिरु,
रामचन्द्र जाको ऐसो राज है॥ ३॥

शब्दार्थ—सुबरणहर = (१) सोना चुरा लेना (२) सुन्दर आखरों को लेनना। मातंग = (१) चाँडाल (२) हाथी। अगम्यागौन = (१) अगम्या स्त्रियों में गमन (२) अगम्य स्थानों में जाना। दुर्ग = किला, गढ़। दुर्गति =

(१) बुरीगति, (२) टेढ़ाई। गढ़ोई = गढ़पति, किलेदार । चिर = चिरकाल तक।

भावार्थ—जिन रामचन्द्र के राज्य में गाय और ब्राह्मणों के बैरी केवल सुननेमात्र को ग्रन्थों में लिखे रह गये हैं (वास्तव में कोई है नहीं), और सुवर्ण चोरी का काम केवल कवि लोग करते हैं (कोई सोना नहीं चोराता, नाममात्र के लिये कवि लोग सुन्दर वर्णों को लेते हैं काव्य-रचना के लिये) गुरुशय्या-गमन केवल बालक ही करते हैं (केवल बालक ही माता के साथ सोता है) और चाँडालों में नहीं वरन् केवल हाथियों में ही मतवालापन पाया जाता है, अगम्यागमन केवल शत्रु नगरों पर ही होता है (कोई भी अगम्यागमन नहीं करता, केवल शत्रु नगर चाहे जैसा अगम्य हो वीर लोग वहाँ पहुँच जाते हैं) और दुर्गति (टेढ़ाई) केवल दुर्गों ही में रह गई है, तथा अब तो गढ़देवताओं को छोड़ शत्रु गढ़ों पर भी कोई भी गढ़पति नहीं रह गया, ऐसे रामजी चिरंजीवी हों।

अलङ्कार—परिसंख्या। (परिसंख्या अलङ्कार समझ लो तो इसका मज़ा मिले)।

नोट—इन्द्र को अपनी प्रकृति के अनुसार अगम्यागमनकारी सुवरणहर इत्यादि ही की बात सूझी।

मूल - (पितर)।

बैठे एक छत्रतर छाँह सब छिति पर
सूरकूल कलस सुराहु हितमित हौ।
त्यक्तबाम लोचन कहत सब केशोदास
विद्यमान लोचन द्वै देखियतु अति हौ॥
अकर कहावत धनुषधरे देखियत
परम कृपालु पै कृपानकर पति हौ।
चिरु चिरु राज करो राजा रामचन्द्र सब
लोक कहैं नरदेव देव देवगति हौ॥ ४॥

शब्दार्थ—छिति = पृथ्वी। सुराहु हितमति = (१) राहु के हितैषी (२) सुमार्ग पर चलनेवालों के हितैषी। त्यक्त बामलोचन = (१) बाईं आँख जिसने

निकाल डाली हो (एक बार शिवपूजन करते समय एक कमलपुष्प कम होगया रामजी ने अपनी बाँई आँख निकाल कर शिव पर चढ़ा दी थी) (२) टेढ़ी नज़र से देखना छोड़ दिया हो जिसने (किसी की ओर बाम दृष्टि से नहीं देखते) । अकर=(१) हाथहीन (२) जो किसी को कर अर्थात् दंड जुर्माना न देता हो । कृपान-करपति=(१) जो कृपा न करैं उनका स्वामी वा सर्दार, (२) तलवार-धारियों के स्वामी । नरदेव=राजा । देवगति=देव स्वभाववाले ।

नोट—इस छंद में कुछ श्लिष्ट शब्द आये हैं । उन्हीं के दो अर्थों के जोर पर कवि ने एक अर्थ से एक बात की सूचना देकर फिर दूसरे अर्थ की भावना लेकर विरोधी भावना प्रकट की है - विरोधाभास की पुष्टि की है ।

भावार्थ—(पितर देव कहते हैं कि)—हे रामजी ! आप बैठे तो एक छोटे से छत्र के नीचे हैं, पर छत्र की छाया समस्त पृथ्वी पर है (छत्र छोटा और छाया समस्त पृथ्वी पर यह विरोध है), आप हैं तो सूर्यकुलकलश पर हैं सुराहु (सुमार्ग) के हितैषी - (सूर्यवंश का होकर राहु का हितैषी होना विरुद्ध है), आप 'त्यक्त बामलोचन' कहलाते हैं, परन्तु दोनों आँखें प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, यह अति अद्भुत बात है । आप 'अकर' कहलाते हो, पर धनुषधारी हो, आप परम कृपालु हो, पर कृपाणधारियों के स्वामी हो (जो कृपा न करें ऐसे जनों के सरदार हो), हे राम, आप चिरकाल तक राज्य करो । हे देव ! आप नर देव कहलाते हो, पर वास्तव में आप देव स्वभाव वाले हो (नर और देव में विरोध है) ।

अलंकार—विरोधाभास ।

मूल - (अग्नि)—

चित्र ही में आज बर्णसंकर विलोकियत,
ब्याह ही में नारिन के गारिन सों काज है ।
ध्वजै कंपयोगी निशि चकै है वियोगी,
द्विजराज मित्र दोषी एक जलद समाज है ।
मेघै तो गगन पर गाजत नगर घेरि,
अपयश हर, यशही को लोभ आज है ।

दुःख ही को खंडन है, मंडन सकल जग,
चिरु चिरु राज करो जाको ऐसो राज है ॥५॥

शब्दार्थ—वर्णसङ्कर = (१) जारज (२) रंगों का मिश्रण। गारी = अपशब्द। द्विजराज = (१) अच्छे ब्राह्मण (२) चन्द्रमा। मित्र = (१) दोस्त (२) सूर्य।

भावार्थ—(अग्निदेव कहते हैं कि) जिसके राज्य में आज कोई वर्णसङ्कर नहीं है, केवल नाम मात्र को वर्णों की संकरता (रंगों का मिश्रण) चित्रों ही में देखी जाती है। ब्याह समय में ही स्त्रियाँ कुछ अपशब्द बकती हैं (अन्यथा कोई किसी को गाली नहीं देता) नाम मात्र को ध्वजा जहाँ काँपता है (अन्य कोई डर से काँपता नहीं) जहाँ रात्रि में चक्रवाकों को ही वियोग-दुःख है (अन्य को नहीं) जिस राज्य में ब्राह्मणों और मित्रों से कोई द्वेष नहीं करता (नाम मात्र को द्विजराज-चन्द्रमा, और मित्र—सूर्य के द्वेषी केवल बादल ही हैं। मेघ ही नगर घेर कर आकाश में गरजते हैं (अन्य कोई नगर शत्रुओं से नहीं घेरा जाता), अपयश ही से लोग डरते हैं (अन्य किसी को नहीं डरते) यश ही का सब को लोभ है (अन्य किसी वस्तु के लोभी नहीं), दुःख ही का जहां खंडन होता है (अन्य किसी सिद्धान्त का खंडन नहीं), और जो राजा समस्त संसार के भूषण रूप हैं, ऐसे राजा राम चिरकाल तक सानन्द राज करें।

अलंकार—परिसंख्या।

मूल—(वायु)—

राजा रामचंद्र तुम राजहु सुयश जाको,
भूतल के आसपास सागर के पासु सो।
सागर में बड़भाग बेष शेषनाग जूके,
शेषजू पै चंडभाग विष्णु को निवास सो॥
विष्णु जू में भूरि भाग्य भवको प्रभाव सोई,
भवजू के भाल में विभूति को विलास सो।
भूति माँहि चन्द्रमा सो चन्द्र में सुधा को अंशु,
अंशुनि में केशौदास चंद्रिका प्रकाशु सो॥६॥

शब्दार्थ—राजहु = राज्य करो। पासु = फाँस (घेरने वाली वस्तु)। बड़भाग्य = भाग्यवान। बेष = रूप। चंडभाग्य = बहुत बड़े भाग्यवान्। विष्णु को निवास = विष्णु की मूर्ति, क्षीरशायी नारायण भगवान। भव = महादेव। भव को प्रभाव = शिवजी की भक्ति। विभूति = भस्म। भूति = शिवजी की विभूति (वैभव)। सुधा को अंशु = चन्द्रमा की १६ कलाओं में से 'अमृता' नाम की कला। चन्द्रिका = चाँदनी।

भावार्थ—(वायुदेव कहते हैं कि) हे रामजी ! तुम बहुत दिनों तक राज करो, क्योंकि तुम्हारा सुयश समुद्र की फाँस की तरह पृथ्वी के इर्द-गिर्द फैला हुआ है (जैसे समुद्र पृथ्वी को घेरे है वैसे ही तुम्हारा यश भी पृथ्वी को घेरे है) और सागर में तुम्हारा यश भाग्यवान शेष के रूप में रहता है, और शेषजी पर नारायण रूप से स्थित हैं (विष्णु स्वरूप) नारायण में वही यश बड़भागी शिवप्रेम रूप में है, शिव में वही यश त्रिपुण्ड भस्म रूप में है, शिव की विभूति में वही चन्द्रमा है, चन्द्रमा में वही अमृता कला है और अमृता कला में वही यश प्रकाशमान चाँदनी है।

अलङ्कार—एकावली।

मूल—(देवगण)

राजा रामचन्द्र तुम राज करौ सब काल
दीरघ दुसह दुख दीनन को दारिये।
केशोदास मित्रदोष मंत्रदोष ब्रह्मदोष
देवदोष राजदोष देश ते निकारिये॥
कलही कृतघ्न महिमंडल के बरिबण्ड
पाषंडी प्रचण्ड खंड खंड करि डारिये।
बंचक कठोर ठेलि कीजै बारावाट आठ
झूठ पाठ कंठ पाठकारी काठ मारिये॥७॥

शब्दार्थ—दारिये = पीस डालिये, नाश कीजिये। बरिबंड = बलवान। बंचक = ठग। कीजै बारावाट = बारह रास्ते से नष्ट कर दीजिये। बारह रास्ते ये हैं :—

मोहं दैन्यं भयं हास्यं हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा ।
मृत्यु क्षोभं व्यथाऽकीर्ति वाटाः स्युतेहि द्वादशः ॥

झूठ पाठ = असत्यरूपी संथा । कंठपाठकारी = कंठ से उच्चारण करने वाला । झूठपाठकारी = झूठ बोलने वाला । काठ मारिये = पैर में बेड़ी भर कर क़ैद कर दीजिये । काठ मारना = काठ से बने हुए एक यंत्र विशेष में पांव फंसा कर क़ैद कर देना, बुँदेलखंड में अब भी यह यंत्र प्रचलित है ।

भावार्थ—(देवगण कहते हैं कि) हे राजा रामचन्द्र, तुम सदैव राज्य करो, और दीन जनों के बड़े और दुःसह दुःख नाश कर दीजिये । मित्रदोषी, मंत्रदोषी (मंत्रो की निंदा करने वाले) ब्रह्मदोषी, देवदोषी और राजदोषी को देश से निकाल दीजिये । लड़ाकू, कृतघ्न, और पृथ्वी भर के अत्याचारी और प्रचंड पाखंडियों को खंड खंड कर डालिये । ठग, निर्दयी को ढकेल कर नष्ट कर डालिये और आठ प्रकार के झूठ बोलने वालों को भी काष्ठयंत्र में क़ैद कर दीजिये ।

नोट—आठ प्रकार के झूठे वचन—१—मनोरंजन में, २—खुशामद में, ३—शिष्टाचार में, ४—निज स्त्री से भेद छिपाने के लिये । ५—विवाह में, ६—धनरक्षार्थ, ७ = प्राणरक्षार्थ, ८—गऊ ब्रह्मण की हत्या बचाने के लिये । यद्यपि इतने स्थानों में झूठ बोलने के लिये शास्त्रों में आज्ञा है, तथापि आप इन झूठों को भी दंड दीजिये ।

अलंकार—अनुप्रास ।

मूल—(ऋषिगण)—

भोगभार भागभार केशव विभूति भार,
भूमिभार भूरि अभिषेकन के जल से ।
दानभार यानभार सकल सयानभार
धनभार धर्मभार अच्छत अमल से ।
जयभार यशभार राजभार राजत है
रामसिर आशिष अशेष मन्त्र बल से ।
देश देश यत्र तत्र देखि देखि तेहि दुख
फाटत हैं दुष्टन के शीश दारयोफल से ॥८॥

शब्दार्थ—विभूति = ऐश्वर्य । अच्छत = चावल (अक्षत) । अशेष = सब। दारयोफल = (दाड़िमफल) अनार ।

भावार्थ—अभिषेक के जल के प्रताप से जो राज्यभोग का भार, भाग्य भार, ऐश्वर्य का भार और भूमि का भार आपके सिर आपड़ा है पवित्र अक्षतों के प्रभाव से जो दानभार, मानभार, सयानभार, धनभार और धर्मभार आ पड़ा है, और सबकी आशिषों तथा मंत्र बल से जो आप के सिर पर जयभार, यशभार और राजभार लद गया है, देश देशान्तरों में जहाँ-तहाँ इस भारी बोझ को देख देख कर दुष्टों के सिर अनार से फटते हैं ।

अलङ्कार—लाटानुप्रास, असंगति और उपमा ।

मूल—(केशव) – मत्तगयन्द छंद ।

जाय नहीं करनूति कही सब श्रीसविता कबिता करि हारो ।
याहि ते केशव दास असीस पढ़ै अपनो करि नेकु निहारो ।
कीरति देवन की दुलही यश दूलह श्री रघुनाथ तिहारो ।
सातो रसातल सातहु लोकन सातहु सागर पार विहारो ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सविता = सूर्य । असीस = आशीर्वचन । दुलही = पत्नी । दूलह = पति

भावार्थ—केशवदास (विषय वर्णन में तल्लीन होकर और यह समझ कर कि मानों मैं भी उसी समाज में मौजूद हूँ) कहते हैं कि हे रामजी आप की करतूत कहीं नहीं जा सकती । श्रीसूर्यदेव भी जो तुम्हारे पूर्व पुरुष हैं और जो सर्वदा घूम-घूम कर सर्वत्र की घटनाओं को देखा करते हैं, कह कर हार गये पर वह कह न सके, तो अन्य जन कैसे कह सकेगा । अतः मैं केवल आशीर्वाद देता हूँ कि देवकीर्ति रूपी नवल बधूटी को लेकर तुम्हारा यश रूपी दूलह सातों रसातलों (नीचे के) में सातों लोकों (ऊपर के) में और सातों समुद्रों के पार तक विहार करता रहे, कृपा करके मुझे अपना एक लघु सेवक समझते रहना ।

अलङ्कार - सम्बन्धातिशयोक्ति और रूपक ।

मूल—किन्नर, यक्ष, गन्धर्व—(रूपमाला छंद, १४ + १० = २४ मात्रा)

> अजर अमर अनंत जै जै, चरित श्री रघुनाथ।
> करत सुर नर सिद्ध अचरज, श्रवण सुनि सुनि गाथ।
> काय मन बच नेम जानत, शिलासम पर नारि।
> शिला ते पुनि परम सुंदरि, करत नेक निहारि॥ १०॥

भावार्थ—हे राम! तुम्हारे अजर अमर और अनन्त चरित्र हैं, तुम्हारी जय हो। तुम ऐसे अद्‌भुत चरित्र करते हो जिन्हें सुन कर सुर नर और सिद्ध लोग आश्चर्य करते हैं। तुम मन वचन कर्म से परस्त्री को शिलासम जानते हो और ज़रा कृपा दृष्टि से हेर कर शिला को परम सुन्दरी स्त्री बना देते हो (कैसे आश्चर्य की बात है)।

मूल—

> चमर ढारत मातु ऊपर पाणि पीड़ा होइ।
> बिसदंड ज्यों कोदंड हर को टूक कीन्हो दोइ॥
> साधु होइ असाधु राखत द्विजन हू को मान।
> सकल मुनिगण मुकुट मणि को मर्दिया अभिमान॥११॥

शब्दार्थ—बिसदंड = कमलनाल। कोदंड = धनुष। सकल मुनिगण मुकुट मणि = नारद मुनि (नारद मोह की कथा बहुत प्रसिद्ध है) अथवा परशुराम।

भावार्थ—जब क्वचित् काल माता पर चमर ढारते थे, तब यह कह कर बंद कर देते थे कि बोझ के कारण हाथ में पीड़ा होती है, पर उन्हीं हाथों से शिव धनुष को उठाकर कमल दंड की तरह दो खंड कर डाले। ब्राह्मण चाहे साधु हो चाहे असाधु उसका मान रखते थे, पर सर्वोच्च मुनि नारद का मान (एक छोटी बात में) मर्दन कर डाला—(परशुराम पर भी अर्थ लग सकता है)।

मूल—

> सुघर सुंदरि सरस रति रचि, कीर्ति रति कहँ लालि।
> एक पत्नी व्रत निबाहत मदन को मद घालि।
> सुखद सुहृद सुपूत सोदर हनत नृप जो काज।
> पलक में सो राज्य छोड़ो मातु पितु को लाज॥ १२॥

शब्दार्थ—रति = प्रीति। रचि = अनुरक्त होकर। कीर्तिरति = यशसं

का प्रेम। लालि = लालसा करते हुए। सुपूत = अति पवित्र, निर्दोष। मातु पितु की लाज = माता के सामने पिता की लज्जा रखने के लिये।

भावार्थ—सुघर, सुन्दर और रसीली सर्वजन-प्रीति से अनुरक्त होकर भी, और कीर्ति संचय करने की प्रीति की लालसा करते हुए भी (अर्थात् सर्वजनरति और कीर्तिरति दोनों के इच्छुक होकर भी) आप एक पत्नीव्रत निर्वाह करते हो, और मदन का घमंड तोड़ते हो (इस कारण कि मदन केवल एक रति का स्वामी है और तुम दो रतियों के प्रेमी हो) जिस राज्य के कारण अन्य राजन्यवर्ग सुखद सुहृद और निर्दोष सगे भाई को मार डालते हैं, वही राज्य आपने विमातृबंधु के लिये और विमाता के सामने पिता की लज्जा रखने के लिये एक पल मात्र में त्याग दिया।

अलंकार—अनुप्रास।

मूल—

> मंथरा सों मोद मानत विपिन पठयो पेलि।
> सुपनखा की नाक कार्टा करन आई केलि॥
> चंचु चाँपत आँगुरी शुक ऐंचि लेत डेराइ।
> बन्धु सहित कबन्ध के उर मध्य पैठ धाइ॥१३॥

शब्दार्थ—पेलि = प्रेरणा करके। चन्चु = चोंच।

भावार्थ—जिस मंथरा ने प्रेरणा करके तुम्हें वनवास दिलाया था, उससे तो आप खुश रहते हैं और जो सूर्पणखा स्त्री बनने आई थी उसकी नाक कटवा ली (कैसा आश्चर्य), चारा देते समय जब कभी कोई शुक चोंच से उँगली दबाता तो आप डर कर हाथ खींच लेते थे, और बधु सहित कबंध की भुजपाश में स्वयम् ही जा पड़े (वहाँ तनक भी भय न हुआ)।

मूल—

> सर्वथा सर्वज्ञ सर्वग सर्वदा रस एक।
> अज्ञ ज्यों सीता विलोकी व्यग्र भ्रमत अनेक॥
> बाण चूक्यो लक्ष्य को को गनै केतिक बार।
> ताल सातो बेधियो शर एक एकहि बार॥१४॥

शब्दार्थ—सर्वथा = सर्व प्रकार। सर्वग = सर्वान्तर्यामी। विलोकी = खोजी। व्यग्र भ्रमत अनेक = व्यग्रता से अनेक स्थानों में घूम-घूम कर।

भावार्थ—हे रामजी ! आप सब प्रकार सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी (सर्वव्यापी) और सदैव एक रस रहनेवाले हो, तथापि अज्ञानों की तरह व्यग्र होकर अनेक स्थानों में घूम-घूम कर सीता की खोज की। न जाने कितने बार बाण चलाते समय निशाने को चूक जाते थे, पर सप्त तालों को एक बार में एक ही बाण से बेध दिया।

मूल—

सापराध असाधु अति सुग्रीव कीन्हों मित्र।
अपराध बिन अति साधु बालिहि हन्यो जानि अमित्र।
चलत जब चौगान को लै चलत दल चतुरङ्ग।
देवशत्रुहि चले जीतन ऋच्छ बानर सङ्ग ॥१५॥

शब्दार्थ—अमित्र = शत्रु। देवशत्रु = रावण।

भावार्थ— बहुत सरल ही है।

मूल—

भूलिहू जा तन निहारत गुरु सो गिरिन समान।
निगरु देखो भये गिरिगण जलधि में ज्यों पान।
जतन जतनहिं तरत सरजू डरत डोलत डीठि।
गये सागर पार दै पगु प्रगट पाहन पीठि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ – जा तन = जिसकी ओर। गुरु = गरू, वजनदार। निगरु = हलके। पान = पत्ता। जतन जतन = धीरे धीरे। पाहन = पत्थर।

भावार्थ— भूलकर भी आप जिसकी ओर देख दें, वह पहाड़ के समान गरू हो जाता है, पर समुद्र में (सेतुबंध हित) पहाड़ भी पत्तों के समान हलके हो गये। सरजू को तो धीरे-धीरे पार करते हो और जरा सी नज़र चूकने पर डरते हो, पर पत्थरों पर चढ़कर पैदल समुद्रपार चले गये (कैसे आश्चर्य की बात है)।

मूल—

बाजि गज रथ वाहनन चढ़ि चलत श्रमत सुभाय।
लङ्क लौं निरसंक नीके गये अपने पाय ॥

यज्ञ को फल गहत जतनन यज्ञपुरुष कहाय।
बेर जूंठे दियो शवरी भखियो सुख पाय ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—श्रमत = थक जाते हो। नीके = बिना थके। जतनन = बड़ी सावधानी करने पर (जब अति पवित्रता से यज्ञ करैं तब)।

भावार्थ—घोड़े हाथी इत्यादि सवारियों पर चढ़ कर चलते समय सहज ही थक जाते हो, पर लंका तक निःशंक भाव से बिना थकावट के पैदल ही चले गये। यज्ञ पुरुष कहलाने से यज्ञों का फल यदि यत्न पूर्वक दिया जाय तब ग्रहण करते हो पर शबरी के जूँठे बेर बड़े हर्ष से खा लिये।

मूल—

कुसुम-कंदुक लगत काँपत मूँदि लोचन मूल।
शत्रु संमुख सहे हँसि हँसि सेल असि शर शूल ॥
दूरि कर तन दया दर्शत देह दंशत दंश।
भई बार न करत रावणवंश को निर्वंश ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—मूल = अच्छी तरह से। दूरि करतन = हटाने में (बुँदेलखंडी मुहावरा)। दंश = डँसा (बड़ा मच्छर)।

भावार्थ—फूल रचित गेंद लगते काँपते हो और भय से अच्छी तरह आँखें मूंद लेते हो, पर शत्रु के सामने हँस हँस कर सेल, तलवार, बाण और शूल सहन किये हैं। देह में काटते हुए डँस को हटाने में आपको दया आती है, पर रावण को निर्वंश करते तनक भी देर न लगी।

मूल—

बाण बेझै आन को लग नाम अपनो लेत।
काल सो रिपु आपु हति जयपत्र आनहि देत ॥
पुन्य कालन देत बिप्रन तौलि तौलि कनंक।
शत्रुसोदर को दई सब स्वर्ण ही की लंक ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—बेझा = (सं० बेध्य) निशाना। जयपत्र = जीत की सनद। पुन्यकालन = पर्वकालों में। कनंक = (कनक) सोना।

भावार्थ—निशाने पर अन्य सखा का भी बाण लग जाता था तब आप कहते थे कि हमने निशाना मारा, पर अब काल समान शत्रु को मार कर भी

जीत की सनद अन्य को देते हैं। पर्व तिथियों पर विप्रों को तौल-तौल कर सोना दान करते हो, पर शत्रु के भाई को (अतुलित) सोने की लंका ही दे डाली (बड़ी विचित्र बात है)।

मूल—

होइ मुक्त सो जाहि इनको मरत आवै नाम।
मुक्त एक न भये वानर मरे करि संग्राम॥
एक पल बिन पान खाये बार बार जम्हात।
वर्ष चौदह नींद भूख पियास साधी गात॥ २०॥

भावार्थ—वह जनमुक्त हो जाता है जिसके मुख से मरते समय इनका (राम का) नाम निकल जाय, पर आश्चर्य यह है कि हजारों वानर इनके लिये समर में मरे, पर एक वानर भी मुक्त न हुआ। बिना पान खाये एक क्षण भी रह जायें तो बार बार जम्हाई लेते हैं और चौदह वर्ष तक नींद भूख पियास को शरीर से साधन किया।

मूल—

छमे बरु अपराध अपने कोटि-कोटि कराल।
अपराध एक न छम्यो गो द्विज दीन को सब काल॥
यदपि लक्ष्मण करी सेवा सर्व भाँति समेव।
तदपि मानत सर्वथा करि भरत ही की सेव॥ २१॥

शब्दार्थ—समेव = मर्मसहित अर्थात् बड़ी सावधानी से। सेव = सेवा।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

कहत इनको परम साँचे सकल राना राय।
तनक सेवा दास की कहैं कोटि गुणित बनाय॥
डरत सब अपलोक ते जे जीव चौदह लोक।
ठौर जाकहँ कहुँ न ताकहू देत अपनो ओक॥ २२॥

भावार्थ—इनको (राम को) सब राना राय परम सत्यवादी कहते हैं, पर (ये बड़े झूठे हैं क्योंकि) ये दास की थोड़ी सी सेवा को बहुत बढ़ाकर वर्णन करते हैं। चौदह लोक के सब जीव बदनामी से डरते हैं पर ये (रामजी)

बदनामी से भी नहीं डरते और जिनको कहीं भी ठौर नहीं मिलता (अर्थात् महापापी को) उसे अपना धाम दे देते हैं। (पापियों को मुक्ति देते हैं)।

अलङ्कार—व्याजस्तुति।

मूल—

छाँड़ि द्विज, द्विजराज, ऋषि, ऋषिराज अति हुलसाइ।
प्रगट समल सनौढ़ियन के प्रथम पूजे पाइ॥
छाँड़ि पितर त्रिशंकु, है विपरीत यद्यपि देह।
अवध के सब जात सूकर स्वान स्वर्ग सदेह॥ २३॥

शब्दार्थ—समल = गृहस्थी में फँसे हुए। विपरीत = उलटा (लटका हुआ)।

भावार्थ—ब्राह्मण, बहुत उत्तम ब्राह्मण ऋषि और ऋषिराज इत्यादि सब को छोड़ कर, अत्यन्त हुलास से सबके सामने गृहस्थी में फँसे हुए सनाढ्य ब्राह्मणों के पैर रामजी ने सर्व प्रथम पूजे (आश्चर्य है)। अपने पूर्व पुरुषा त्रिशंकु को उलटा लटका हुआ छोड़ कर, सब अवध में ऐसा प्रभाव दिया कि अवध के शूकर और श्वान भी सदेह ही परमधाम को चले जाते हैं।

अलङ्कार—व्याजस्तुति।

मूल—

एक पल उर माँझ आए हरत सब संसार।
आय कै संसार में इन हर्यौ भूतल भार॥
सेस संभु स्वयंभु भाषत नेति निगमहु जासु।
ताहि लघुमति बरणि कैसे सकत केशवदासु॥ २४॥

भावार्थ—जिनका ध्यान एक क्षणमात्र के लिये हृदय में आने से जन का जन्म-मरण का झगड़ा ही मिट जाता है उसी परब्रह्म ने स्वयं संसार में आकर भूमि का भार उतारा। शेष, शंभु, ब्रह्मा और वेद जिसको नेति-नेति कह कर वर्णन करते हैं, उनके गुण अल्पबुद्धि केशवदास कैसे वर्णन कर सकता है ?।

अलङ्कार—सम्बन्धातिशयोक्ति।

मूल—(दोहा)—

यहि विधि चौदह भुवन के जन गाये यश-गाथ।
प्रेम सहित पहिराय सब बिदा किये रघुनाथ ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस प्रकार समस्त चौदहों लोकों के जनों ने राम का यश गाकर स्तवन किया. तदनन्तर रामजी ने सप्रेम पहरावनी (खिलअत) देकर सब को बिदा किय. (सब अपने अपने लोक को चले गये)।

मूल—झूलना छंद।

अभिषेक की यह गाथ श्रीरघुनाथ की नर कोइ।
पल एक गावत पाइहै बहु पुत्र सम्पत्ति सोइ॥
जरि जायगी सब बासना जग रामभक्त कहाय।
जमराज के सिर पाँउ दै सुरलोक बसिहै जाय ॥२६॥

भावार्थ—सरल ही है।

(सत्ताईसवाँ प्रकाश समाप्त)

अट्ठाइसवाँ प्रकाश

—:※:—

दोहा—

अट्ठाइसें प्रकाश में वर्णन बहु विधि जानि।
श्रीरघुवर के राज को सुर नर को सुखदानि॥

(राम-राज्य वर्णन)

नोट—इस प्रकाश का मज़ा लेने के लिये पाठक को परिसख्यालंकार का अच्छा ज्ञान होना चाहिये।

मूल—(भुजंगप्रयात छंद)—

अनंता सबै सर्वदा शस्य युक्ता। समुद्रावधिःसप्तईतिर्विमुक्ता।
सदावृक्षफूलेफलेतत्र सोहैं। जिन्हें अल्पधी कल्पसाखी विमोहैं ॥१॥

शब्दार्थ—अनंता = पृथ्वी। शस्य = धान्य, खेती। समुद्रावधिः = आसमुद्र, समुद्र तक। सप्त ईति = सात विघ्न जिनसे खेती को हानि पहुँचती है यथा :—

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥

अर्थात् (१) अतिवृष्टि (२) अनावृष्टि (३) मूसों का लगना (४) टिड्डी का गिरना (५) शुकादि पक्षियों से हानि पहुँचना (६) स्वदेशी राजा की प्रजा से लड़ाई । (७) विदेशी राजा का आक्रमण । विमुक्ता = बची हुई । अल्पधी = कमबुद्धि वाले । कल्पसाखी = कल्पवृक्ष ।

भावार्थ – रामराज्य में आसमुद्र समस्त पृथ्वी खेती से परिपूर्ण है और सात प्रकार की ईतियों से भी बची हुई है । वहाँ वृक्ष सदा ही फूले फले रहते हैं जिन्हें देख कर कमबुद्धि कल्पवृक्ष विमोहित होते हैं अर्थात् लज्जित होकर अपने को कम बुद्धिवाला मानते हैं ।

अलङ्कार - प्रबन्धातिशयोक्ति ।

मूल—

सबै निम्नगा छीर के पूर पूरीं । भई कामगो सी सबै धेनु रूरीं ।
सबै बाजि स्वर्बाजि ते तेजपूरे । सबै दंति स्वर्दंति ते दर्प रूरे ॥२॥

शब्दार्थ— निम्नगा = नदियाँ । पूर = धारा । कामगो = कामधेनु । स्वर्बाजि = उच्चैःश्रवा । स्वर्दन्ति = ऐरावत । दर्प = मद ।

भावार्थ—सब नदियाँ दुग्ध (अथवा स्वच्छ सफेद जल) की धारा से परिपूर्ण हैं, सब गायें कामधेनु से भी अच्छी हैं । सब घोड़े उच्चैःश्रवा से भी अधिक तेजवान हैं और सब हाथी ऐरावत से भी अधिक मदमस्त हैं ।

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति ।

मूल—

सबै जीव हैं सर्वदानंद पूरे । छमी संयमी विक्रमी साधु सूरे ।
युवासर्वदासर्वविद्याविलासी । सदासर्वसम्पत्तिशोभाप्रकासी ॥३॥

शब्दार्थ—छमी = छमतावान । विक्रमी = उद्योगी, उद्योगचतुर ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल –

चिरंजीवि संयोग-योगी अरोगी । सदा एकपत्नी व्रती भोग भोगी ।
सबै शीलसौन्दर्य सौगन्धधारी । सबै ब्रह्मज्ञानी गुणी धर्मचारी ॥४॥

शब्दार्थ – संयोग योगी = स्त्री संयोग से युक्त (वियोगी वा विरही नहीं)। भोगभोगी = आठ प्रकार के सुखों को भोगनेवाले (अष्ठ सुखभोग—(१)—फूल माला धारण करना, (२)— इतर फुलेल लगाना, (३)—स्त्री-प्रसंग, (४)—अच्छे वस्त्र धारण करना, (५)—गान सुनना वा गाना, (६)—पान खाना, (७) अच्छे भोजन, (८) सवारी और आभूषण। 'धारी' शब्द का अन्वय शील, सौन्दर्य और सौगन्ध तीनों शब्दों के साथ है।

भावार्थ – रामराज्य में सभी जन चिरंजीवी हैं। संयोगी हैं, नीरोग हैं, सदा एकपत्नीव्रती हैं, आठों भोगते हैं, शीलवान, सुन्दर और सुगंधयुक्त शरीरवाले हैं। सब ही जन ब्रह्मज्ञानी, गुणवान तथा धर्म से चलने वाले हैं (कोई भी अनीतिमार्ग पर नहीं चलता)।

मूल—

सबै न्हान दानादिकर्माधिकारी। सबै चित्त-चातुर्यचिंतापहारी।
सबै पुत्रपौत्रादि के सुःख साजैं। सबै भक्त माता पिता के बिराजैं ॥५॥

शब्दार्थ—चित्त-चातुर्य-चिंतापहारी = चित्त के चातुर्य से दूसरों की चिंता को अपहरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

सबै सुन्दरी सुन्दरी साधु सोहैं। शचीसी सतीसी जिन्हैं देखि मोहैं।
सबै प्रेमकी पुण्यकी साध्मनीसी। सबैपुत्रिणीचित्रिणी पाद्मनीसी ॥६॥

शब्दार्थ—सुन्दरी = स्त्री। सुन्दरी = खूबसूरत। साधु = साध्वी, पतिव्रता। शची = इन्द्राणी। सती = दक्षकन्या सती। सद्मिनी = कोठरी। पुत्रिणी = पुत्रवती (बंध्या नहीं)। चित्रिणी, पद्मिनी = कोकशास्त्रानुसार चित्रिणी और पद्मिनी स्त्रियों की जातियाँ हैं। ऐसी स्त्रियाँ अच्छी होती हैं। (शखिनी और हस्तिनी अच्छी नहीं होतीं; राम राज्य में हैं ही नहीं)।

भावाथ—सरल ही है।

मूल—

भ्रमै संभ्रमीयत्रशोकैसशोकी। अधर्मैअधर्मी अलोकैअलोकी।
दुखैहैदुखीतापतापाधिकारी। दरिद्रैदरिद्रीविकारैविकारी ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—संभ्रमी = भ्रमयुक्त । अलोकै = अपयश ।

भावार्थ—राम राज्य में 'भ्रम' ही भ्रमयुक्त है (कि मैं यहाँ रहूँ कि नहीं) अर्थात् सब जन निश्चित ज्ञानी हैं. 'भ्रम' शब्द का अर्थ ही उनकी समझ में नहीं बैठता, और शोक ही सशोक है कि मैं अब कहाँ रहूँ, अधर्म ही अधर्मी रह गया है-अधर्म ने ही अपना धर्म त्याग दिया है अर्थात् है ही नहीं, अपयश ही अपयशी है, दुःख हो दुखी है (कि मैं कहाँ रहूँ, रहने तक को स्थान नहीं), त्रिताप ही संतप्त हैं कि कहाँ रहैं, दारिद्र ही रामराज्य में दरिद्री है (उसे रहने बैठने तक जो स्थान नहीं मिलता) और विकार ही नाममात्र को विकारी है। अर्थात् ये वस्तुएँ रामराज्य में हैं नहीं केवल शब्दमात्र से इनका अस्तित्वमात्र है।

अलंकार—परिसंख्या ।

मूल—(चौपाई छन्द)—

होमधूम मलिनाई जहाँ। अति चंचल चलदल हैं तहाँ।
बालनाश है चूड़ाकर्म। तीक्ष्णता आयुध को धर्म ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—चलदल = पीपल का पत्ता । बाल = (१) बालक (२) केश ।

भावार्थ—राम राज्य में और कोई मलिनता नहीं है केवल होमधूम की मलिनता है, और केवल पीपल पत्र ही चञ्चल है। बालनाश (बालकों का मरना) नहीं होता केवल नाममात्र को क्षौर में ही बाल (केश) नाश होता है और तीक्ष्णता तो केवल शस्त्र में ही रह गई है (क्योंकि वही तो उसका धर्म है)।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट परिसंख्या ।

मूल—

लेत जनेऊ भिक्षादानु। कुटिल चालि सरितानि बखानु।
व्याकरणै द्विज वृत्तिन हरैं। कोकिलकुल पुत्रनि परिहरैं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—द्विज = विद्यार्थी । वृत्ति = (१) जीविका, रोजी (२) सूत्र का अर्थ ।

भावार्थ—रामराज्य में कोई भी भिक्षुक नहीं, केवल यज्ञोपवीत होते समय बरुवा (बटु) भिक्षादान लेता है। (क्योंकि वह शास्त्रविधि है), कुटिल चाल केवल नदियों में कह लो। कोई भी किसी की वृत्ति (रोजी) हरण नहीं करता,

केवल व्याकरण पढ़ते समय विद्यार्थी गण सूत्र के अर्थ को लेते हैं (ग्रहण करते हैं) और केवल कोयल ही सन्तान-त्याग करती है और कोई नहीं।

अलङ्कार—परिसंख्या।

मूल—

फागुहि निगज लोग देखिये। जुत्रा दिवारी को लेखिये।
नित उठि बेझो ई मारिये। खेलत में केहूँ हारिये ॥१०॥

शब्दार्थ—बेझा = (सं० बेध्य) लक्ष्य, निशाना।

भावार्थ—रामराज्य में लोग केवल फाग में ही निर्लज्ज दिखाई पड़ते हैं, जुवा का खेल केवल दिवाली में ही होता है। (कोई किसी को मारता नहीं) नित्य वीर लोग निशाने को ही मारते हैं (लक्ष्यबेध का अभ्यास किया करते हैं) और हार किसी प्रकार खेल ही में होती है (अन्यत्र नहीं)।

अलङ्कार—परिसंख्या।

मूल—(दंडक)—

भावै जहाँ व्यभिचारी वैदै रमै परनारी।
द्विजगण दंडधारी चोरी परपीर की।
मानिनीन ही के मन मानियत मानभंग,
सिंधुहि उलंघि जाति कीरति शरीर की।
मूलै तो अधोगतिन पावत हैं केशोदास,
मीचु ही सों है वियोगी इच्छा गंगनीर की।
वंध्या बासनानि जानु विधवा सुवाटिका ही,
ऐसी रीति राजनीति राजै रघुबीर की ॥११॥

शब्दार्थ—व्यभिचारी = (१) परस्त्रीगामी (२) सञ्चारी भाव (काव्य का)। नारी = (१) स्त्री (२) हाथ की नाड़ी (नाटिका)। द्विज = विद्यार्थी। मानिनी = मानवती नायिका। मानभंग = (१) अपमान (२) मान का घूटना। मूल = पेड़ की जड़। बंध्या = (१) बाँझ (२) अफल, निष्फल। विधवा = (१) पतिरहित (२) धवा नामक वृक्ष से रहित।

भावार्थ—जहाँ केवल भावों में ही व्यभिचारी (सञ्चारी) भाव हैं—(अन्य कोई पुरुष व्यभिचारी नहीं), जहाँ केवल वैद्य ही पराई नाड़ी पकड़ते हैं

(कोई पुरुष परनारी गमन नहीं करते) जहाँ केवल नाममात्र को विद्यार्थी ही दंडधारी हैं (और कोई दंडित नहीं होता) और जहाँ चोरी केवल पर-पीड़ा की ही होती है (लोग पर पीड़ा हरण करते हैं) मानिनी नायिका ही मानभंग का अनुभव करती हैं (अन्य किसी का मान भंग नहीं होता) और कोई किसी सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता, केवल अवधनिवासियों के शरीरों की कीर्ति ही समुद्र सीमा का उल्लंघन करती है (अर्थात् उनके कृत्यों की कीर्ति समुद्र पार तक प्रसिद्ध हो जाती है) जहाँ कोई अधोगति को नहीं जाता, केवल पेड़ की जड़ें ही अधोगति को प्राप्त होती हैं (नीचे को जाती हैं), जहाँ मृत्यु ही का वियोग है (कोई मरता नहीं), किसी को कोई इच्छा नहीं (सब पूर्ण काम हैं), यदि इच्छा है तो केवल हरि चरणोदक गंगाजल पान की ही है। जहाँ कोई स्त्री बाँझ नहीं, केवल 'वासना' ही बाँझ है (अर्थात् शुभाशुभ भोग की इच्छा ही जहाँ निष्फल है, कोई स्वर्ग नरक भोग की वासना नहीं रखता, सब 'मुक्ति पद प्राप्त हैं) जहाँ विधवा (धवा वृक्ष रहित) केवल फुलवारी ही हैं (कोई स्त्री विधवा नहीं) ऐसी राजनीति श्रीरामजी की है।

अलङ्कार—श्लेषपुष्ट परिसंख्या।

मूल—(दोहा)—

कविकुल ही के श्रीफलन उर अभिलाष समाज।
तिथि ही को क्षय होत है रामचन्द्र के राज॥ १२॥

शब्दार्थ—श्रीफल =(१) लक्ष्मी के प्रति (२) बेल (कुच का उपमान)।

भावार्थ—राम राज्य में सब ही जन इतने धन सम्पन्न हैं कि किसी के हृदय में श्रीफल (धनप्राप्ति) की अभिलाषा होती ही नहीं, हाँ नाममात्र को कवियों को कभी-कभी (कुच का उपमान बताने के हेतु) बेल फल का नाम लेने की अभिलाषा होती है। रामजी के राज्य में किसी की क्षय नहीं होती है, यदि नाममात्र को होती है तो केवल पत्रा में किसी तिथि की क्षय होती है।

अलङ्कार—श्लेषपुष्ट परिसंख्या।

मूल—(दंडक)—

लूटिबे के नाते पाप पट्टनै तो लूटियत,

तोरिबे को मोहतरु तोरि डारियतु है।
घालिबे के नाते गर्व घालियतु देवन के,
जारिबे के नाते अघ ओघ जारियतु है।
बाँधिबे के नाते ताल बाँधियत केशोदास,
मारिबे के नाते तो दरिद्र मारियतु है।
राजा रामचन्द्रजू के नाम जग जीतियतु,
हारिबे के नाते आन जन्म हारियतु है ॥१३॥

शब्दार्थ—पाप=कष्ट (विहारी ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है, प्रमाण—बसिबे को ग्रीषम दिनन परयो परोसिन पाप (नोट)—यदि पाप का यह अर्थ न लें तो आगे 'अघओघ' के होने से पुनरुक्ति दोष होगा। पट्टन=नगर।

भावार्थ—रामराज्य में कोई किसी को लूटता नहीं. यदि लूटना ही हुआ तो रामनाम जप-जप कर कष्टों के नगर को लूटते हैं। इसी प्रकार कुछ तोड़ना हुआ तो मोहरूपी वृक्ष ही को तोड़ते हैं, देवताओं के गर्व को ही नष्ट करते हैं (ऐसे काम करते हैं कि देवता भी लजावें). जलाना हुआ तो पाप-समूह को ही जलाते हैं, बाँधना हुआ तो तालाब ही बाँधते हैं (तड़ाग बनवाते हैं) और मारना हुआ तो दारिद्र ही को मारते हैं। जीतना हुआ तो राम-नाम जप कर संसार को जीतते हैं (संसार-बन्धन से मुक्त होते हैं) और हारना हुआ तो अन्य जन्म ही हारते हैं (मुक्ति को प्राप्त करते हैं जिससे पुनः जन्म न लेना पड़े)।

अलङ्कार—परिसंख्या।

मूल—चन्द्रकला छन्द—(लक्षण—८ सगण। इसे दुर्मिल भी कहते हैं)

सब के कलपद्रुम के बन हैं सब के बर बारन गाजत हैं।
सब के घर शोभित देवसभा सब के जय दुंदुभि बाजत हैं॥
निधि सिद्धि विशेष अशेषन सों सब लोग सबै सुख साजत हैं।
कहि केशव श्रीरघुराज के राज सबै सुरराज से राजत हैं ॥१४॥

शब्दार्थ—बर बारन=श्रेष्ठ हाथी। देवसभा=गणेश, देवी, दुर्गा, इत्यादि की मूर्तियाँ पूजनार्थ सब के घर में हैं। निधि सिद्धि विशेष अशेषन सों=नवों

निधियों और विशेष कर सब सिद्धियों के प्राप्त होने के कारण। नवो निधियाँ = (१) पद्म (२) महापद्म (३) शंख (४) मकर (५) कच्छप (६) कुंद (७) मुकुन्द (८) नील और (वर्च्चस)। सिद्धियाँ = आठ सिद्धियाँ— (१) अणिमा, (२) महिमा (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, (८) वशित्व।

भावार्थ—रामराज्य में सब जनों के कल्पवृक्ष के बाग हैं, सब के दरवाज़े श्रेष्ठ हाथी (ऐरावत समान) सब के घरों में पूजनार्थ देवसभा स्थापित है, सब के यहाँ विजय बाजे बजते हैं। नवों निधियों तथा विशेष कर समस्त सिद्धियों के कारण सब लोग सब प्रकार के सुखों से सजे हुए हैं (सब को सब सुख प्राप्त हैं) केशवदास कहते हैं कि इस प्रकार श्रीरामजी के राज्य में सभी लोग इन्द्र के समान शोभा पा रहे हैं।

अलंकार—उदात्त।

मूल—(दंडक)

जूझहि में कलह कलह-प्रिय नारद,
कुरूप है कुबेरै लोभ सब के चयन को।
पापन की हानि डर गुरुन को बैरी काम,
आगि सर्वभक्षी दुखदायक अयन को।
विद्या ही में बादु बहुनायक है बारिनिधि,
जारज है हनुमन्त मीत उदयन को।
आँखिन आछत अंध नारिकेर कृश कटि,
ऐसो राज राजै राम राजिवनयन को॥१५॥

शब्दार्थ—चयन = चैन, आनन्द। दुखदायक अयन को = घरों को जला देनेवाला। बहुनायक = बहुत स्त्रियों का पति। जारज = दोगला, हरामजादा। मीत उदयन को = सब के अभ्युदय (बढ़ती) का आकांक्षी। नारिकेर = नारियल। कृश = पतली दुबली।

भावार्थ—श्रीरामजी का राज्य ऐसा है कि दुर्गुणी मनुष्य कोई है ही नहीं, केवल जूझने ही में लोग कलह करते हैं (अर्थात् एक कहता है कि पहले मैं युद्ध में जाऊँगा, दूसरा कहता है मैं पहले जाऊँगा इत्यादि), कलह-

प्रिय केवल नारद ही हैं, केवल कुबेर ही कुरूप हैं, और सब को केवल यही लोभ लगा रहता है कि सब लोग चैन से रहें। हानि केवल पापों ही की है, डर केवल गुरुजनों का है, बैरी केवल 'काम' है, और घरों का दुखदायक एक अग्नि ही सर्वभक्षी है। विद्या ही में बाद-विवाद होता है, बहुपत्नी-भोगी केवल समुद्र ही है, और जारज केवल हनुमान हैं जो सब का अभ्युदय चाहते हैं। आँख होते अंधा केवल नारियल ही है (अन्य कोई नहीं) और केवल कमर ही दुबली-पतली है, अन्य कोई नहीं।

अलंकार—परिसंख्या।

मूल—(दोहा)—

> **कुटिल कटाक्ष कठोर कुच, एकै दुःख अदेय।**
> **द्विस्वभाव है श्लेष में, ब्राह्मण जाति अजेय॥ १६॥**

भावार्थ—केवल युवतियों के कटाक्ष ही कुटिल हैं (अन्य कोई नहीं) और केवल कुच ही कठोर हैं, केवल एक दुःख ही अदेय वस्तु है। दुविधा की बात कहना केवल श्लेष अलंकार में ही है (अन्य कोई भी दो अर्थी बात नहीं कहता, सब लोग निश्चयात्मक बात कहते हैं) और केवल ब्राह्मण ही अजेय हैं।

अलङ्कार—परिसंख्या।

मूल—(तोमर छन्द)—

> **बहँ शब्द बचक जानि। अलि पश्यतोहर मानि।**
> **नर छाहँई अपवित्र। शर खड्ग निर्दय मित्र॥ १७॥**

शब्दार्थ—बंचक = ठग। पश्यतोहर = देखते हुए हर लेनेवाला, आँखों के सामने चोरा लेनेवाला (सोनार)।

भावार्थ—रामराज्य में ठग कोई नहीं है, केवल 'वंचक' शब्द ही कोष में पाया जाता है, केवल भौंरा ही ऐसा पश्यतोहर है जो आँखों देखते फूलों से मधु चोरा लेता है, मनुष्य की छाया ही अपवित्र है (अन्य कोई अपवित्र नहीं) और बाण तथा तलवार ही निर्दय मित्र रह गये हैं (अन्य मित्र निर्दय नहीं)।

अलंकार—परिसंख्या।

मूल—(सोरठा)—

गुण तजि अवगुण जाल, गहत नित्यप्रति चालनी।
पुंश्चली ति तेहि काल, एकै कीरति जानिये॥ १८॥

शब्दार्थ—पुंश्चली = छिनाल। ति = स्त्री।

भावार्थ—रामराज्य में केवल 'चलनी' ही ऐसी है जो गुण छोड़ अवगुण को संग्रह करती है। उस समय केवल कीर्ति ही एक ऐसी स्त्री है जो बहु पुरुषों से लगन लगाती फिरती है।

अलंकार—परिसंख्या।

मूल—(दोहा)—

धनदलोक सुरलोकयुत, सप्तलोक के साज।
सप्तद्वीपवति महि बसी, रामचन्द्र के राज॥ १९॥

भावार्थ—रामजी के राज्य काल में सात द्वीपवाली पृथ्वी, धनदलोक, तथा सुरलोक सहित सातों लोकों की संपत्ति और सुख के समान सहित बसती थी अर्थात् इस पृथ्वी पर ही सब लोकों के सुख प्राप्त थे।

अलङ्कार—उदात्त।

मूल—

दस सहस्र दस सै बरष, रसा बसी यहि साज।
स्वर्ग नरक के मग थके, रामचन्द्र के राज॥ २०॥

भावार्थ—रामजी के राज्यकाल में यह पृथ्वी इस तरह ११००० वर्ष रही और स्वर्ग तथा नरक के रास्ते बन्द हो गये (अर्थात् कोई मरता न था और सब एक साथ ही मुक्ति-पद को प्राप्त हुए)।

(अट्ठाईसवाँ प्रकाश समाप्त)

उनतीसवाँ प्रकाश

—:०:—

(दोहा)—

उनतीसएँ प्रकाश में, बरणि कह्यौ चौगान।
अवध-दीप्ति शुक की विनति, राजलोक गुणगान॥

शब्दार्थ—चौगान = गेंद का खेल जिसे अब पोलो (Polo) कहते हैं। अवध-दीप्ति = अयोध्या की रोशनी। राजलोक = राजमहल।

(चौगान वर्णन)

मूल—(चौपाई छंद)—

एक काल अति रूपनिधान। खेलन को निकरे चौगान।
हाथ धनुष शर मन्मथ रूप। संग पयादे सोदर भूप॥ १॥

शब्दार्थ—अति रूपनिधान = अति रूपवान श्रीरामजी। चौगान = गेंद का खेल जो सवारी पर चढ़कर खेला जाता है। मन्मथ = कामदेव। सोदर = भाई।

(नोट) सन्देह है कि यह खेल राम के समय में खेला जाता था या कवि की कल्पना मात्र है। 'चौगान' शब्द फारसी भाषा का है।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

जाको जबही आयसु होय। जाइ चढ़ै गज बाजिन सोय।
पशुपति से रघुपति देखिये। अनु गण-सैन महा लेखिये॥२॥

शब्दार्थ—पशुपति = महादेव। अनु = पीछे। गण-सैन = साथियों का यूथ।

भावार्थ जिसको जब रामजी हुकुम देते हैं तब वह बताये हुए घोड़े वा हाथी पर सवार होता है। इस समय रामजी शिव के समान दिखाई पड़ते हैं जिनके पीछे गणों (अनुचरों) की बड़ी भारी सेना चलती है। उसी सेना को वीरभद्रादि गणों की सेना समझिये।

अलङ्कार—उपमा।

मूल —

बीथी सब असवारिन भरी। हय हाथिन सों सोहति खरी।
तरु पुंजन स्यों सरिता भली। मानहु मिलन-समुद्रहि चली॥३॥

भावार्थ—बीथी = गली। हय = घोड़ा। स्यों = सहित, समेत।

भावार्थ—पूरी गली सवारियों से भर गई है, हाथी-घोड़ों से वह गली खूब शोभित है, मानो कोई नदी जलगत तरुपुंज समेत समुद्र से मिलने जा रही हो।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल —

यहि बिधि गये राम चौगान। सावकाश सब भूमि समान।
शोभन एक कोस परिमान। रचो रुचिर तापर चौगान ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—चौगान=गेंद खेलने का मैदान। सावकाश=खूब लम्बा चौड़ा। समान=चौरस, बराबर (जो ऊँची नीची न हो)। शोभन=सुन्दर। चौगान=गेंद का खेल, पोलो।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

एक कोद रघुनाथ उदार। भरत दूसरी कोद बिचार।
सोहत हाथे लीन्हें छरी। कारी पीरी राती हरी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कोद=तरफ, ओर। राती=लाल।

भावार्थ—सरल है।

मूल—

देखन लगो सबै जगजाल। डारि दयो भुव गोला हाल।
गोला जाइ जहाँ जहँ जबै। होत तहीं तितही तित सबै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—हाल गोला=चौगान का गेंद। तहीं=तुरन्त, उसी समय। तित=तहाँ।

भावार्थ—जग के लोग देखने लगे, जमीन में गेंद डाल दिया गया। वह गेंद जब जहाँ जाता है, वहीं सब खिलाड़ी तुरन्त पहुँचते हैं।

मूल—

मनो रसिक लोचन रुचि रचे। रूप सङ्ग बहु नाचनि नचे।
लोक लाज छाड़े अँग अँग। डोलत जन मनु जाया सङ्ग ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—रुचि रचे=सौन्दर्य पर अनुरक्त। जन=मनुष्य। मनु=मानो। जाया=पत्नी, स्त्री। अँग अँग=पूर्णतः।

भावार्थ—(वे खेलाड़ी गेंद के संग-संग इस प्रकार दौड़ते फिरते हैं) मानों रसिकों के लोचन सौन्दर्य पर अनुरक्त होकर रूप के साथ-साथ अनेक नाच नाचते फिरते हों, वा पूर्णतः लोक-लज्जा छोड़कर मनुष्य अपनी प्यारी पत्नी के साथ साथ घूमता फिरता हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

मूल –

गोला जाके आगे जाय । सोई ताहि चलै अपनाय ।

जैसे तियगण को पति रयो । जेहि पायो ताही को भयो ॥ ८ ॥

भावार्थ—गेंद जिसके पास जाता है वही उसको अपनाकर पाली की ओर ले चलता है, जैसे बहुपत्नी-अनुरागी पति जिस स्त्री को मिल गया उसीका हो रहा

अलंकार—उदाहरण ।

मूल—

उतते इत इतते उत होइ । नेकौं ढील न पावै सोइ ।

काम क्रोध मद मढ़ो अपार । जैसे जीव भ्रमै संसार ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—उत = वहाँ । इत = यहाँ । नेकौं = जरा भी, तनक भी । ढील = अवकाश छुट्टी । मढ़ो = लपेटा हुआ, युक्त ।

भावार्थ—वह गेंद वहाँ से यहाँ और यहाँ से वहाँ जाता है, उसे तनक भी छुट्टी नहीं मिलती । जैसे अपार काम क्रोध युक्त जीव संसार में भ्रमण करता है उसी प्रकार की दशा गेंद की है ।

अलङ्कार—उदाहरण ।

मूल—

जहाँ तहाँ मारे सब कोय । ज्यो नर पञ्च-विरोधी होय ।

घरी घरी प्रति ठाकुर सबै । बदलत बासन बाहन तबै ॥ १० ॥

शब्दार्थ—ठाकुर = राजकुमार । बासन = वस्त्र ।

भावार्थ—वह गेंद जहाँ ही जाता है वहीं उसे सब मारते हैं, जैसे पंच-विरोधी, नर जहाँ जाता है वहीं उसका अपमान होता है । एक एक घड़ी पर सब राजकुमार वस्त्र और बाहन बदलते हैं ।

अलङ्कार—उदाहरण ।

मूल—(दोहा)—

जब जब जीतैं हाल हरि, तब तब बजत निशान ।

हय गय भूषण भूरि पट, दीजत लोगनि दान ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—हाल = बाजी, पाली । (नोट)—वास्तव में यह फारसी शब्द

है। गयासुल्लुगात में इसका अर्थ—वे स्तंभ जो दोनों पालियों के स्थान पर गाड़े जाते हैं, जिनके बीच में होकर गेंद को मैदान के बाहर निकाल देना ही बाजी जीतना माना जाता है—लिखा है। निशान = बाजे। गय = गज, हाथी। भूरि = बहुत से।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(चौपाई)

तब तेहि समय एक बेताल। पढ्यौ गीत गुनि बुद्धिविशाल।
गोलन की विनती सुख पाय। रामचन्द्र सों कीन्ही आय॥ १२॥

शब्दार्थ—ताल = भाट, वंदी। गुनि = सुअवसर जानकर। बुद्धिविशाल = बैताल का विशेषण है।

भावार्थ—तब उसी समय एक बड़े बुद्धिमान भाट ने एक कवित्त पढ़ा, मानो श्रीरामजी से गोलों की विनती सुनाई।

अलङ्कार—गम्योत्प्रेक्षा।

मूल—(दण्डक छंद)—

पूरब को पुरा पुरी पापरपुरी से तन,
बापुरी वै दूरिही तें पायन परत हैं।
दक्षिन की पच्छिनी सी गच्छैं अंतरिक्ष मग
पच्छिम की पक्षहीन पक्षी ज्यों उरत हैं।
उत्तर की देतीं हैं उतारि शरणागतनि,
बातन उतायली उतार उतरत हैं।
गोलन की मूरतिन दीजै जू अभयदान,
रामबैर कहाँ जायँ विनती करत हैं॥१३॥

शब्दार्थ—पुरा = छोटे-छोटे पुरवा (ग्राम)। पुरी = कुछ बड़े व नगर। पापर-पुरी से तन = पापड़ की तरह अति कमजोर, जो तनक धक्के टूट जायँ। बापुरी = बेकारी। पच्छिनी = चिड़िया। गच्छैं अंतरिक्ष मग = आकाश को चली जाती हैं (गोलों की ठोकर से टूट कर)। बातन उतायली जल्दी-जल्दी बातें करके। उतार = हलुआपन।

भावार्थ—भाट कहता है कि हे रामजी! अब गेंदों को अभयद

दीजिये, क्योंकि वे विनती करते हैं कि राम से बैर करके हम कहाँ जायँ, कहीं भी शरण नहीं मिलती। क्योंकि पूर्व की ओर जाते हैं तो वहाँ के पुर और नगरियाँ पापर के समान दुर्बल तन वाली होने के कारण बेचारी दूर ही से पैरों पड़ती हैं कि हमारे पास मत आओ हम तुमको शरण न दे सकेंगी। दक्षिण दिशा की नगरियाँ हमें आते देख पक्षी की तरह आकाश को उड़ जाती हैं, पश्चिम की पुरियाँ पक्षी की तरह उड़ना चाहती हैं, पर पक्षहीन होने से उड़ नहीं सकतीं, और उत्तर की पुरियाँ शरणागतों को अपने पहाड़ी स्थानों से उतार देती हैं तेजी से बातें करती हैं कि ढलवाँ भूमि है जलदी से उतर जाओ, अतः हमें उतरते ही बनता है।

(नोट)—उत्तम व्यंग है। स्तुतिपूर्वक गोलों की विनती के बहाने खेल बन्द कराने का व्यंग है। अब खेल बन्द करो।

अलङ्कार—अनुप्रास, अप्रस्तुत प्रशंसा।

मूल—(चौपाई छंद)—

गोलन की बिनती सुनि ईश। घर को गमन कर्यौ जगदीश।
पुर पैठत अति शोभा भई। बीथिन असवारी भरि गई ॥१४॥

शब्दार्थ—जगदीश = श्रीरामजी। बीथी = गली।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

मनो सेतु मिलि सहित उछाह। सरितन के फिरि चले प्रवाह।
ताही समय दिवस नाश गयो। दीप उदोत्त नगर महँ भयो ॥१५॥

भावार्थ—गलियों में रामसेना चौगान से लौटी आती है वह ऐसी जान पड़ती है, मानो समुद्र के सेतु से टकराकर उत्साहपूर्वक नदियों के प्रवाह उलटे बह चले हैं। उसी समय संध्या हो गई और नगर में चिराग जले।

(नोट)—यहाँ नदियों के उलटे प्रवाह चलने का वर्णन इस कारण किया गया है क्योंकि छंद नं० ३ में उसी सेना को समुद्र और प्रवाहिनी नदी कह आये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(अयोध्या की रोशनी का वर्णन)

मूल—(चौपाई छंद)—

नखतन की नगरी सी लसी। मानो अवध दिवारी बसी।
नगर अशोक वृक्ष रुचि रयो। मधु प्रभु देखि प्रफुल्लित भयो ॥१६॥

शब्दार्थ—रुचि रयो = शोभा से रंजित, अति सुन्दर। मधु = बसन्त ऋतु।

भावार्थ—दीपकों के जलने से नगर की ऐसी शोभा हुई मानो वह नक्षत्रों की ही नगरी हो, वा मानो दिवारी ही आकर अवध में बस गई है। अथवा वह नगर सुन्दर अशोक वृक्ष है और श्रीरामजी बसन्त हैं, अतः उन्हें आया हुआ जान प्रफुल्लित हुआ है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपक।

मूल—

अध, अधफर, ऊपर आकाश। चलत दीप देखियत प्रकाश।
चौकी दै जनु अपने भेव। बहुरे देवलोक को देव ॥१७॥

शब्दार्थ—अध = नीचे। अधफर = आकाश में कुछ ऊपर। ऊपर आकाश = आकाश के बहुत ऊँचे भाग में। भेव = समय परिमाण।

भावार्थ—(कुछ गुब्बारे उड़ाये गये हैं) कुछ चलते दीपक आकाश के निचले भाग में हैं, कुछ मध्य अंतरिक्ष में हैं और कुछ बहुत उँचाई पर हैं। उनका प्रकाश ऐसा जान पड़ता है मानो देवगण अपने अपने समय परिमाण का पहरा देकर देवलोक को लौटे जा रहे हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

बीथी विमल, सुगंध, समान। दुहुँ दिशि दीसत दीप अमान।
महाराज को सहित सनेह। निज नैनन जनु देखत गेह ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—बिमल = स्वच्छ, तृणधूलादि रहित। सुगन्ध = सुगन्धित। समान = बराबर। (ऊबड़ खाबड़ नहीं)। अपमान = असंख्य, बेशुमार। सनेह =(१) तैलयुक्त (२) प्रेमयुक्त।

भावार्थ—अवध की ये गलियाँ स्वच्छ हैं, सुगन्धित हैं और समतल हैं

दोनों ओर असंख्य तैलयुक्त चिराग रक्खे हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो अयोध्या के घर प्रेम युक्त होकर निज नेत्रों से अपने महाराज के दर्शन कर रहे हैं (क्योंकि कभी-कभी ऐसा अवसर मिलता है)।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल –

बहु विधि देखत पुर के भाय। राजसभा महँ बैठे जाय।
पहर एक निशि बीती जहीं। विनती को शुक आयो तहीं॥ १९॥

शब्दार्थ – पुर के भाय = पुरवासियों की चेष्टाएँ। शुक = शुक नामक एक अंतरंग सखा।

भावार्थ— श्रीरामजी पुरवासियों की अनेक भाव भरी चेष्टाएँ देखते हुए आकर राजसभा में बैठे। जब एक पहर रात्रि व्यतीत हो गई तब शुक नामक एक अंतरंग सखा ने महलों से आकर विनती की।

(शयनागार का वर्णन)

मूल—(शुक) हरिप्रिया छन्द—(लक्षण-१२+१२+१२+१० =४६ मात्रा, अंत में २ गुरु)

पौढ़िये कृपानिधान, देवदेव रामचन्द्र,
चंद्रिका समेत चंद्र, रैनि चित्त मोहै।
मनहु सुमन-सुमति संगु, रुचे रुचिर सुकृत रंग,
आनँदमय अंग-अंग, सकल सुखन सोहै॥
ललित लतन के बिलास, भ्रमरवृन्द ह्वै उदास,
अमल कमल-कोश आसपास बास कीन्हे।
तजि तजि माया दुरंत, भक्त रावरे अनंत,
तव पद कर नैन बैन, मानहु मन दीन्हें॥२०॥

शब्दार्थ—चन्द्रिका = चाँदनी। सुमन = सुन्दर मन, सात्विकी मन। सुमति = अच्छी बुद्धि। सुकृत = पुण्य। दुरंत = दुस्तर। बैन = वदन (मुख)।

भावार्थ— शुक ने आकर कहा कि हे देवदेव रामचन्द्र! अब समय हो गया दरबार समाप्त कीजिये और चलकर महल में शयन कीजिये, देखिये तो

आज रात्रि में चाँदनीयुक्त चन्द्र किस प्रकार मनोहर जान पड़ता है, मानो सुबुद्धि युक्त सुन्दर सात्विकी मन, सुन्दर शुभकर्मों में रँगा हुआ, और सर्वांग आनन्द-निमग्न सब सुखों सहित शोभता हो; भ्रमर वृन्द सुन्दर लताओं के संग की क्रीड़ा को छोड़, स्वच्छ कमल कोश के इर्दगिर्द एकत्र हो रहा है. मानो आपके असंख्य भक्त दुस्तर माया को छोड़ आपके चरणों, हाथों, नेत्रों और मुख पर मन लगाए हों।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल

घर घर संगीत गीत, बाजन बाजैं अजीत,
काम भूप आगम जनु, होत हैं बधाये।
राजभौन आसपास. दीपवृक्ष के विलास,
जगत ज्योति यौवन जनु ज्योतिवंत आये॥
मोतिनमय भीति नई, चंद्र चंद्रिकानि मई,
पंक-अंक अंकित भव, भूरि भेद बारी।
मानहुँ शशि पंडित करि, जान्हु ज्योति मडित श्री.
खंड शैल की अखंड, शुभ्र दरीसारी॥२१॥

शब्दार्थ—गीत-बाजन = गान के साथ बजने वाले बाजे (जैसे सारंगी तबला ताल आदि)। अजीत = अत्यन्त उत्तम स्वर वाले। दीपवृक्ष = वृक्ष के आकार की बड़ी-बड़ी दीवटें जिन पर सैकड़ों हजारों दीपक रख सकते हैं। ऐसा एक दीपवृक्ष अभी भी काशी में पंचगंगा घाट पर बिंदुमाधव के मंदिर के पास बना है। लखनऊ में ईमामबाड़े में हज़ार बत्तीवाले झाड़ अभी भी मौजूद हैं)। ज्योतिवंत = यह शब्द 'यौवन' का विशेषण है। भीति = दीवार। पंक = चन्दन पंक (घिसा हुआ चन्दन)। अंक = चिन्ह (यहाँ पर) चित्र। भव भूरि भेद = संसार की अनेक वस्तुओं के (चित्र)। पंडित = चतुर। श्रीखंड = चन्दन। श्रीखंड-शैल = मलयागिरि। दरी = कंदरा।

भावार्थ—घर-घर में संगीत हो रहा है और गान के समय बजने वाले उत्तम स्वर के बाजे भी बज रहे हैं, मानो कामराज के आगमन के उपलक्ष में बधाई बज रही है। राजभवन के इर्दगिर्द के दीपवृक्ष ऐसे शोभित हैं मानों

ज्योतिवन्त यौवन के आने से किसी युवा का शरीर जगमगाता हो। मुक्तामय नवीन दीवारों पर, जिन पर संसार भर की वस्तुओं के अनेक चित्र चन्दन से बने हुए हैं, चन्द्रमा की चाँदनी पड़ रही है, उसकी शोभा ऐसी जान पड़ती है मानो चतुर चन्द्रमा ने समस्त मलयगिरि की सभी कंदराओं को चाँदनी से मंडित कर शुभ्र कर दिया है।

(नोट)—यहाँ चन्द्रमा को पण्डित कहने का तात्पर्य यह है कि साधारणतः चन्द्रमा की चाँदनी कंदरा के भीतरी भाग में नहीं जाती, पर यहाँ पर रामसेवा के वास्ते चन्द्रमा ने विलक्षण चतुराई से मलयगिरि समान उत्तुंग राममहल की कोठरियों को भी चाँदनी से मंडित कर दिया है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

एक दीप दुति विभाति, दीपति मणि दीप पाँति,
मानहु भुवभूप तेज, मन्त्रिन मय राजै।
आरे मणिखचित खरे, बासन बहु वास भरे,
राखित गृह-गृह अनेक, मनहु मैन साजै॥
अमल, सुमिल, जलनिधान, मोतिन के शुभ वितान,
तामहँ पलिका जराय, जड़ित जोब हर्षै।
कोमल तापै रसाल, तनसुख की सेज लाल,
मनहु सोम सूरज पे, सुधाबिंदु वर्षै॥२२॥

शब्दार्थ—विभाति=शोभित है। दीपति=प्रकाशित करती है। मंत्रिन-मय=मंत्रियों के रूप में आरे=ताखे (आले)। मणिखचित=मणिजटित। बासन=पात्र। बास=सुगंध। मनहु मैन साजै=मानो काम ही के काम की वस्तुएँ हैं। अमल=स्वच्छ (सफेद)। सुमिल=बराबर के, एक आकार के (छोटे बड़े नहीं)। जलनिधान=खूब आबदार, चमकीले। वितान=चँदोवा। पलिका=पलंग। जरायजड़ित=रत्नजड़ित। तनसुख=एक लाल रेशमी कपड़ा। सोम=चन्द्रमा।

भावार्थ—कमरे में केवल एक दीपक जलता है तो उसके प्रकाश से दीवारों में जड़ी हुई मणियाँ प्रकाशित हो उठती हैं (झिलमलाने लगती हैं), वे ऐसी

मालूम होती हैं मानों पृथ्वी पर राजतेज से मंत्रियों का तेज शोभित है (राजा ही के प्रताप से मंत्रियों में तेज होता है)। अच्छे मणिजटित आलों (ताखों) में अनेक सुगंध भरे पात्र प्रति घर में रक्खे हैं, वे ऐसे अच्छे हैं मानो काम ही के प्रयोग का वस्तुएँ हैं। वही स्वच्छ सफेद बराबर और आबदार मोतियों के चँदोवा के नीचे जड़ाऊ पलंग बिछा है जिसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। उस पलंग पर मुलायम और सुन्दर लाल रंग की साटन की तोशक बिछी है (और ऊपर मोतियों की झालर समेत चँदोवा है, यह सेज ऐसी जान पड़ती है, मानो सूर्य पर चन्द्रमा अमृत के बूँद टपका रहा है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

फूलन के विविध हार, घोरिलन ओरमत उदार,
बिच बिच मणिश्याम हार, उपमा शुक भाषी।
जीत्यो सब जगत जानि, तुमसों हिय हार मानि,
मनहु मदन निज धनु तें, गुन उतारि राखी॥
जल थल फल फूल भूरि, अंबर पटबास धूरि,
स्वच्छ यक्षकर्दम हिय, देवन अभिलाषे।
कुंकुम मेदोजबादि, मृगमद करपूर आदि,
बीरा बनितन बनाय भाजन भरि राखे॥२३॥

शब्दार्थ—घोरिला = घोरा, खूँटा (दीवारों में गड़ी हुई खूटियाँ जिनमें वस्तुएँ टाँग दी जाती हैं—बुँदेलखडी)। ओरमत = लटकते हैं। उदार = बहुत से। गुन = प्रत्यंचा। अंबर = कपड़े। पटबास = कपड़े बासने की सुगंधित वस्तु। धूरि = चूर्ण। यक्षकर्दम = एक प्रकार का अंगलेप जो कपूर अगर कस्तूरी और कंकोल पीसकर बनाया जाता है। कुंकुठ = केशर। मेद = इत्र जबादि = (फा० जुबाद) बनबिलाव के अंडकोश की कस्तूरी (यह वस्तु उबटन में पड़ती है) अतः इसका अर्थ साधारणतः 'सुगंधित उबटन' लिया जाता है। मृगमद = कस्तूरी। बीरा = पान।

भावार्थ—(उस शयनागार में) खूँटियों में फूलों के विविध प्रकार के बहुत से गजरे लटक रहे हैं, बीच-बीच में नीलम के गजरे हैं, जिसकी मिसाल

उस शुक नामक सखा ने यों वर्णन की कि कामदेव ने सारे संसार को जीतकर, पर हे रामजी ! तुमसे हार मानकर, अपने धनुष की प्रत्यंचा उतारकर यहाँ लटका दी है। हार मानकर अपना अस्त्र तुम्हें समर्पण कर गया है। जल और थल के अनेक फल फूल भी यहाँ हैं, कपड़े और वस्त्र सुवासित करने के चूर्ण भी यहाँ हैं, स्वच्छ यक्षकर्दम नामक अंगराग भी है, जिसके लगाने की देवता अभिलाष करते हैं। केशरयुक्त सुगंधित उबटन भी है और कस्तूरी कर्पूरादि से युक्त पान के बीड़े बनाकर स्त्रियों ने पानदान भर रक्खे हैं—(ये सब सामान शयनागार में मौजूद हैं)।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

पन्नगी नगी कुमारि, आसुरी सुरी निहारि,
बिबिध बीन किन्नरीन, किन्नरी बजावै।
मानो निष्काम भक्ति, शक्ति आप आपनीसु,
देहन धरि प्रेमन भरि, भजन भेद गावैं।
सोदर, सामंत, सूत, सेनापति, दास, दूत,
देश देश के नरेश, मंत्रि मित्र लेखो।
बहुरे सुर असुर सिद्ध, पंडित मुनि कवि प्रसिद्ध,
केशव बहु राय राज, राजलोक देखो ॥२४॥

शब्दार्थ—पन्नगी = नागकन्या। नगीकुमारि = पहाड़ी देशों की कन्याएँ। आसुरी = असुर कन्याएँ। सुरी = देवकन्याएँ। किन्नरी = किन्नरों की कन्याएँ। किन्नरी = सारंगी। बहुरे = लौटे, वापस जाते हैं। राय राज = रावराजा, (छोटे सर्दार) राजलोक = राजमहल।

भावार्थ—(आपको सोलाने के लिये) नागकन्याएँ, काश्मीरादि पार्वत्य देशों की सुन्दरी कन्याएँ, असुरकन्याएँ, देवकन्याएँ, किन्नरकन्याएँ सब मिलकर विविध राग से वीणा और सारंगी बजा रही हैं, मानो अनेक भक्तों की अकाम भक्तियाँ अपनी अपनी शक्ति से सुन्दर शरीर धरकर और प्रेम में निमग्न होकर विविध भजन गा रही हैं। भाई, सामंत, सारथी, सेनापति, दास, दूत, देश देश के राजे, मंत्री, मित्र, सुर, असुर, सिद्ध, पंडित, मुनि और नामी कवि

इत्यादि तथा अनेक रावराजे सब आज्ञा ले-लेकर अपने-अपने स्थानों को लौट रहे हैं अतः अब आप भी राजमहल को चलिये।

अलङ्कार—उदात्त।

मूल—

कहि केशव शुक के बचन, सुनि सुनि परम बिचित्र।
राजलोक देखन चले, रामचन्द्र जग मित्र॥ २५॥

भावार्थ—सरल ही है।

(राजमहल का वर्णन)

मूल—नराच छंद-(ल० -क्रम से आठ बार लघु गुरु, १६ अक्षर)

सुदेश राजलोक आस पास कोट देखियो।
रची विचारि चारि पौरि पूरबादि लेखियो॥
सुबेश एक सिंहपौरि एक दंतिराज है।
सु एक बाजिराज एक नंदिबेष साज है॥ २६॥

शब्दार्थ—सुदेश = सुन्दर। राजलोक = राजभवन। कोट = चहारदीवारी। पौरि = द्वार। सुबेश = सुन्दर। सिंहपौरि = वह द्वार जहाँ द्वार के दोनों ओर सिंह की मूर्ति स्थापित रहती है (बड़े पुष्ट द्वारपाल रक्षक रहते हैं) यह पूर्व द्वार कहलाता है। दंतिराज = हस्तिपौरि। बाजिराज = अश्वपौरि। नंदिवेष = नंदीपौरि (इस ओर से स्त्रियों का आवागमन रहता है। हाथीपौरि दक्षिण ओर, अश्वपौरि पश्चिम ओर और नंदी पौरि उत्तर ओर होती है)।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(दोहा)—

पाँच चौक मध्यहि रचे, सात लोक, तरहारि।
षट ऊपर तिनके तहाँ, चित्रे चित्र बिचारि॥ २७॥

शब्दार्थ—चौक = आँगन। सात लोक = सात खंड का। तरहारि = तले, ज़मीन के नीचे। चित्रे = चित्र बने हुए हैं।

भावार्थ—राजमहल में पाँच चौकें हैं, और वे सब मकान सतखंडे हैं, जिनमें से एक खंड तो ज़मीन के नीचे बना है और उसके ऊपर के छः

खंड ज़मीन के ऊपर हैं। वहाँ दीवारों पर अनेक प्रकार की यथायोग्य उपयुक्त चित्रकारी की हुई है।

मूल—चामर छंद—(लक्षण—१५ वर्ण, क्रमशः सात बार गुरु लघु, और अंत में गुरु)

भोज एक चौक मध्य, दूसरे रची सभा।
तीसरे विचार मंत्र चौथ नृत्य की प्रभा॥
मध्य चौक में तहाँ विदेहकन्यका बसै।
सर्व भाव रामचन्द्रलीन सर्वथा लसै॥२८॥

शब्दार्थ—भोज=भोजनागार, रंधनशाला, रसोई। विचारमंत्र=कांउसिल घर। नृत्य की प्रभा=नाट्यशाला। विदेहकन्यका=सीता जी। रामचन्द्रलीन=रामसेवा में तत्पर तथा उनके प्रेम में तल्लीन।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—दोधक छंद—(ल०—तीन भगण दो गुरु=११ वर्ण)

मंडप कंचन को एक सोहै। सेत तहाँ छतुरी मन मोहै।
सोहत शीरष मेरुहि मानो। सुन्दर देव-दिवान बखानों॥२९॥

शब्दार्थ—मेरुहि=मेरु पर्वत का। देव-दिवान=देवसभा। शीरष=सिर।

भावार्थ—वहाँ (जिस चौक में सीताजी रहती हैं) एक सुवर्णमय मंडप है, जिस पर सफेद चँदोवा तना है। वह मंडप ऐसा जान पड़ता है। मानों मेरु के शिखर पर देवसभा बनी है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

मंडप लालन को यक सोहै। स्याम तहाँ छतुरी मन मोहै।
ता हिय या उपमा हिय साजै। सूरज अंक मनो शनि राजै॥३०॥

भावार्थ—वहाँ एक माणिकमय मंडप है, जिसपर श्याम रंग का वितान है। उसकी समता हृदय में ऐसी सजती है मानो सूर्य की गोद में शनिदेव (सूर्यपुत्र) शोभित हो रहे हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—
मंडप नीलम को यक सोहै। सेत तहाँ छतुरी मन मोहै।
मानहु हंसन की अवली-सी। प्राविट काल उड़ाय चली सी ॥३१॥

शब्दार्थ—प्राविटकाल=प्रारंभिक वर्षा काल।

भावार्थ—वहाँ एक नील मणियों का मंडप है, जिस पर सफेद छत्र है, वह ऐसी जान पड़ती है मानो प्रारम्भिक वर्षाकाल में हंसावली उड़ चली हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—
मंडप सेत लसै अति भारी। सोहत है छतुरी अति कारी।
मानहु ईश्वर के सिर सोहै। मूरति राघव की मन मोहै ॥३२॥

शब्दार्थ—ईश्वर=महादेव। राघव=रामचन्द्र।

भावार्थ—वहाँ एक अति बड़ा सफेद मंडप है जिसकी छतरी अति श्याम है, वह ऐसी जान पड़ती है मानो महादेव के सिर पर राम की मूर्ति बैठी हुई मन को मोह रही है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—तोटक छंद—(लक्षण—४ सगण)
सब धामन में यक धाम बन्यो। अति सुन्दर सेत सरूप सन्यो।
शनि सूर बृहस्पति मंडल में। परिपूरण चंद्र मनों बल में ॥३३॥

शब्दार्थ—सुरूप सन्यो=सुन्दर।

भावार्थ—(इन उपर्युक्त) सब मंडपों के बीच में एक अति सुन्दर सफेद घर बना है। मानो शनि, सूर्य और गुरु आदिक ग्रहों के मध्य अपने पूर्ण बल से पूर्णचन्द्र विराजता हो।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

(नोट)—यहाँ पूर्ण चन्द्र के लिये 'बल में' शब्द लाना जरूरी था, क्योंकि सूर्य शनि इत्यादि के मंडल में जाने से चन्द्रमा हीनबल हो जाता है। ऊपर जो चार मंडप बनाये गये हैं उनमें से स्वर्ण मंडप बृहस्पति सम, लाल मंडप सूर्य सम, नील मंडप शनि सम, और सेत मंडप शुक्र सम जानो। यद्यपि इस

छंद में शुक्र का नाम नहीं आया, तथापि 'मंडप' शब्द से तथा छंद ३२ के 'सेत मंडप' से लक्षित होता है।

मूल—चौपाई छंद—

बहुधा मंदिर देखे भले। देखन वस्त्र शालिका चले।
शीत भीत ज्यों नेकु न त्रसे। पलक बसनशाला महँ लसे ॥३४॥

भावार्थ—उन विविध प्रकार के मंदिरों को अच्छी तरह देखा, तब वस्त्र-शाला देखने को चले। (इस देखने भालने के परिश्रम से महाराज थके नहीं)। और उसकी ओर ऐसे चले जैसे कोई सर्दी से सताया हुआ मनुष्य वस्त्र की खोज में चलै और वहाँ जाते तनक भी न डरै। वहाँ जाकर थोड़ी देर रामजी वहाँ ठहरे।

अलङ्कार—उदाहरण।

मूल—

जलशाला चातक ज्यों गये। अलि ज्यों गंधशासिका ठये।
निपट रंक ज्यों शोभित भये। मेवा की शाला में गये ॥३५॥

भावार्थ—चातक की तरह (तृषित सम) जलशाला को देखने गये। भौंरे की भाँति गंधशाला में पहुँचे, और अत्यंत भुक्कड़ रंक की तरह मेवाशाला में आ पहुँचे।

(नोट)—इन उपमाओं से रामजी का 'चाव' लक्षित होता है, यही समता है।

अलङ्कार—उपमा।

मूल—

चतुर चोर से शोभित भये। धरणीधर धनशाला गये।
मानिनीन केसे मन भेव। गये मानशाला में देव ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—धरणीधर = सार्वभौम चक्रवर्ती राजा। धनशाला = खजाना। मानिनीन के से मन भेव = मानिनी नायिका का सा चाव मन में रक्खे हुए (जैसे मानिनी नायिका को कोपभवन में जाने का चाव रहता है, उसी चाव से)। मानशाला = कोपभवन।

भावार्थ—चक्रवर्ती महाराज रामचन्द्र चतुर चोर की तरह खजाने में गये

(कि अचानक पहुँचकर वहाँ का हिसाब जाँचें) तदनन्तर बड़े चाव से कोप-भवन का निरीक्षण करने वहाँ गये (कदाचित् सीताजी मान तो नहीं कर बैठीं)।

अलङ्कार—उपमा।

मूल—

मंत्रिन स्यों बैठे सुख पाय। पलकु मंत्रशाला में जाय।
शुभ सिंगारशाला को देखि। पलटे ललित नयन से पेखि ॥३७॥

भावार्थ—थोड़ी देर मंत्रियों सहित मंत्रभवन में बैठे। फिर सिंगार भवन को देखकर तुरन्त वहाँ से लौटे जैसे नेत्र की दृष्टि शीघ्र लौटती है (बहुत शीघ्र)।

अलङ्कार—उपमा।

मूल—तोटक—

जब रावर में रघुनाथ गये। चहुँधा अवलोकत शोभ भये।
सब चंदन की शुभशुद्ध करी। मणि लाल शिलानि सुधारि धरी ॥३८॥
बरँगा अति लाल सुचन्दन के। उपजे बन सुन्दर नन्दन के।
गजदंतनकी शुभ सींक नई। तिन बीचन बीचन स्वर्णमई ॥३९॥

शब्दार्थ—रावर = रनिवास, जनानखाना। चहुँधा = चारों ओर। करी = कड़ी (शहतीर, धरन)। बरँगा = धरन पर रक्खे हुये बेड़े, काष्ठखंड के पटिया। गजदन्त = टोड़ा। सींक = वह बत्ती जो टोड़ों पर रक्खी जाती है, जिसके बल पर छप्पर ठहरता है।

भावार्थ—जब रामजी रनवास में गये, तो वहाँ चारों ओर शोभा देख पड़ी। वहाँ सफेद चन्दन की अति सीधी धरनें (छत में) लगी हैं, और वे धरनें माणिक की लाल शिलाओं पर सँभाल कर रक्खी गई हैं (३८)। धरनों पर जो बेंड़ी पटुलियाँ रक्खी हैं वे लाल चन्दन की हैं, जो सुन्दर वन में पैदा हुआ। टोड़ों पर रक्खी हुई बर्तनी बड़ी सुन्दर और नवीन है, और टोड़ों के बीच वाले भाग में सोने की चित्रकारी है (३९)। यह वर्णन पटौहाँ मकानों का है। आगे वाला वर्णन छप्परदार बँगलों का है।

मूल—

तिन के शुभ छप्पर छाजत हैं। कलसा मणि लाल विराजत हैं।
अति अद्भुत थंमन की दुगई। गजदंत सुकंचन चित्रमई ॥४०॥

तिन माँझ लसैं बहुभायन के। शुभकंचन फूल जरायन के।
तिनकी उपमा मन क्योहुँ न आवै। बहुलोकन को बहुभाँतिभ्रमावै ॥४१॥

शब्दार्थ—तिनके = तृण के। थंभ = खंभ। दुगई = ओसारा। गजदंत = हाथी दाँत। बहु भावन के = अनेक आकार के। जरायन के = जड़ाऊ।

भावार्थ—(पटोहाँ मकानों के अलावा) वहाँ कुछ तृणनिर्मित छप्पर भी हैं, जिनके ऊपर माणिक के कलसे हैं, जिनके ओसारों में विचित्र प्रकार के खम्भे हैं, वे खम्भे हाथी दाँत के हैं जिन पर सुवर्ण के चित्र बने हैं (४०)। उनके मध्य भाग में रत्नजड़ित सोने के बने पुष्पाकार अनेक आकार और रंग के झब्बे लटकते हैं। उनकी उपमा किसी प्रकार भी मन में नहीं आती। वे झब्बे अनेक लोगों को बहुत प्रकार से भ्रम में डाल देते हैं (४१)।

• (नोट) – यह छन्द उपजाति है।

अलंङ्कार—उदात्त और सम्बन्धातिशयोक्ति।

मूल – (रूपमाला छन्द)—(लक्षण—२४ मात्रा, १४ + १० के विश्राम से)

बर्ण बर्ण जहाँ तहाँ बहुधा तने सुबितान।
झालरैं मुकुतान की अरु झूमके बिनमान॥
चौकठैं मणि नील की फटिकान के सुकपाट।
देखि देखि सो होत हैं सब देवता जनु भाट॥ ४२॥

शब्दार्थ—वर्ण वर्ण = विविध रंग के। झूमके = फुलेरा। बिनमान = अगणित, असंख्य। चौकठ = देहरी।

भावार्थ—जहाँ-तहाँ रंग-बिरंगे अनेक प्रकार के सुन्दर चँदोवा तने हैं नमें मोतियों की झालरैं और असंख्य फुलेरे लटकते हैं। नीलम की देहरियाँ और फटि के किवाड़े लगे हैं, जिनको देख-देखकर देवता भी भाँटों की तरह प्रशंसा करने में लग जाते हैं।

अलङ्कार—उदात्त और सम्बन्धातिशयोक्ति।

मूल —

सेत पीत मणीन के परदे रचे रुचिलीन।
देखिकै, तहँ देखिये, जनु लोल लोचन मीन॥

शुभ्र हीरन को सु-आँगन है हिंडोरा लाल।
सुन्दरी जहँ झूलहीं प्रतिबिम्ब के तहँ जाल॥ ४३॥

शब्दार्थ—रुचि लीन = कांतिमान, चमकीले। लोल = चञ्चल।

भावार्थ—वहाँ सफेद और पीली मणियों के झँझरीदार चमकीले परदे तने हैं, जिनको देख कर लोगों के नेत्र मीनवत चञ्चल हो जाते हैं, (लोग चकित होकर इधर-उधर देखने लगते हैं), यह बात लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। सफेद हीरों का आँगन है, वहाँ लाल रंग का हिंडोरा पड़ा हुआ है, जहाँ अनेक सुंदरी स्त्रियाँ झूलती हैं और सफेद आँगन में उनके प्रतिबिंबों का समूह दिखाई पड़ता है।

अलंकार—उदात्त।

मूल—(स्वागता छन्द)—(ल०—र + न + भ + दो गुरु = ११ वर्ण)
धाम धाम प्रति आसन सोहैं। देखि देखि रघुनाथ विमोहैं।
वर्णि शोभ कवि कौन कहै जू। यत्र तत्र मन भूलि रहै जू॥ ४४॥

शब्दार्थ—आसन = बैठने की चौकी। शोभ = शोभा। यत्र तत्र = जहाँ तहाँ

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(दोहा)—

जाके रूप न रेख गुण, जानत वेद न गाथ।
रंगमहल रघुनाथ गे, राजश्री के साथ॥ ४५॥

शब्दार्थ—राजश्री = सीता जी की एक सखी।

भावार्थ—जिसका न कोई रूप (रंग) है न आकार है न कोई गुण प्रधान है (अर्थात् जो गुणातीत निराकार परब्रह्म हैं) और जिनकी पूरी गाथा वेद भी नहीं जानता, वे ही रामजी राजश्री के साथ रंगमहल में गये।

(उन्तीसवाँ प्रकाश समाप्त)

तीसवाँ प्रकाश

दोहा—

या तीसएँ प्रकाश में, बरन्यो बहुविधि जानि।
रंगमहल संगीत अरु, रामशयन सुखदानि॥

पुनि शारिका जगाइबो, भोजन बहुत प्रकार ।
अरु बसन्त रघुवंशमणि, वर्णन चन्द्र उदार ॥

मूल—(चवपैया छन्द)—(लक्षण—१० + ८ + १२ = ३० मात्रा)

दुति रङ्गमहल की, सहसबदन की, बरनै मति न बिचारी।
अध ऊरध राती, रङ्ग सँघाती, रुचि बहुधा सुखकारी ॥
चित्री बहुत चित्रनि, परम विचित्रनि, रघुकुल चरित सुहाये।
सब देव अदेवनि, अरु नरदेवनि, निरखि निरखि सिर नाये ॥१॥

शब्दार्थ—दुति = शोभा । सहसबदन = शेषनाग । बिचारी = बापुरी, बेचारी । अघ = नीचे । ऊरध = ऊपर । राती = लाल । रंगसँघाती = अनेक रंगों से रंगी हुई । रुचि = शोभा, कान्ति । रघुकुलचरित = रघुवंशी राजाओं के चरित्र । चित्री = (क्रिया) चित्रित की गई हैं ।

भावार्थ— उस रंगमहल की शोभा वर्णन करने में शेषनाग की मति भी अशक्त हो जाती है और वर्णन नहीं कर सकती । नीचे ऊपर तो लाल रंग की शोभा है और मध्य में अनेक रंगों का संघात है जिसकी शोभा अनेक प्रकार से नेत्रों को सुख देती है । अनेक परम अनोखे चित्रों से दीवारें चित्रित हैं, जिन चित्रों में रघुवंशी राजाओं के चरित्र ही चित्रित हैं (रघुवंशी राजाओं ने जो कार्य किये हैं उन्हीं के चित्र बने हैं) जिनको देख-देख कर सुर असुर और राजा सब सिर नवाते हैं (उन चित्रों का आदर करते हैं) ।

अलङ्कार—सम्बन्धातिशयोक्ति ।

मूल—

(संगीत वर्णन)

आईं बनि बाला, गुण-गण-माला, बुधिबल रूपन बाढ़ी।
शुभ जाति चित्रिनी चित्रगेह ते, निकसि भईं जनु ठाढ़ी ॥
मानो गुनसंगनि, त्यों प्रतिअंगनि, रूपक-रूप विराजैं।
बीणानि बजावैं, अद्भुत गावैं, गिरा रागिनी लाजैं ॥ २ ॥

शब्दार्थ—बाला = सोलहवर्षीया नवयुवती । गुण-गण-माला = अति गुणवती गानवाद्य में अति प्रवीणा । चित्रिनी = कोकशास्त्रानुसार वे स्त्रियाँ जिनकी

स्वाभाविक रुचि गानवाद्य पर अधिक रहती है। रूप-रूपक=सौंदर्य का अवतार। गिरा = सरस्वती।

भावार्थ--(जब रामजी रंगमहल में आ विराजे) तब अनेक षोड्स-वर्षीया नवयुवतियाँ सजधजकर आगईं जो बहुत गुणवती थीं, बड़ी बुद्धिमती थीं और जिनका सौन्दर्य बहुत बढ़ा हुआ था। वे सब शुभ लक्षणों युक्त चित्रिणी जाति की थीं, वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों चित्रशाला की तसवीरों से ही निकलकर खड़ी हो गई हैं। और वे ऐसी थीं मानो गुण (गान वाद्य की प्रवीणता) के साथ ही साथ स्वयं सौंदर्य भी प्रति अंग सहित अवतार धर कर विराजता हो (अर्थात् वे स्त्रियाँ गान वाद्य में तो निपुण थी हीं, अलावा अत्यन्त सुन्दरी भी थीं)। वे आकर रामजी के सामने वीणादि बाजे बजाती हैं अद्भुत गान गाती हैं जिन्हें सुन सरस्वती और छत्तीसों रागिनियाँ लज्जित होती हैं।

अलंकार---उत्प्रेक्षा, ललितोपमा।

मूल—(पद्धटिका छन्द)—

स्वर नाद ग्राम नृत्यत सताल। सुभ बरन बिबिध आलाप काल।
बहु कला जाति मूर्च्छना मानि। बड़ भाग गमक गुण चलत जानि ॥३॥

शब्दार्थ—स्वर=गान में शब्द के उच्चारण की आवाज़। संगीत में इसके सात रूप हैं जिनके नाम षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं। संगीत में इनके चिन्ह—स, रि, ग, म, प, ध, नि हैं।

नाद—स्वरों का उच्चारण तीन प्रकार से होता है। उन्हीं प्रकारों को नाद कहते हैं। एक मत से उनके नाम 'कल', 'मंद्र' और 'तार' हैं।

ग्राम—संगीत में तीन ग्राम होते हैं। उनके नाम षड्ज, मध्यम और पंचम हैं। कोई-कोई इन्हें क्रम से नंद्यावर्त, सुभद्र और जीमूत भी कहते हैं। षड्ज से आरंभ होकर जो स्वर किये जायँ उनके समूह को षड्ज (या नन्द्यावर्त्त) ग्राम, मध्यम से आरंभ करके ७ स्वरों तक के समूह को मध्यम (या सुभद्र) ग्राम, तथा पंचम से आरंभ करके जो सात स्वर का समूह हो उसे पंचम (या जीमूत) ग्राम कहते हैं। इनमें से पहले दो ग्रामों में तो इस लोक के जन गान कर सकते हैं, पर तीसरे जीमूत ग्राम में गाना नारदादि का ही काम है। नृत्यत=नाचते हैं।

ताल—संगीत में 'समय की माप' जिनके अनुसार राग का आरम्भ और

अन्त एक नपे हुये समय विशेष में होना चाहिये, नहीं तो राग बेमजा हो जाता है। ताल में मंजीरा और तबला इसी ताल के सूचक बाजे साथ रहते हैं।

आलाप--राग के स्वर रूप को शब्दगत करके गाने का ढंग विशेष।

कला--ताल में मात्रा के हिसाब से काम लेने को 'कला' कहते हैं। ये ८ प्रकार की होती हैं, बिना इन्हें जाने ताल बिगड़ेगी।

जाति—यह भी ताल ज्ञान का एक ढंग है। यह पाँच प्रकार की है।

मूर्च्छना—(सं० मूर्च्छयन्ति सुरान् यत्र तत्र जायेत् स मूर्च्छना) प्रत्येक ग्राम में ७ होती हैं। जहाँ एक स्वर का अन्त होता है और दूसरे का आरम्भ होता है उस सन्धिसमय की 'स्वर सन्धि' को मूर्च्छना कहते हैं। इस प्रकार संगीत में २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं।

भाग—गीत के प्रबन्ध। ये चार होते हैं।

गमक—(सं० स्वरस्य कम्पो गमकः स तु पंचदशाविधिः) संगीत में स्थान विशेष पर स्वर के कंप को गमक कहते हैं। ये १५ प्रकार की हैं।

भावार्थ—जब रामजी के सामने गाना होने लगा तब मानों सातों स्वर, तीनों नाद, तीनों ग्राम ताल सहित नाचने लगे। और आलाप काल में अर्थात् जब गीत को स्वर रूप से शब्द में परिवर्तित किया तो उसमें अनेक शुभप्रद वर्णों का ही प्रयोग किया (मंगलवाचक शब्दों में ही समस्त गान हुआ) ताल में कला और जाति (जो ताल के प्रमाण स्वरूप हैं) का तथा ग्रामों में मूर्च्छनाओं का मानपूर्वक निर्वाह किया जाता था। बड़े-बड़े चारों भाग और पन्द्रह प्रकार की गमकों के गुण ऐसे जान पड़ते थे मानों प्रत्यक्ष सामने चल रहे हैं।

नोट—यह भी स्मरण रखना चाहिये कि संगीत पहले स्वर रूप में उच्चारण किया जाता है। जब उसकी 'लय' ठीक हो गई तब आलाप से वर्ण वा शब्द रूप में आता है, तब कला, जाति, मूर्च्छना, भाग और गमकों का प्रकाशन होता है।

अलङ्कार--उत्प्रेक्षा।

(नृत्य वर्णन)

मूल —

सुभ गान विविध आलाप कालि।
मुखचालि, चारु अरु शब्दचालि ॥
बहु उडुप, त्रियगपति, पति, अडाल।
अरु लाग, धाउ, राउप रँगाल ॥ ४ ॥
उलथा टेकी, आलम, स-दिंड।
पदपलटि, हुरमयी, निशँक, चिंड ॥
असु तियन भ्रमनि लखि सुमतिधीर।
भ्रमि सीखत है बहुधा समीर ॥ ५ ॥

नोट इन दोनों छन्दों में १७ प्रकार के नृत्यों के नाम आये हैं। उनका विवरण यों हैं :—

१ – मुखचालि नृत्य—

नृत्यादौ प्रथमं नृत्यं मुखचालीरिति स्मृतः।

नृत्य के आरम्भ में पहला साधारण नृत्य जिसे आजकल 'गति' कहते हैं।

२—शब्दचालि नृत्य—

दोनों करतल कमर में लगाकर, बायें पैर पर बल देकर खड़ा होकर, दाहिने पैर के घुंघरू ताल से बजाता हुआ घूमै, फिर दाहिने पैर पर बल देकर खड़ा होकर बाँयें पैर की घुंघरू बजाते हुये घूमें। इसे शब्दचालि नृत्य कहते हैं।

३ उडुप—

(उडडुपानि) ऊपर को दोनों हाथ उठा कर हाथों से अनेक आकृतियाँ बनाता हुआ ताल से घूमै। इस नृत्य के १२ भेद हैं, जो हाथों के संचालनों और आकृतियों पर निर्भर हैं। इसी से इसके पहले 'बहु' विशेषण लगा है।

४ – तिर्यगपति नृत्य—

मयूर व गरुड़ की-सी आकृति बना कर नाचना। इसे मयूर नृत्य, गरुड़ नृत्य और पक्षिशार्दूल नृत्य कहते हैं।

५—पति नृत्य—

पंचपुट नामक ताल के अनुसार पैर के घुंघरुओं से ताल भी दे और गान के कुछ शब्द भी घुघरू से निकाले। इस प्रकार के नृत्य को पति नृत्य कहते हैं।

६—अडाल नृत्य—

नियत स्थान से उछलकर अधर में किसी पक्षी के पंखों की तरह पैर फैलाकर घूम जाय और फिर नियत स्थान ही पर आ गिरे। ऐसा करते समय ताल और सम न चूके! यह अडाल नृत्य है।

७—लाग नृत्य—

कर्णाटी भाषा में 'लाग' शब्द का अर्थ है उछलना। यह कर्णाटी नृत्य है। ऊपर को उछलकर ऊपर ही ऊपर घूमना और नियत स्थान पर ताल देकर पुनः-पुनः वैसा ही करना (यह बड़ा कठिन नृत्य है)।

८—धाउ नृत्य—

अन्तरिक्ष मे उछलकर ऊपर ही युद्ध सा करना और समय पर पुनः नियत स्थान पर आ गिरना।

९—रापरंगाल नृत्य—

एक पैर के बल खड़े होकर ऊपर को उछलकर और घूमकर दूसरे पैर के बल नियत स्थान पर आ गिरै, ताल और सम न बिगड़े। घुँघुरू एक ही पैर में हो, पर बजैं इस भाँति कि जान पड़े कि दोनों पैरों में हैं और भिन्न स्वर से बजते हैं (बड़ा कठिन नृत्य है)।

१०—उलथा नृत्य—

उछल उछलकर घूमना और ताल पर घूँघुरू से सम देना।

११—टेंकी नृत्य—

दोनों पैर एकत्र करके ऊपर को उछलकर घूमते समय पैरों से अनेक चेष्टायें करके पुनः दोनों पैर एकत्र किये हुये नियत स्थान पर आकर ताल देना।

१२—आलम नृत्य—

एक पैर से नाचना (अर्थात् जब एक पैर भूमि पर हो तब दूसरा अधर में और जब दूसरा भूमि पर आवे तब पहला अधर मे उठ जाय, ऐसा पुनः पुनः अति शीघ्रता से करना और ताल ठीक देना।

१३- दिंड नृत्य—

दोनों चरणों से उछलकर अधर में पैरों ही से वस्त्र निचोड़ने की सी क्रिया दर्शाते हुये घूमना दिंड नृत्य है।

१४—पदपलटी नृत्य –

एक पैर आगे को फैला कर दूसरे पैर से उसको लाँघता हुआ घूमै। इसे 'लांघिकजंघिका' नृत्य भी कहते हैं।

१५—हुरमयी नृत्य—

आग के अंगारों पर नाचना।

१६—निःशंक नृत्य—

दोनों पैरों को जोड़कर दूर-दूर तक उछलते कूदते और घूमते हुये ठीक ताल पर नियत स्थान पर आकर सम देना।

१७—चिंड नृत्य—

तलवार या त्रिशूल घुमाते हुये, ज़ोर-ज़ोर से गान करते हुये तेजी से नाचना।

(नोट)— हम नृत्यशास्त्र के ज्ञाता नहीं। सम्भव है इनके विवरण में भूलें हों। पाठक कृपा करके स्वयं इनके विवरण खोज कर समझें।

शब्दार्थ — असु = शीघ्र। तियनभ्रमनि = स्त्रियों का नाच। समीर = वायु।

भावार्थ—आलापकालीन विविध प्रकार के मंगल गीत गाते हुये ऊपर लिखे (अडाल, दिंड, चिंड, इत्यादि) अनेक प्रकार के नृत्य रामजी के सामने हुए। इन नृत्यों में बालाओं की शीघ्रगति घूमन देखकर वायुदेव भी बड़ी धीरमति से (बगरूरे के व्याज से घूमघूमकर) उसी तरह घूमना सीखते हैं।

अलंकार—प्रतीप।

मूल – (मोटनक छन्द)—(लक्षण—१ तगण + २ जगण = लघु-गुरु = ११ वर्ण)।

नाचैं रस वेश अशेष तबै। बर्षैं सुरसैं बहु भाँति सबै॥
नौ हू रस मिश्रित भाव रचैं। कौनौ नहिं हस्तक भेद बचैं॥ ६॥

शब्दार्थ—रसवेश = रस स्वरूप होकर। अशेश = सब। नौ रस = काव्य के नव रस शृंगार, वीर, रौद्रादि। भाव = चेष्टा (आँख, हाथ इत्यादि की क्रियाएँ)। हस्तक = हाथ-संचालन की क्रियाएँ (रस के अनुसार)।

भावार्थ—सब बलाएँ उस समय स्वयं रसरूप होकर नाचती हैं अर्थात् जिस रस का गाना गाती हैं चेष्टाओं और भावों से स्वयं भी उसी रस का रूप ही हो जाती हैं, सब ही बालाएँ उस समय अपने-अपने हुनरों से आनन्द-वर्षा कर रही हैं। नवों रसों के भाव यथासमय मिला-खुलाकर व्यक्त करती हैं (जिस समय जिस रस के जिस भाव की जरूरत पड़ती है, वही व्यक्त करती हैं) और (गान में वा वाद्य में) हस्त-संचालन क्रियाओं का कोई भी भेद छूट नहीं जाने पाता।

मूल—(दोहा)—

पायँ पखाउज ताल त्यौं, प्रतिध्वनि सुनियत गीत।
मानहु चित्र विचित्रमति, सिखत नृत्य संगीत॥ ७॥

शब्दार्थ—पखाउज = मृदंग। चित्र = तसवीरें (नर नारियों की तसवीरें जो वहाँ बनी हुई हैं)। विचित्रमति = बुद्धिमती।

भावार्थ—उस समय उस नाट्यशाला में पैरों और पखावज की तालों सहित गीत का शब्द प्रतिध्वनित हो रहा है, वह ऐसा जान पड़ता है मानों वहाँ की बुद्धिमती तसवीरें उस नाचने वाली बालाओं से नृत्य और संगीत सीखती हैं (अतः वे भी वैसा ही करती हैं, उसी का शब्द यह प्रतिध्वनि है)।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(दोहा)—

अमल कमलकर आँगुरी, सकल गुणन की मूरि।
लागत थाप मृदंगमुख, शब्द रहत भरिपूरि॥ ८॥

शब्दार्थ—अमल = सुन्दर। मूरि = जड़ (मूल)।

भावार्थ—बजाने वाली बाला के सुन्दर कमल सम हाथ और अँगुली ही सब गुणों की मूल हैं। जब उन हाथों और अँगुलियों की थाप मृदंग के मुख पर लगती हैं तब शाला में शब्द गूँज जाता है।

(संगीत प्रशंसा)

मूल—(दंडक छन्द)—

अपघन धाय न बिलोकियत घायलनि,
घनो सुख केशोदास, प्रगट प्रमान है।

मोहै मन, भूलै तन, नयन रुदन होत,
सूखै सोच पोच, दुख मारन-विधान है।
आगम अगम तंत्र साधि सब यंत्र मंत्र,
निगम, निवारिबे को केवल अयान है।
बालनि को तनत्राण, अमित अमान स्वर,
रीझि रामदेव कहैं काम कैसो बान है ॥९॥

शब्दार्थ—अपघन = शरीर। आगम = शास्त्र। अगम = असंख्य, अनेक। निगम = वेद। बालनि = बालकों। त्राण = कवच, रक्षक। अमित = बेहद, बहुत अधिक। अमान = किसी को न मानने वाला, जो किसी के मान का न हो, जो किसी को भी अप्रभावित न छोड़े। स्वर = गान, संगीत।

भावार्थ—(पहले चौथे चरण का अर्थ करना उचित है) संगीत सुनकर रामजी प्रसन्न हुए, तब रीझ कर कहने लगे कि संगीत काम के वाण सम है, पर इतना भेद अ[illegible] कि काम-वाण से बचने के लिये बालशरी कवच सम है (बालक काम-वाण से बच सकते हैं), पर संगीत बहुत ज़बरदस्त है वह किसी को भी नहीं मानता (अर्थात् बालशरीर पर भी प्रभाव डालता है)। (अब आरम्भ से अर्थ समझिये। काम-वाण और संगीत की समता देखिये) जो मन काम-वाण वा संगीत से घायल हुए हैं उनके शरीर में घाव नहीं दिखाई पड़ता, और (केशव कहते हैं कि) घायल होने पर उन्हें बड़ा सुख प्राप्त होता है, इस बात के प्रमाण प्रत्यक्ष हैं। उन घायलों के मन मोहित हो जाते हैं तन की सुधि भूल जाती है, नेत्रों से अश्रुपात होता है, सब पोच सोच सूख जाता है (शोच नष्ट हो जाते हैं), और दुःखों के मारने के लिये तो काम-वाण और संगीत एक अच्छा विधान ही है। असंख्य शास्त्र और वेदों में खोज-खोज कर अनेक मंत्र यन्त्र-तन्त्र निकालिये, पर वे सब काम-वाण तथा संगीत के प्रभाव के निवारण में केवल अज्ञानमात्र प्रमाणित होंगे, अतः काम-वाण और संगीत समान हैं, पर संगीत में इतनी अधिकता है कि वह बालकों पर भी प्रभाव डालता है।

अलंकार—व्यतिरेक।

मूल—(दोहा)—

कोटि भाँति संगीत सुनि, केशव श्रीरघुनाथ।
सीता जू के घर गये, गहे प्रीति को हाथ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—प्रीति = सीताजी की अंतरंगिनी एक सखी। यह वही सखी है जिसने वाटिका में राम सीता को परस्पर दर्शन कराये थे। देखो तुलसीकृत—एक सखी सिय संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई। चली अग्र करि प्रिय सखि सोई......इत्यादि।

भावार्थ सरल ही है।

मूल—मोदक छंद—(लक्षण—४ भगण)।

सुन्दरि मन्दिर में मन मोहति।
वर्ण सिंहासन ऊपर सोहति।
पंकज के करहाटक मानहु।
है कमला बिमला यह जानहु ॥११॥

शब्दार्थ—सुन्दरि = रूपवती सीता। पंकम = कमल। करहाटक = छतरी। कमला = लक्ष्मी। विमला = निर्मल चरित्रा।

भावार्थ—रूपवती सीताजी अपने मन्दिर में सोने के आसन पर बैठी हुई दर्शकों के मन मोहित कर रही हैं, ऐसी जान पड़ती हैं मानो स्वर्णकमल की छतरी पर निर्मल चरित्रा लक्ष्मी जी विराज रही हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(सेजवर्णन)

मूल—

फूलन को सुवितान तन्यो वर। कंचन को पलिका ता तर।
जोति जराय जर्‌यो अति शोभनु। सूरजमंडल तें निकर्‌यो जनु ॥१२॥

शब्दार्थ—वितान = चँदोवा। पलिका = पलंग। ता तर = उसके नीचे। जोति जराय जर्‌यो = जड़ाव की चमक से चमचमाता हुआ। शोभन = सुन्दर।

भावार्थ—वहाँ एक कमरे में फूलों का एक सुन्दर चँदोवा तना है और उसके नीचे सोने का पलंग पड़ा हुआ है। रत्नजटित होने के कारण वह चमचमा रहा है और इतना सुन्दर है मानो सूर्यमंडल से निकल कर अभी आया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—(कुसुमविचित्रा छंद)—(लक्षण*—न+व+न+स= १२ वर्ण)।

दरसत ही नैनन रुचि बनै ।
बसन बिछाये सब सुख सनै ॥
अति सुचि सोहैं कबहुं न सुन्यो ।
जनु तनु लै कै ससि कर चुन्यो ॥१३॥

शब्दार्थ—रुचि=कांति । सुचि=स्वच्छ, सफेद । तनु=त्वचा । ससि-कर=(शशि का), चन्द्रमा की । चुन्यो=बिछाई हुई है ।

भावार्थ—सेज की कांतिमान शोभा देखते ही बनती है (कहते नहीं बनती) अत्यन्त सुखदायक वस्त्र बिछे हुए हैं। वे ऐसे सफेद हैं कि वैसे वस्त्र कभी सुनने में भी नहीं आये, ऐसे मालूम होते हैं मानों चन्द्रमा की त्वचा ही उतार कर बिछा दी गई है। (पलंग के बिछौने पर अतिशुभ्र चादर पड़ी है)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—(चौपई छंद)।

चंपकदल दुति के गेंडुए। मनहु रूप के रूपक उए।
कुसुम गुलाबन की गलसुई। बरणि न जायँ न नैनन छुई ॥१४॥

शब्दार्थ—गेंडुए=तकिये । रूपक=प्रतिमा । रूप=सौन्दर्य । नैन=दृष्टि । गलसुई=गाल के नीचे रखने के छोटे गोल मुलायम तकिये ।

भावार्थ—चंपई रंग के तकिये हैं, मानो सौन्दर्य की प्रतिमा ही हैं। गुलाबी रंग की गलसुई हैं, जिनका वर्णन करते नहीं बनता क्योंकि उन्हें दृष्टि से छूते नहीं बनता (ऐसा न हो कि दृष्टि से मैली हो जायँ जब नेत्र से देखै तब तो कवि वर्णन करै)।

नोट—यहाँ पर केशव ने स्वच्छता की हद कर दी है। बिहारी ने भी कहा है:—'दृग पग पोछन को किये भूषण पायंदाज'। तकियों को चंपकवर्ण कहने में भी बारीकी है। वह यह कि उस सेज पर सोनेवाले दंपति कमलमुख हैं। कहीं

*परन्तु 'भानु' जी इसका लक्षण-'न+य+न+य' बतलाते हैं।

सोते समय भ्रमर आकर दंश न मारें अतः तकिये चंपा के रंग के हैं। चंपा के निकट भ्रमर जाता ही नहीं।

मूल--(दोहा)—

पदपंकज पखरायकै, कह केशव सुख पाय।
रामचन्द्र रमणीयतर, तापर पौढ़े जाय ॥ १५ ॥

भावार्थ—पैर धुलवा कर आनन्दपूर्वक श्रीरामजी, जो सब वस्तुओं से अधिक सुन्दर हैं, उस सेज पर जा कर लेटे।

मूल—(तोमर छंद)—(लक्षण—१२ मात्रा)।

जिनके न रूप न रेख। ते पौढ़ियो नरवेष।
निशि नाशियो तेहि बार। बहु बन्दि बोलत द्वार ॥१६॥

भावार्थ—जिनका न कोई रूप है न आकार है (अर्थात् जो निराकार परब्रह्म हैं) वे नरभेस से सेज पर जा लेटे। और जब वह रात्रि व्यतीत हो गई तब बहुत से बन्दी जन राजा को जगाने के लिये द्वार पर आकर विरुदावली पढ़ने लगे।

(प्रभात वर्णन)

मूल (दोहा)—

राजलोक जाग्यो सबै, बन्दीजन के शोर।
गईं जगावन राम पै, सारिकादि उठि भोर ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—राजलोक=राजवंश के लोग। सारिकादि=शारिका, प्रीति, राजश्री इत्यादि अंतरंग सखियाँ।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(सारिका)—हरिप्रिय छंद।

जागिये त्रिलोकदेव, देवदेव रामदेव,
भोर भयो, भूमिदेव भक्त दरस पावैं।
ब्रह्मा मन मन्त्र वर्ण, बिष्णुहृदय-चातक घन,
रुद्रहृदय-कमल-मित्र, जगतगीत गावैं।

गगन उदित रवि अनन्त, शुक्रादिक जोतिवंत,
छन छन छबि छीन होत, लीन पीन तारे।
मानहु परदेश देश, ब्रह्मदोष के प्रवेश,
ठौर ठौर ते बिलात जात भूप भारे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—देवदेव = शाहंशाह, चक्रवर्ती। भूमिदेव = ब्राह्मण। ब्रह्मा मनमन्त्रवर्ण = ब्रह्मा के मन रूपी मन्त्र के अक्षर। विष्णुहृदयचातकघन = विष्णु के हृदय रूपी चातक के घन (तृप्तिदाता)। रुद्रहृदय कमलमित्र = महादेव के हृदयरूपी कमल के लिये सूर्य (प्रफुल्लितकर्ता)। जोतिवंत = चमकीले। पीन = बड़े बड़े। ब्रह्मदोष के प्रवेश = ब्रह्महत्यादिक पाप लगने से।

भावार्थ –(सारिकादि सखियाँ प्रभाती राग में रामयश गा-गाकर रामजी को जगाती हैं) हे त्रिलोक के स्वामी चक्रवर्ती महाराजा रामजी, अब जागिये, सबेरा हो गया, उठकर ब्राह्मणों को दान और भक्तों को दर्शन दीजिये। हे रामजी ! आप ब्रह्मा के मनरूपी मन्त्र के वर्णवत हो, विष्णुहृदय चातक के घन हो, शिव-हृदय कमल को प्रफुल्ल करने को सूर्य हो, सारा संसार इसी प्रकार तुम्हारी प्रशंसा करता है। आकाश में सूर्य का उदय हो आया और शुक्रादिक अनेक चमकीले तारे प्रतिक्षण मंदतेज होते जाते हैं, बड़े-बड़े अन्य तारे भी लुप्त हो चले हैं। उनका लोप होना ऐसा जान पड़ता है मानो ब्रह्महत्यादिक पातक लगने से स्वदेशस्थित वा विदेशगत बड़े राजा नष्ट हो रहे हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

अमल कमल तजि अमोल, मधुप लोल टोल टोल,
बैठत उड़ि करि-कपोल, दान-मानकारी।
मानहु मुनि ज्ञानवृद्ध, छोड़ि छोड़ि गृह समृद्ध,
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध, सिद्ध-सिद्धि-धारी।
तरणि किरणि उदित भई, दीपजोति मलिन गई,
सदय हृदय बोध उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रावक निकट गई, चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय, जीव ज्योति भासै ॥१९॥

शब्दार्थ—लोल=चञ्चल। टोल टोल=झुण्ड के झुण्ड। करि-कपोल=हाथी का गंडस्थल। दान—गजमद। दान मानकारी=दान देकर सम्मान करनेवाला (गजमद की सुगन्ध देकर मस्तक पर बैठालने वाला हाथी) ज्ञानवृद्ध=बड़े ज्ञानी। समृद्ध=सम्पत्ति से परिपूर्ण। सिद्ध और सिद्धिधारी ये दोनों शब्द 'मुनिगण' के विशेषण हैं)। सिद्ध=जितेन्द्रिय। सिद्धिधारी=अष्ट सिद्धियों को निज वश में रखने वाले। तरणि=सूर्य। बोध=ज्ञान। निज ज्योति=ब्रह्मज्योति। भासै=दमकता है।

भावार्थ—(सबेरा होते ही) चञ्चल भौरों के झुण्ड के झुण्ड, निर्मल और अमूल्य कमलों को छोड़-छोड़कर उड़कर उस हाथी के गंडस्थल पर जा बैठते हैं जो गजमद का दान करके उनका सम्मान करता है, वे ऐसे मालूम होते हैं मानो बड़े ज्ञानी, जितेन्द्रिय तथा सिद्धिधारी मुनि, गृह सम्पति को त्याग त्यागकर प्रसिद्ध पर्वतों का सेवन करते हों। सूर्य की किरणों के निकल आने से दीपक की ज्योति मन्द पड़ गई है, जैसे दयालु हृदय में ज्ञान के उदय से उसकी कुबुद्धि नष्ट हो जाती है। चकवी चकवा के पास जाकर ऐसी प्रमुदित हुई जैसे ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश पाकर जीवात्मा की शक्ति चमक उठती है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा, उदाहरण।

मूल—

अरुण तरणि के विलास, एक दोय उडु अकास,
कलि के से संत ईश, दिशन अंत राखैं।
दीखत आनन्दकंद निशि बिनु दुति हीन चन्द,
ज्यों प्रवीन युवति हीन, पुरुष दीन भाखैं॥
निशिचरचय के विलास, हास होत हैं निरास,
सूर के प्रकाश त्रास, नासत तम भारे।
फूलत सुभ सकल गात, असुभ सैल से विलात,
आवत ज्यों सुखद राम, नाम मुख तिहारे॥२०॥

शब्दार्थ—अरुण तरणि=उदय समय के लाल सूर्य (अरुणोदय की ललाई)। आनन्दकंद=यह शब्द 'चन्द' का विशेषण है। निशिचर=चोर

व्यभिचारी इत्यादि जो रात्रि को ही निज कार्य-सिद्ध करते हैं। चय=समूह। सैल से='अशुभ' का विशेषण है अर्थात् बड़े बड़े अमंगल।

भावार्थ—अरुणोदय देखकर आकाश में केवल दो एक सितारे रह गये हैं, जैसे ईश्वर कलिकाल में दो एक अच्छे महात्मा सन्तजन दिशान्तरों में रखते हैं। आनन्दप्रद चन्द्रमा, रात्रि बिन, दुतिहीन देख पड़ता है, जैसे प्रवीन स्त्री रहित पुरुष को लोग दीन हीन कहते हैं। चोर व्यभिचारियों के हास विलास निरास हो गये हैं, जैसे सूर्य प्रकाश के डर से भारी अन्धकार का नाश हो जाता है। शुभ कार्य (स्नान, दान, पूजनादि) पूर्णतः प्रफुल्लित होते जाते हैं, (सूर्योदय जानकर लोग स्नान पूजनादि में लग गये हैं) और बड़े-बड़े अशुभ-कार्य (चौर्य, व्यभिचारादि) बिलाते जाते हैं, जैसे हे राम ! तुम्हारा नाम मुख से निकलते ही मंगलों का प्रसार होता है और अमंगलों का नाश होता है।

अलंकार—उदाहरण।

मूल —

सारो शुक शुभ मराल, केकी कोकिल रसाल,
बोलत कल पारावत, भूरि भेद गुनिये।
मनहु मदन पंडित ऋषि, शिष्य गुणन मंडित करि,
अपनी गुदरैनि देन, पठये प्रभु सुनिये॥
सोदर सुत मन्त्रि मित्र, दिशि दिशि के नृप विचित्र,
पंडित मुनि कवि प्रसिद्ध, सिद्ध द्वार ठाढ़े।
रामचन्द्र-चन्द ओर, मानहु चितवत चकोर,
कुवलय, जल जलधि जोर, चोप चित्त बाढ़े॥२१॥

शब्दार्थ—सारो=मैना। मराल=हंस। केकी=मोर। कल=सुंदर वाणी। पारावत=कबूतर। ऋषि=श्रेष्ठ। गुदरैनि=परीक्षा, इम्तिहान। कुवलय=कुमोदनी। चोप=चाव, उमंग।

भावार्थ—मैना, सुग्गा, सुन्दर हंस, मोर और रसिका कोकिल और मीठी वाणी वाले कबूतर अनेक भाँति की बोली बोल रहे हैं, उनका बोलना ऐसा मालूम होता है मानो पंडितश्रेष्ठ कामदेव ने अपने अनेक शिष्यों को अच्छी तरह पढ़ाकर होशियार करके (सर्वगुणों से मंडित करके) आपके पास पाठ

सुनाने को (परीक्षा देने को) भेजा है, सो हे प्रभु ! उठिये और उनका पाठ सुनिये। भाई, पुत्र, मन्त्री, मित्र, देश देश के अनेक राजागण, पंडित, मुनि, प्रसिद्ध कवि और सिद्ध लोग द्वार पर खड़े हैं, मानो रामचन्द्ररूपी चन्द्रमा की ओर चित्त में उमंग बढ़ाये हुए चकोर गण, कुमुदगण और समुद्रजल निर्निमेष हेर रहे हों।

अलङ्कार—रूपक, उत्प्रेक्षा।

मूल—

नचत रचत रुचिर एक, याचक गुण गण अनेक,
चारण मागध अगाध, बिरद बन्दि टेरे।
मानहु मन्डूक मोर, चातक चय करत शोर,
तड़ित बसन संयुत घन, श्याम हेत तेरे॥
केशव सुनि बचन चारु, जागे दशरथ कुमारु,
रूप प्याय ज्याय लीन, जन जल थल ओकै।
बोलि हँसि बिलोकि बीर, दान मान हरी पीर,
पूरे अभिलाष लाख, भाँति लोक लोकै॥२२॥

शब्दार्थ—एक=(यहाँ पर) नर्त्तक। चारण=प्रशंसक, भाट। मागध =पौराणिक ब्राह्मण। मंडूक=मेढ़क। ओकै=निवासी। जल थल ओके= थल के निवासी। लोकलोकै=सब लोगों के।

भावार्थ—सुंदर नर्त्तक गण नाचते हैं, अनेक याचक गुण गाते हैं, चारण मागध और बन्दी जन विरद बखानते हैं, मानो मेढ़क, मोर, चकोर गण आपको पीताम्बर रूपी बिजली सहित श्याम घन समझकर आपके प्रेम से बोल रहे हैं। केशव कवि कहते हैं कि सुंदर वचन सुनकर, दशरथसुत रामचन्द्रजी जागे और अपना रूपरूपी जल पिलाकर (सुंदर रूप के दर्शन देकर) जल तथा थल निवासी जीवों को जिला लिया, और किसी से बात करके, किसी से हँस कर, किसी की ओर देखकर, किसी को दान देकर, किसी को मान देकर वीर रामचन्द्रजी ने एक दम में सब की पीर हर ली, और लोक-लोक के सब निवासियों की लाखों प्रकार की अभिलाषाओं को दृष्टि मात्र से पूरा कर दिया।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा, रूपक, उदात्त।

मूल—(दोहा)—

जागत श्रीरघुनाथ के, बाजे एकहि बार।
निकर नगारे नगर के, केशव आठहु द्वार ॥२३॥

शब्दार्थ—निकर = समूह। नगारे निकर = नगाड़ों का समूह।

भावार्थ—सरल ही है।

(प्रातःकालकृत्य वर्णन)

मूल—(मरहट्टा छंद)※—लक्षण—१० + ८ + ११ = २९ मात्रा, अन्त में गुरु लघु।

दिन दुष्ट निकन्दन, श्रीरघुनन्दन, आँगन आये जानि।
आईं नव नारी, सुभग सिंगारी, कंचनझारी पानि।
दात्योनि करत हैं, मननि हरत हैं, ओर बोरि घनसार।
सजि सजि बिधि मूकनि. प्रति गंडूषनि, डारत गहत अपार ॥२४॥

शब्दार्थ—दिन = नित्य, प्रतिदिन। झारी = गडुरा, टोटीदार जलपात्र। दात्योनि = दंतधावन, मुखारी। ओर = सिरा (मुखारी की कूँची जिससे दाँत माँजे जाते हैं)। घनसार = कपूर। मूकनि = छोड़ना, फेंकना (कुल्ले का)। गंडूष = कुल्ला।

भावार्थ—नित्यप्रति दुष्टों को दलन करनेवाले श्रीरामजी को आँगन में आया हुआ जानकर सुन्दर सिंगार किये हुए नवयुवतियाँ सोने की झारियाँ हाथ में लिये हुए आईं। श्रीरामजी कपूर में दातून की कूँची डुबोकर करते हैं और दर्शकों के मन हरते हैं। कुल्ला फेंकने की विधि से प्रति कुल्ला का जल मुख में लेते हैं और फिर उसे फेंकते हैं।

नोट—कुल्ला करने की विधि—कपूर मिश्रित जल से बाहर कुल्ले करने चाहिये, और प्रत्येक कुल्ले में इतना जल लेना चाहिये जितने से गला तक साफ हो जाय, पानी को गले में घर्घराकर तब फेंकना चाहिये। दातून और कुल्ले के जल में कपूर मिलाने से दंतरोग नहीं होते और मुख सुवासित रहता है।

※इसी छंद में यदि अन्त में दो गुरु करके १ मात्रा बढ़ा दें तो छौपैया छंद हो जायगा।

अलङ्कार—अनुप्रास ।

मूल—(दोहा)—

सन्ध्या करि रवि पाँय परि, बाहर आये राम ।
गणक चिकित्सक आशिषा, बन्धुन किये प्रणाम ॥२५॥

शब्दार्थ—सन्ध्या = प्रातःसन्ध्या (इससे लक्षित हुआ कि स्नान भी कर चुके) गणक = ज्योतिषी । चिकित्सक = वैद्य । आशिषा = आशीर्वाद ।

भावार्थ—स्नान सन्ध्या करके और सूर्यदेव को जलांजुली देकर और प्रणाम करके जब श्रीरामजी बाहर आये, तब ज्योतिषी और वैद्य ने आशीर्वाद दिया और भाइयों ने प्रणाम किया ।

नोट—प्राचीन दस्तूर था कि प्रतिदिन सबेरे ही ज्योतिषी आकर दिनफल बताता था, और वैद्य नाड़ी देखकर पथ्य भोजन की अवस्था करता था ।

मूल—मरहट्टा छंद ।

सुनि शत्रु मित्र की, नृपचरित्र की, रैयत रावत बात ।
सुनि याचक जन के, पशु पक्षिन के, गुण गण अति अवदात ।
शुभ तन मज्जन करि, स्नान दान करि, पूजे पूरण देव ।
मिलि मित्र सहोदर बन्धु शुभोदर कीन्हे भोजन भेव ॥२६॥

शब्दार्थ—अवदात = विस्तारपूर्वक । मज्जन करि = देह कौ माँजकर अर्थात् उबटन लगाकर । कीन्हे भोजन भेव = भोजन की तैयारी की । शुभ-दर = खूब भूख लगने पर ।

भावार्थ—शत्रु मित्र की तथा राज्यप्रबन्ध की, तथा प्रजा और सरदारों की वार्ता सुनकर, याचकों के दिवेदन तथा पशु पक्षियों की विस्तृत रिपोर्ट सुन-कर (सबेरे का दर्बार खतम करके) शुभ शरीर में उबटन लगवाकर स्नान किये, दान दिये, सम्पूर्ण देवों का पूजन किया, तब खूब भूख लगने पर मित्रों और भाइयों सहित भोजन की तैयारी की ।

मूल—(दंडक)—

निपट नवीन रोगहीन बहुछीर लीन,
बच्छ पीन थन पीन हीयन हरतु हैं ।

ताँबे मढ़ो पीठ लागै रूप के खुरन डोठि,
देखि स्वर्ण सींग मन आनँद भरतु हैं।
काँसे की दोहनी श्याम पाट की ललित नोई,
घटन सों पूजि पूजि पाँयन परतु हैं।
शोभन सनौढ़ियन रामचन्द्र दिन प्रति,
गो शत सहस्र दै कै भोजन करतु हैं ॥२७॥

शब्दार्थ--बहुछीर लीन = बहुत दूध देनेवाली। पीन = पुष्ट। पाट = रेशम। नोई = वह रस्सी जिससे दुहते समय गाय के पिछले पैर बाँध दिये जाते हैं। शोभन = पवित्र। गोशत = एक सौ गायों के समूह का दान विशेष।

भावार्थ--अत्यन्त नवीन, रोग रहित, बहुत दूध देने वाली, जिनके बछवा और थन पुष्ट हैं, जो देखने में अति मनोहर हैं, पीठ ताँबे से, खुर चाँदी से मढ़े हैं जो ऐसे सुन्दर हैं कि नजर वहीं लग जाती है, और जिनके सोने से मढ़े सींग देखकर मन आनन्द से भर जाता है, ऐसी उत्तम गायें हैं और प्रति गाय एक-एक काँसे की दोहनी और काली रेशम की नोई है। ऐसी गायों का घंटों से पूजन करके पैर छूते हैं। श्रीरामजी प्रतिदिन पवित्र सनौढ़ियों को ऐसी गायों के हजार गोशत दान देकर तब भोजन करते हैं।

अलंकार--उदात्त।

(भोजन ५६ प्रकार का वर्णन)

मूल—(तोटक छन्द)

तहँ भोजन श्रीरघुनाथ करैं।
षट रीति मिठाइन चित्त हरैं।
पुनि खीर स्यों चौबिधि भात बन्यो,
तक तीनि प्रकारनि शोभ सन्यो ॥२८॥

शब्दार्थ--स्यों = सहित। चौबिधि = चार भाँति के। तक = तक्र।

भावार्थ-जहाँ श्रीरघुनाथजी भोजन करते हैं वहाँ इतने प्रकार की वस्तुएँ प्रस्तुत हैं कि छः प्रकार की मिठाइयाँ चित्त को हरती हैं, खीर सहित चार प्रकार के भात बने हैं अर्थात् चार प्रकार की खीर और चार ही प्रकार के भात बने हैं

(खीर भी ४ प्रकार की भात भी चार ही प्रकार के) और तीन प्रकार का सुन्दर तक्र बना है । ये ६ + ४ + ४ + ३ = १७ प्रकार हुये ।

मूल—

षट भाँति पहीत बनाय सँची,
पुनि पांच सो व्यंजन रीति रची ।
विधि पाँच सो रोटिन माँगत हैं,
विधि पाँच बरा अनुरागत हैं ॥२९॥

शब्दार्थ—पहीत = दाल । सची = संचित की है, एकत्र है । व्यंजन = तरकारियाँ ।

भावार्थ—छः प्रकार की दाल बनाकर एकत्र की गई हैं और पाँच प्रकार की तरकारियाँ विधिपूर्वक बनाई गई हैं । पाँच प्रकार की रोटियाँ माँग-माँग कर सब लोग खाते हैं, और पाँच प्रकार के बरों (बड़े) पर अनुराग प्रकट करते हैं अर्थात् प्रेमपूर्वक खाते हैं । ये सब ६ + ५ + ५ + ५ = २१ प्रकार हुये ।

मूल—

विधि पाँच अथान बनाय कियो । पुनि द्वै विधि छीर सो माँगि लियो ।
पुनि झारि सो द्वै विधिस्वादघने । विधि दोइपछावरिसातपने ॥३०॥

शब्दार्थ—अथान = अचार । झारि = खट्टी पेय वस्तु । पछावर = शिखरन । पने = पन्ने (यह लेह्य वस्तु हैं) ।

भावार्थ—पाँच प्रकार के अचार बने हैं, दो प्रकार का दूध है सो खाने-वाले यथा रुचि माँग लेते हैं । बहुत ही स्वादिष्ट दो प्रकार की झारि (पेय) है, और दो प्रकार की शिखरन तथा सात प्रकार ये पन्ने हैं । ये ५ + २ + २ + २ + ७ = १८ प्रकार हुये ।

मूल—(दोहा)—

पाँच भाति ज्यौंनारि सब षट रस रुचिर प्रकास ।
भोजन करि रघुनाथ जू बोले केशव दास ॥३१॥

शब्दार्थ—ज्यौंनारि सब = सब प्रकार के भोजन । बोले = बुलवाये । दास = सेवक । पाँच भाँति = (१) चोष्य जो चूसकर खाये जावें । (२) पेय =

जो पी लिये जायँ (३) भोज्य=जो दाँत से कुचल कर निगले जायँ (४) लेह्य = जो चाट कर खाये जायँ (५) चर्व्य =जो चबाकर निगले जायँ।

षटरस = (१) मधुर, मीठा (२) अम्ल (३) तिक्त, तीता, (४) कटु, कड़ुवा, (५) लवण, नमकीन (६) कषाय।

भावार्थ—समस्त ५६ प्रकार के भोजन जो पाँच भाँतियों और छः रसों को प्रकाशित करते थे, उन सबको भोजन करके रामजी ने (प्रसाद देने के लिये) सेवकों को बुलवाया।

(बसन्त वर्णन)

मूल—हरिलीला छन्द*—

(लक्षण—त+भ+ज+गुरु लघु=१४ वर्ण)

बैठे विशुद्ध गृह अग्रज अग्र जाय।
देखी बसन्त ऋतु सुन्दर मोददाय।
बौरे रसाल कुल कोमल केलि काल।
मानो अनंद-ध्वज राजत श्री विशाल ॥३२॥

शब्दार्थ—गृहअग्रज = घरों में सर्वश्रेष्ठ घर। गृह अग्रज-अग्र = सबसे उत्तम महल के अग्रभाग में। बौरे = कुसुमित हुये हैं, मंजरी निकल आई है। कोमल = सुगंधित।

भावार्थ—(भोजनान्तर आराम करके जब संध्या निकट आई तब) श्रीरामजी एक सर्वोत्तम महल के अग्रभाग (बारजे) में जा विराजे (साथ में जानकीजी भी हैं, जैसा आगे छन्द नम्बर ३६, ४० से प्रकट होगा) और सुंदर सुखदायक बसन्त ऋतु को आई हुई देखा (उसके चिन्ह आगे कहते हैं) आँबों के समूह सब बौरे हुये हैं, मानो काम ने सर्वजीवों का केलि समय जानकर सुंदर सुगंधित ध्वजा गाड़ दी है, वे ही ये आँब हैं जिनमें खूब शोभा छा रही है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

---

*इस छन्द का अन्तिम वर्ण गुरु मानें तो यही छन्द बसन्ततिलका हो जायगा, पर केशव ने इसका नाम हरिलीला लिखा है।

फूली लवंग लवली लतिका विलोल।
भूले जहाँ भ्रमर विभ्रम मत्त डोल।
बोलैं सुहंस शुक कोकिल केकिराज।
मानो बसन्त भट बोलत युद्ध काज ॥३३॥

शब्दार्थ—लवली = हरफरयोरी। विलोल = चञ्चल। विभ्रम = विशेष भ्रमित।

भावार्थ—लवंगलता और लवली लताएँ फूली हुई हैं, और वायु से चञ्चल हो रही हैं, जिन पर भँवर मस्त होकर विशेष भ्रम में पड़कर भूले फिरते हैं, हंस, शुक, कोयल और मोर बोल रहे हैं। मानो ये बसन्त के योद्धा हैं जो जीवों को युद्ध के लिये ललकार रहे हैं (कि आवे जिसका जी चाहै हमसे युद्ध कर ले।)

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—
सोहै पराग चहुँ भाग उड़ै सुगंध। जाते विदेश विरहीजन होत अंध॥
पालासमालविनपत्रविराजमान। मानोबसंतदियकामहिंअग्निबान॥३४॥

शब्दार्थ—पराग = पुष्पराज। चहुँभाग = चारों दिशा में। पालास माल = पलाश समूह।

भावार्थ—सब पुष्प पराग युक्त हैं, चारों ओर सुगंध उड़ रही है, जिससे विदेश निवासी वियोगी जन अन्धे हो जाते हैं। पत्र रहित पलास समूह ऐसा शोभता है मानों बसन्त ने कामदेव को अग्निबान दिया हो (बसन्त ने काम को देने के लिये अग्निबान तैयार किया हो)

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—मत्तगयंद सवैया।—(लक्षण—७ भगण दो गुरु)
फूले पलास विलास थली बहु केशवदास प्रकाश न थोरे।
शेष अशेष मुखानल की जनु ज्वाल विशाल चली दिवि ओरे।
किंशुकश्री शुकतुंडन की रुचि राचे रसातल में चित चोरे।
चोंचन चाँपि चहूँदिस डोलत चारु चकोर अंगारन भोरे॥३५॥

शब्दार्थ—बिलासथली = केलिकुञ्ज अशेष = सब। दिवि = स्वर्ग, आकास

किंशुकश्री = पलास फूलों की छवि । शुकतुंड = सुग्गे की चोंच । रुचि = सोभा । रसातल = पृथ्वी । भोरे = धोखे में ।

भावार्थ—केलिकुञ्जों में खूब पलास फूले हुए हैं जिनका खूब प्रकाश हो रहा है, वे ऐसे जानें पड़ते हैं मानों शेषजी के सब ही मुखों की विशाल ज्वालाएँ निकल कर आकाश की ओर जा रही हैं। पलास के फूल शुक की चोंच की शोभा रखते हुए पृथ्वी में दर्शकों के चित्त चोराते हैं और अंगारों के धोखे चकोर उन फूलों को चोंच में दबाकर चारों ओर घूमते फिरते हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा, भ्रम ।

मूल—मोतियदाम छंद—(लक्षण—४ जगण)

खिले उर सीत लसे जलजात । जरैं बिरही जन जोवत गात ।
किधौं मन मीनन को रघुनाथ । पसारि दियो बहु मन्मथ हाथ ॥३६॥

शब्दार्थ—सीत = शीतल, ठंढे । जोवत = देखते ही । गात = शरीर । रघुनाथ = (सम्बोधन में है)। मन्मथ = कामदेव ।

भावार्थ—(यह उक्ति किसी सखी या सीताजी की है) हे रघुनाथ जी, देखिये, वे नेत्रों को ठंडक देनेवाले कमल कैसे हृदय खोलकर फूले हैं, पर वियोगियों के शरीर इन्हें देखकर जलते हैं। ये कमल खिले हैं. या हे रघुनाथ-जी ! लोगों के मन रूपी मीनों को पकड़ने के लिये कामदेव ने बहुत से हाथ फैलाये हैं।

अलङ्कार—पाँचवीं विभावना, रूपक, संदेह ।

मूल—

जिते नर नागर लोग बिचारि । सबै बरनैं रघुनाथ निहारि ॥
किधौं परमानँद को यह मूल । विलोकत ही जु हरै सब शूल ॥३७॥

शब्दार्थ—नागरलोग = नगरनिवासी, चतुर लोग । बिचारि = विवेकपूर्वक । मूल = जड़ (जड़ी) । शूल = पीड़ा (दुखी)

भावार्थ—(श्री रघुनाथजी को बड़े महल के अगले बारजे में बैठा देखकर) जितने चतुर नगरनिवासी वहाँ से आते जाते हैं. वे सब रामजी को देखकर विचारपूर्वक यों वर्णन करते हैं कि हमारे राजराजेश्वर श्री रामजी हैं या यह परमानन्ददायिनी कोई जड़ी बूटी है. जिसके देखने ही से सब पीड़ा हर जाती है

(अन्य जड़ी तो खाने से शूल हरती है, इसे देखने ही से शूल हर जाती है, यह विशेषता है ।)

अलङ्कार—व्यतिरेक से पुष्ट सन्देह ।

मूल—

किधौं बन जीवन को मधुमास ।
रचे जग-लोचन-भौंर विलास ।
किधौं मधु को सुख देन अनंग ।
धरयौ मन-मीन निकारन अंग ॥३८॥

शब्दार्थ—मधुमास = चैत्रमास । विलास रचे = केलि में आसक्त हो गये हैं । मधु = बसन्त । अनंग = कामदेव ।

भावार्थ—ये श्रीरामजी हैं या वनजीवों के लिये चैत्रमास है (चैत्रमास वनजीवों के लिये अति सुखदायी है), देखिये इन पर संसार भर के लोचन-रूपी भौंरे केलि में आसक्त हैं (जैसे चैत्रमास में पुष्प खिलते हैं और उन पुष्पों पर भौंरे केलि कर के आनन्द पाते हैं वैसे ही संसार भर के नेत्र इनके दर्शन से आनन्द प्राप्त करते हैं) या बसन्त को सुख देने के लिये सहायता के लिये) जनों के मनमीनों को पकड़ने के हेतु कामदेव ही ने साक्षात् शरीर धारण किया है—(ये कल्पनाएँ राम के सौन्दर्य पर हैं, आगे सीता के रूप पर भी हैं) ।

अलङ्कार—सन्देह, रूपक ।

मूल—

किधौं रति कीरति-बेलि-निकुंज । बसै गुण पच्छिन को जहँ पुंज ।
किधौं सरसीरुह ऊपर हंस । किधौं उदयाचल ऊपर हंस ॥३९॥

शब्दार्थ—रति = प्रेम । कीरति = (कीर्ति) सुयश । निकुञ्ज = घनी कुंज । सरसीरुह = कमल । हंस = मरालपक्षी । हंस = सूर्य ।

भावार्थ—(छंद के पूर्वार्द्ध में सीताजी का वर्णन है और उत्तरार्द्ध में रामजी का) ये सीताजी हैं, या प्रेम और सुयश रूपी लतिकाओं की घनी कुंज हैं, जहाँ गुणरूपी पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड बसते हैं (जैसे कुंभ में पक्षी बसते हैं, वैसे सीता में अनेक गुण बसते हैं) और ये आसन पर बैठे श्रीरामजी हैं, या

कमल पर हंस बैठा है, या ऊँचे महल के बारजे पर रामजी हैं या उदयाचल पर्वत पर सूर्य नारायण विराजे हैं।

अलङ्कार—रूपक और सन्देह।

मूल—(दोहा)—

प्राची दिसि ताही समय, प्रगट भयो निशिनाथ।
बरनत ताहि बिलोकि कै, सीता सीतानाथ॥ ४०॥

(चन्द्र वर्णन)

शब्दार्थ—प्राची दिसि = पूर्व की ओर। निशिनाथ = चन्द्रमा। सीतानाथ = रामजी।

नोट—"प्राची दिशि में चन्द्रमा निकला' इससे प्रगट है कि पूर्णिमा की तिथि थी। साहित्य में बहुधा द्वितीया वा पूर्णिमा के चन्द्रमा का ही वर्णन होता है।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल - (सीता)-दोधक छन्द—(लक्षण—३ भगण दो गुरु)

फूलन की शुभ गेंद नई है।
सूंघि शची जनु डारि दई है।
दर्पण सो शशि श्री रति को है।
आसन काम महीपति को है॥ ४१॥

भावार्थ—(सीताजी कहती हैं कि) यह चन्द्रमा मानो फूलों की नवीन गेंद है, जिसे इन्द्राणी ने सूंघ कर फेंक दिया है। यह चन्द्रमा श्रीरति के दर्पण सम है, या कामराज का आसन है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उपमा से पुष्ट उल्लेख।

मूल—(सीता)—

मोतिन को श्रुतिभूषण जानो। भूलि गई रवि की तिय मानो।

(राम)

अङ्गद को पितु सो सुनिये जू। सोहत तारहिं संग लिये जू॥ ४२॥

शब्दार्थ—श्रुति भूषण = झूमक। अङ्गद को पितु = बालि। तारा = (१) नक्षत्र (२) अंगद की माता तारा।

भावार्थ—(सीताजी कहती हैं कि) – यह चन्द्रमा ऐसा है मानो मोतियों का झूमका है जो सूर्य की स्त्री असावधानी से यहाँ भूल गई है (कान से गिर गया है)। (रामजी बोले)—नहीं, यह तो बालि के समान है क्योंकि यह भी तारा को साथ लिये है (चन्द्रमा तारापति कहलाता है)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और उपमा से पुष्ट उल्लेख।

मूल—

भूप मनोभव छत्र धरयो ज्यों। लोक वियोगिनि को विदरयो ज्यों।
देवनदी जल राम कह्यो जू। मानहु फूलि सरोज रह्यो जू॥४३॥

शब्दार्थ—मनोभव = कामदेव। लोक = लोग, जगजन। ज्यो = जीव, प्राण। देवनदी = आकाशगंगा। सरोज = पुण्डरीक (सफेद कमल)।

भावार्थ—(सीताजी कहती हैं)—यह चन्द्रमा ऐसा है मानो कामराज का छत्र हो, इसीसे तो इसे देख कर वियोगी जनों के प्राण विदीर्ण होते हैं। (तब रामजी ने कहा कि) हे सीते! हमें तो ऐसा जान पड़ता है मानो आकाश-गंगा में पुण्डरीक फूल रहा है।

अलंकार—उदाहरण, काव्यलिंग, उत्प्रेक्षा से पुष्ट उल्लेख।

मूल—

फेन किधौं नभ सिंधु लसै जू। देवनदी जल हंस बसै जू।
शंख किधौं हरि के कर सोहै। अंबर सागर ते निकसो है॥ ४४॥

शब्दार्थ—यह चन्द्रमा है या आकाश रूपी समुद्र का भाग है, या आकाश-गंगा के जल में हंस बसा है, या आकाश-सागर से निकला हुआ संख है जो श्री विष्णु के हाथ में शोभित है।

अलंकार—संदेह से पुष्ट उल्लेख।

मूल—(दोहा)—

चारु चंद्रिका सिंधु में शीतल स्वच्छ सतेज।
मनो शेष मय शोभिजै हरिणाधिष्ठित सेज॥ ४५॥

शब्दार्थ—स्वच्छ = सफेद। सतेज = कान्तिमान। शेषमय = शेषनाग ही

की। हरिणाधिष्ठित=(१) जिस पर हरि बैठे हों (२) जिस पर हरिण (मृग) बैठा हो।

नोट—चन्द्रमा में काला दाग है जिसे मृग का चिन्ह मानते हैं।

भावार्थ—(रामजी कहते हैं कि हे सीते) यह सुन्दर चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है मानों चन्द्रिका रूप क्षीर सिंधु में शीतल सफेद और कान्ति युक्त शेष-शय्या है जिसपर मृगांक के स्वयं विष्णु विराज रहे हैं।

अलङ्कार—श्लेष से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

नोट—'हरिणाधिष्ठित' शब्द का श्लेष केशव के पाँडित्य का एक प्रमाण है। अन्य हिन्दी कवि ऐसे श्लेष नहीं ला सके। यहाँ व्याकरण की गंभीर योग्यता दिखाई गई है।

मूल—(दंडक छंद)—

केशोदास है उदास कमलाकर सों कर,
शोषक प्रदोष ताप तमोगुण तारिये।
अमृत अशेष के विशेष भाव बरसत,
कोकनद मोद चंड खंडन विचारिये।
परमपुरुषपद-विमुख परुष रुख,
सुमुख सुखद बिदुषन उर धारिये।
हरि हैं री हिये मे न हरिण हरिणनैनी,
चन्द्रमा न चन्द्रमुखी नारद निहारिये ॥४६॥

नोट—इस छन्द में ऐसे श्लिष्ट शब्द आये हैं जिनके अर्थ चन्द्रमा पर तथा नारद दोनों पर घटित होते हैं—(यह भी केशव के पांडित्य का एक नमूना है)।

शब्दार्थ—(चन्द्रमा पक्ष का) है उदास कमलाकर सों कर=जिसकी किरणें कमलों के समूह से उदासकारी भाव रखती हैं अर्थात् कमलों को संकुचित कर देती हैं। शोषक=नाशक। प्रदोष=संध्याकाल। ताप=गरमी। तमोगुण= अंधकार। तारिये=ताड़ते हैं, देखते हैं। अमृत=सुधा। अशेष=पूर्ण। भाव=विभूति। कोक-नद-मोद=चक्र-वाकों के शब्दों का आनन्द। चंडखंडन=अच्छी तरह खंडन करने वाला। परम पुरुष=पति। परम पुरुष

पद विमुख = पति से रूठी हुई मानिनी नायिका। परुषरुख = क्रुद्ध। विदुषन उर धारिये = प्रवीण जन जिसे हृदय में धारण करते हैं, चाहते हैं।

(नारद पक्ष का)—है उदास कमला कर सों कर = लक्ष्मी के समूह से जिसका हाथ उदासीन है, लक्ष्मी (धन) नहीं ग्रहण करते। शोषक = नाशक। प्रदोष = बड़े दोष। ताप = त्रिताप। तमोगुण = अज्ञान। तारिये = देखते हैं। अमृत = अमर। अशेष = पूर्ण। अमृत अशेष = अमर और पूर्ण अर्थात् विष्णु भगवान। भाव = चरित्र। कोक-नद-मोद = कोकशास्त्र के शब्दों का आनन्द, विषय वार्ता का आनन्द। चंडखंडन = प्रचंड खंडन कर्ता। परमपुरुष = ईश्वर। परुषरुख = नाराज। विदुषन उर धारिये = पण्डित लोग जिन्हें चित्त से चाहते हैं।

नोट—(चौथे चरण का अर्थ पहले करना चाहिये तब चन्द्रमा और नारद का समता का मज़ा मिलैगा)।

भावार्थ—(श्रीरामजी चन्द्रमा को देख कर श्रीसीताजी से कहते हैं कि) हे चन्द्रमुखी, यह चन्द्रमा नहीं है यह तो नारद जी हैं, और हे मृगनैनी, इसका काला दाग, मृग नहीं है वरन् नारद के उर निवासी विष्णु हैं जो श्यामकान्ति धारी दिखाई पड़ते हैं। यदि कहो कि नारद कैसे हैं तो देखिये जैसे चन्द्र-किरण कमलों से उदासीन भाव रखते हैं वैसे ही नारद के हाथ भी धनसमूह से उदासीन रहते हैं; चन्द्रमा जैसे प्रदोष, गरमी और अन्धकार को हरता है, नारद भी बड़े दोषों, त्रितापों और अज्ञान को हरते हैं, सो प्रत्यक्ष देखते हैं। जैसे चन्द्रमा परिपूर्ण भाव से अमृत बरसाता है वैसे ही नारद भी अमर और सर्व-व्यापी विष्णु के चरित्रों को गा-गा कर संसार में बरसते फिरते हैं, जैसे चन्द्रमा चक्रवाकों के आनन्द का प्रचंड खंडन करता है जैसे चन्द्रमा पतिपद विमुख मानिनी स्त्रियों के प्रति क्रुद्ध रहता है, वैसेही हरि विमुख जनों से नारद भी नाराज़ रहते हैं, वैसेही नारद भी विषयवार्ता के आनन्द का प्रचंड खंडन करते हैं। जैसे पति-अनुकूल नायिकाओं को चन्द्रमा सुखद है, वैसेही हरिसम्मुख जीवों पर नारद भी सन्तुष्ट रहते हैं, जैसे पण्डितजन चन्द्रमा को चाहते हैं वैसेही नारद को भी चाहते हैं। इसीसे हम कहते हैं कि यह चन्द्रमा नहीं नारद हैं।

अलङ्कार—श्लेष से पुष्ट छेकापन्हुति।

मूल—(दोहा)—

आई जानि बसन्त ऋतु बनहिं बिलोकत राम।
धरणीधर सीता सहित, रति समेत जनु काम ॥४७॥

शब्दार्थ—धरणीधर = चक्रवर्ती राजा।

भावार्थ—बसन्त ऋतु आई जानकर चक्रवर्ती राम सीता सहित बाग की सैर कर रहे हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो रति और काम हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(तीसवाँ प्रकाश समाप्त)

—:❀:—

इकतीसवाँ प्रकाश

दो०—इकतीसयें प्रकाश में रघुबर बाग पयान।
शुक मुख सियदासीन को बर्णन विविध बिधान।

मूल—चंचलाछन्द— (लक्षण—८ बार गुरु लघु = १६ वर्ण)

भोर होत ही गयो सु राज लोक मध्य बाग।
बाजि आनियो सु एक इंगितज्ञ सानुराग।
शुभ्र सुम्भ वारिहून अंश रेणु के उदार।
सीखि सीखि लेत हैं ते चित्त चंचला प्रकार ॥१॥

शब्दार्थ—राजलोक = राज भवन के लोग (दासियों सहित सीताजी, सारा रनिवास) इंगितज्ञ = इशारों को जाननेवाला। शुभ्र = सफेद। सुम्भ = टापें। अंश = कण। उदार चित्त = उदार जनों के चित्त। चंचला = चंचलता। उदार चित्त चञ्चला प्रकार सीखि २ लेत = उदार जनों के चित्त जिन सुमों से चञ्चलता के प्रकार सीख लेते हैं (अर्थात् जिनके सुमों में चित्त से भी अधिक चञ्चलता है)

नोट—इस प्रसंग में इस चञ्चला छंद का प्रयोग केशव की पंडिताई प्रगट करता है। घोड़े का वर्णन है। छंद ऐसा चुना जिसकी गति घोड़े की गति से मिलती है। छंद को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि मानो घोड़ा खूँद रहा है।

भावार्थ—सबेरा होते ही सारा रनिवास बाग को गया। रामजी की सवारी के लिए इशारे जाननेवाला तथा राम पर अनुराग रखनेवाला एक घोड़ा

लाया गया। उस घोड़े के चारो सुम सफेद थे। सुमों में जो कुछ रेणु कण लग गये थे वे मानो उदार मनवाले लोगों के चित्त थे जो घोड़े की टापों में जा बसे थे ताकि इन पैरों से चञ्चलता के प्रकार सीख लें।

अलङ्कार—गुणोत्प्रेक्षा।

मूल—तोमर छन्द—(लक्षण—१२ मात्रा)

चढ़ि बाजि ऊपर राम। बन को चले तजि धाम।
चढ़ि चित्त ऊपर काम। जनु मित्र को सुनि नाम॥२॥

शब्दार्थ—मित्र=काम का मित्र बसंत। बन=बाग।

भावार्थ—घोड़े पर चढ़ कर श्रीरामजी घर से बाग को जा रहे हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानों अपने मित्र बसंत का आगमन सुन कर कामदेव मन पर चढ़ कर मिलने के लिये जा रहा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—मग में बिलम्ब न कीन। बनराज मध्य प्रवीन।
सब भूपरूप दुराय। युवती बिलोकीं जाय॥३॥

शब्दार्थ—बनराज=बागों का राजा, उत्तम बाग। सब भूपरूप दुराय= राजसी सामग्री छत्र चामरादि छोड़ कर।

भावार्थ—रास्ते में कहीं ठहरे नहीं, प्रवीण रामजी तुरन्त बागराज में जा पहुँचे और छत्र चामरादि राजसी ठाट छोड़, साधारण वेष में छुपकर रनिवास की स्त्रियों का बन-विहार देखने लगे।

(शिख-नख वर्णन)

(केश)

मूल—

स्वागत छन्द—(ल०—र+न+भ×दो गुरु=११ वर्ण)

राम संग शुक एक प्रवीनो। सीयदासि गुण बर्णन वीनो।
केश पास शुभ स्याम सनेही। दास होत प्रभु! जी विदेही॥४॥

शब्दार्थ—शुक=एक अंतरंग सखा का नाम। केशपाश=बाल। सनेही=तैल युक्त। प्रभु (सम्बोधन में) हे प्रभु, हे रामजी। विदेही=जितेन्द्रिय।

नोट—यहाँ पर एक सखा द्वारा सियदासी का शिख-नख वर्णन कराना (सीता का नहीं) कवि के भक्ति मर्यादा ज्ञान का द्योतक है। जिसकी दासियाँ ऐसी हैं, वहाँ महाराणी कैसी होंगी—व्याजस्तुति अलंकार है। केशव का भक्ति मर्यादा ज्ञान प्रगट करता है। तुलसीदास का मर्यादाज्ञान बहुत प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है, पर यहाँ पर केशव उनसे बढ़ गये हैं।

भावार्थ—श्रीरामजी के साथ में शुक नामक एक चतुर अंतरंग सखा था। बाग में पहुँच कर और बसन्त से प्रभावित होकर (सीता को तो नहीं पर) सीताजी की दासियों की इस प्रकार प्रशंसा करने लगा। हे प्रभु! देखिये तो इसके बाल कैसे सुंदर, काले और फुलेल युक्त हैं कि जितेन्द्रियजनों के चित्त भी इसके दास हो जाते हैं (विदेहीजन भी इन बालों पर मोहित हो सकते हैं)।

अलङ्कार—सम्बंधातिशयोक्ति।

(कबरी)

मूल—

भाँति भाँति कबरी शुभ देखी। रूपभूप-तरवारि विशेखी।
पीय प्रेम प्रन राखन हारी। दीह दुष्ट छल खंडन कारी॥ ५॥

शब्दार्थ—कबरी=चोटी।

भावार्थ—(साथ में अनेक दासियाँ हैं, अतः) उन दासियों की अनेक प्रकार की चोटियाँ देखीं। वे ऐसी मालूम हुईं मानो सौंदर्य रूपी राजा की तलवारें हैं, जो प्रियतम (पतियों) के प्रेमप्रन की रक्षिका तथा बड़े-बड़े दुष्टों के छलों को खंडन करने वाली हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा से पुष्ट परंपरित रूपक।

मूल—(चौपाई छंद)—(लक्षण—१५ मात्रा)।

किधौं सिंगार सरित सुखकारि। बंचकतानि बहा वनिहारि।
कंचन पानपांति सोपान। मनो सिंगार लोक के जान॥ ६॥

शब्दार्थ—सरित=नदी। कंचनपान=सोने के बने वेणी में पहनने के पान। सोपान=सीढ़ी।

भावार्थ—वे चोटियाँ हैं या सुखदायिनी सिंगार नदियाँ हैं जो छल कपट को बहा ले जाने वाली हैं (जिनके आगे किसी का छल कपट नहीं चल सकता)। उन चोटियों में जो बेणीपान नामक आभूषण गुहे हुए हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों सिंगारलोक को चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(शिरोभूषण)

मूल—चौपाई छंद।

सीसफूल अरु बेंदा लसै। भाग सोहाग मनो सिर बसै।
पाटिन चमक चित्त चौंधिनी। मानौ दमकति घन दामिनी॥ ७॥

भावार्थ—शिर पर शीशफूल बेंदा शोभा दे रहे हैं, मानों भाग्यवानता और सुहाग ही सिर पर वास किये हैं। पटियों पर ऐसी चमक है कि चित्त चौंधिया जाता है, मानो काले बादलों में बिजली चमकती हो।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

सेंदुर माँग भरी अति भली। तिहि पर मोतिन की आवली।
गंग-गिरा तन सों तन जोर। निकसीं जनु जमुना जल फोरि॥८॥

शब्दार्थ—आवली=(अवली) पंक्ति। गिरा=सरस्वती नदी।

भावार्थ—माँग सिंदूर से भरी बहुत अच्छी मालूम होती है। उस पर मोतियों की पंक्ति है (माँग में मोती गुहे हैं) यह शोभा ऐसी जान पड़ती है मानो गंगा और सरस्वती की धाराएँ एक साथ मिल कर जमुना जल को फोड़ कर ऊपर निकल आई हैं। काली पटियाँ जमुनाजल, सिंदूर सरस्वती-धार और मोतीपंक्ति गंगा-धार हैं)।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

शीशफूल शुभ जरयो जराय। माँगफूल सोहै सम भाय।
बेणीफूलन की बर माल। भाल भले बेंदा युग लाल॥ ९॥
तम नगरी पर तेज निधान। बैठे मनो बारहो भान।

शब्दार्थ—१ शीशफूल, माँगफूल, दो लाल जटित बेंदा, बेणीपान के ८ दाने सब मिलाकर १२ हुए।

भावार्थ—शुक कहता है कि १ जड़ाऊ शीशफूल, एक मांगफूल, दो माणिकजटित बेंदा और ८ नग का बेणीफूल. इतने जेवर जो शिर पर हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो तम-नगर पर तेज निधान बारहों सूर्य आ विराजे हैं।

नोट—ये १॥ छन्द हैं, पर प्रसंग वश एकत्र लिखे हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

भृकुटि कुटिल बहु भायन भरी। भाल लाल दुति दीसत खरी॥१०॥
मृगमद तिलक रेख युगबनी। तिनकी सोभा सोभित घनी॥
जनु जमुना खेलति शुभगाथ। परसन पितहि पसारयो हाथ॥११॥

नोट—ये भी १॥ छन्द हैं, पर प्रसंग की एकता से एक साथ लिखे हैं।

शब्दार्थ—मृगमद = कस्तूरी। शुभगाथ = सर्वप्रशंसित। जमुना सूर्य की पुत्री हैं। और पहले शिरोभूषणों को १२ भानु कह आये हैं।

भावार्थ—अनेक भावों से भरी बाँकी भौंहें, ललाट की लाल दमक के कारण, खूब स्पष्टता से (काली यमुना के समान) दिखाई पड़ती हैं। (भौंहों के बीच में अर्थात् ठीक नाक के ऊपर) कस्तूरी तिलक की दो रेखाएँ ऊपर की ओर को बनी हैं। उनकी शोभा ऐसी अच्छी मालूम होती है मानो सर्वप्रशंसित खेलती हुई जमुनाजी ने पिता को स्पर्श करने को (उनकी गोद में जाने को) अपने दोनों हाथ फैलाए हों (कुटिल भौंहें यमुना हैं, कस्तूरी की दोनों रेखाएँ दोनो हाथ हैं, शिरोभूषण पिता सूर्य है।)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(नेत्र)

मूल—पंकजबाटिका छंद—(लक्षण—भ + न + २ ज + एक लघु = १३ वर्ण)

लोचन मनहु मनोभव यंत्रहि । भ्रू युग उपर मनोहर मन्त्रहि ।
सुन्दर सुखद सुअंजन अंजित । बाण मदन विषसों जनु रंजित ॥१२॥

शब्दार्थ—मनोभव = काम । भ्रू = भौंह । मदन = काम । रंजित = रँगे, बुझे ।

भावार्थ—उन दासियों के नेत्र मानो काम के यंत्र (फंदे) हैं, दोनों भौंहें तो मनहारी मन्त्र ही हैं । सुन्दर सुखदायक नेत्र सुन्दर अंजन से अंजित है (अंजन लगा हुआ है) वे ऐसे मालूम होते हैं मानों विष से बुझे कामबाण हैं ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

(नासिका)

मूल—चौपई छन्द ।

सुखद नासिका जग मोहियो । मुक्ताफलनि युक्त सोहियो ।
आनँदलतिका मनहु सफूल । सूंघि तजत ससि सकलकुशूल ॥१३॥

शब्दार्थ—कुशूल = बुरा रोग । ऐसा लोकापवाद है कि फूल सूँघ कर फेंक देने से नासिका के कुछ रोग दूर हो जाते हैं ।

भावार्थ—सुखद नासिका, मोती भूषण सहित, ऐसी शोभती है कि जग मोहित होता है । वह ऐसी जान पड़ती है मानों फूली हुई आनन्दलता है, अथवा (मुख रूपी) चन्द्रमा ने फूल सूँघ कर फेके हैं जिससे उसकी पीड़ा दूर हो जाय ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

(ताटंक)

मूल—पद्धटिका छंद—(लक्षण—१६ मात्रा, अन्त में जगण)

ताटंक जटित मणि श्रुति बसंत । रबि एकचक्र रथ से लसंत ।
जनु भालतिलक-रविव्रतहिंलीन । नृपरूप अकाशहिंदीपदीन ॥१४॥
अति झुलमुलीनसहझलकलीन । फहरात पताका जनु नबीन ।

शब्दार्थ— ताटंक = ढारैं (एक कर्णभूषण) । श्रुति = कान । झुलमुली = झूमक ।

भावार्थ—मणिजड़ी ढारैं कानों में हैं, वे सूर्य के रथ के एक चक्र के समान शोभित हैं । अथवा ऐसी जान पड़ती हैं, मानो सौन्दर्यरूपी राजा ने भाल-तिलक (भाल पर का बेंदा) रूपी सूर्य के व्रत में लिप्त होकर उसी सूर्य को आकाशदीप का दान किया हो (अग्गासिया जलाये हों) । वे ढारैं झुमकों सहित ऐसी झल-झलाती हैं, मानो कोई अनोखी (नवीन) पताका फहरा रही हों ।

अलङ्कार - उपमा, उत्प्रेक्षा ।

(दंत और मुखबास)

अति तरुण अरुण द्विज दुति लसंति ।
निजु दाड़िम बीजन को हसंति ॥१५॥
सन्ध्याहि उपासत भूमि देव ।
जनु बाकदेवि की करत सेव ।
शुभ तिनके सुख मुख के विलास ।
भयो उपवन मलयानिल निवास ॥१६॥

शब्दार्थ--तरुण = पुष्ट । अरुण = लाल । द्विज = दाँत । निजु = निश्चय । बाकदेवि = बाणी । सुख = सहज । मुख के विलास = बातें करने से । मलयानिल = मलयागिरि की सुगन्धित वायु । उपवन = बाग ।

भावार्थ— पुष्ट और लाल (पान खाने से) दाँतों की दुति अति शोभा देती है और निश्चयपूर्वक अनारदानों पर हँसती है । मुख में वे दाँत ऐसे जान पड़ते हैं मानो ब्राह्मण सन्ध्योपासन करके बाणी देवी की सेवा कर रहे हैं ।

नोट—'द्विज' शब्द ने ही यह कल्पना केशव से कराई है । उनकी शुभ और सहज वार्ता से ही वह उपवन सुगन्धित मलयपवन का निवास-स्थान " गया है ।

अलङ्कार—ललितोपमा, उत्प्रेक्षा ।

(मुसुकानि और बाणी)

मूल—चौपाई छंद।

मृदु मुसुकानि लता मन हरैं। बोलत बोल फूल से झरैं।

तिनकी बाणी सुतिमनहारि। बाणी बीणा धरयौ उतारि ॥१७॥

भावार्थ—उनकी मृदु मुसुकनि रूपी लता देखते ही मन हरती है, और जब वे बोलती हैं तो मानों फूल ही झरते हैं। उनकी मन हरणी बाणी सुनकर सरस्वती ने अपनी बीणा उतार कर धर दी है (लज्जित हो गई है।)

अलङ्कार—रूपक, उत्प्रेक्षा, ललितोपमा।

(अलक)

मूल—

लटकै अलिक अलक चीकनी। सूक्षम अमल चिलकसों सनी।

नकमोतो दीपकदुति जानि। पाटी रजनी ही उनमानि ॥१८॥

ज्योति बढ़ावत दशा उनारि। मानहु स्यामल सींक पसारि।

जनु कबिहित रबि रथते छोरि। स्यामपाट की डारो डोरि ॥१९॥

शब्दार्थ—(१८) अलिक = ललाट। अलक = लट। चिलक = चमक। पाटी = पटियाँ। उनमानि = अनुमान करके। (१९) दशा = बत्ती। उनारि = उकसाकर, बढ़ाकर। कबि = शुक्र। रबि = सूर्य। पाट = रेशम।

भावार्थ—ललाट पर चीकनी, बारीक, स्वच्छ और चमकीली लट लटक रही है, वह ऐसी मालूम होती है मानो (ऊपर कहे हुए शीशफूल रूपी) सूर्य, नकमोती को चिराग, और पटियों को रात्रि समझ कर, एक काली सींक फैला कर, उस चिराग की बत्ती उकसा कर उसकी ज्योति बढ़ाता है। अथवा (दूसरी उत्प्रेक्षा यह है कि) मानो सूर्यदेव ने अपने रथ से छोर कर शुक्र को ऊपर चढ़ा लेने के लिये कालो रेशम की रस्सी लटकाई है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा—(अद्वितीय उत्प्रेक्षाएँ हैं)

मूल—

रूप अनूप रुचिर रसभीनि। पातुर नैननि की पुतरीनि।

नेह नचावत हित रतिनाथ। मरकत लकुट लिये जनु हाथ ॥२०॥

शब्दार्थ—पातुर = नटी। हित रतिनाथ = कामदेव के देखने के लिये। मरकत = नीलम।

भावार्थ—(पुनः उसी लट पर उत्प्रेक्षा है)- नेत्र की पुतली रूपी नटी के अनुपम रूप के रुचिर रस में भीन कर, कामदेव के देखने के लिये स्नेह (शिक्षक) मानो हाथ में नीलम की छड़ी लिये हुए उन्हें नाचना सिखाता है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा—(बड़ी अनूठी कल्पना है)

(मुख)

मूल—(दोहा)—

गगन चन्द्र ते अति बड़ो तिय-मुख-चन्द्र बिचारु।
दई विचारि विरंचि चित कला चौगुनी चारु ॥२१॥

भावार्थ—आकाशबिहारी चन्द्र से तियमुखचन्द्र अति बड़ा जानना चाहिये। चित्त में यही बिचार कर ब्रह्मा ने मुख को चन्द्रमा से चौगुनी कलाएँ दी हैं। (चन्द्रमा में १६ कलाएँ मानी जाती हैं, इस हिसाब से मुख में ६४ कलाएँ हुईं।)

नोट—चन्द्रमा की १६ कलाओं तथा प्रसिद्ध चौसठ कलाओं के नाम हिन्दी शब्दसागर में देखे जा सकते हैं, यहाँ लिखने से व्यर्थ विस्तार होगा।

यद्यपि ६४ मुख ही में नहीं रहतीं, तो भी ये ६४ कलाएँ कामशास्त्रानुकूल हैं, और इनके सीखने सिखाने में मुख ही से काम लिया जाता है। इसलिये कवि ने इनका निवास स्त्री के मुख में माना है।

अलङ्कार—व्यतिरेक।

मूल—(दंडक)—

दीन्हो ईश दंडबल, दलबल, बीजबल,
तपबल, प्रबल समेत कुलबल की।
केशव परमहंस बल, बहू कोशबल,
कहा कहौं बडीयै बड़ाई दुर्ग-जल की।
बिधिबल, चन्द्रबल, श्रीको बल श्रीशबल,
करत है मित्रबल रक्षा पल पल की।

मित्रबल हीन जानि अबला मुखनि बल,
नीकै कै छड़ाय लई कमला कमल की ॥२२॥

नोट—इस छंद में श्लेष से वे ही बल वर्णन किये गये हैं जो एक राजा में होते हैं।

शब्दार्थ—ईश = ईश्वर। दंड = (१) कमलदंड (२) राजदंड। दल = (१) कमल पत्र (२) राजसेना। बीज = (१) कमल-बीज (२) वीर्य, वीरता। तप = तपस्या—(१) कमल-पक्ष में जल निवास (२) राजपक्ष में पूर्व-कृत तपस्या। परमहस = (१) सुन्दर हंसपक्षी (२) तपस्वी। कोश = (१) कमल का बीज कोश, करहाट (२) खजाना। दुर्ग = (१) अगम (२) कोट। बिधि = (१) ब्रह्मा (२) कानून। चन्द्र = (१) चन्द्रमा (२) भाग्य नसीबा। श्री = (१) लक्ष्मी (२) राज्यश्री। श्रीश = विष्णु। मित्र = (१) सूर्य (२) मित्र राजे। मित्र = शुक (वर्णन करने वाले सखा) के मित्र श्रीरामजी। बल = बल पूर्वक, जबरदस्ती। नीक कै = अच्छी तरह से। कमला = शोभा, कांति।

भावार्थ—शुक रामजी का अंतरंग सखा कहता है कि हे मित्र! देखो कमल में सब प्रकार से वे ही बल हैं जो एक राजा में होते हैं, पर तुम्हारे बल से हीन जान, इन अबलाओं के मुखों ने कमल की शोभा जबरई छीन ली है (क्योंकि आप इन अबलाओं के पक्षधर हैं)—देखिये जैसे राजा में राजदंड धारण करने से बल आता है वैसे ही कमल को भी दंडबल है (उसमें भी कमल-नाल होती है), राजा के समान कमल को भी दल का बल (कमल में पुष्पदल हैं) है, जैसे राजा को वीरता का बल रहता है वैसे ही कमल को भी बीज बल है, तपबल और कुलबल भी राजा के समान ही है। राजा को जैसे तपस्वियों का बल प्राप्त रहता है वैसे ही कमल को सुन्दर हंसों का बल है, राजा की तरह कमल को भी कोश (बीजकोश) बल प्राप्त है और जैसे राजा को कोट और जलखाई का बल होता है वैसे ही कमल को भी अगाध गम्भीर जल का बल रहता है। राजा को विधि (कानून) बल होता है तो कमल को ब्रह्मा का बल है (कमल ब्रह्मा का पिता है) जैसे राजा को चन्द्र, लक्ष्मी और विष्णु का बल रहता है, वैसे ही कमल को भी है (क्योंकि चन्द्रमा कमल का भाई लक्ष्मी बहिन और विष्णु बहनोई हैं) जैसे राजा को अपने मित्र राजा का बल रहता है वैसे ही

कमल का सूर्य का बल है और वह सदा उसकी रक्षा करता है। पर इतने सब बल होते हुए भी सीताजी की अवला दासियों के मुखों ने कमल को तुम्हारे से हीन तथा अपने को तुम्हारे बल से बलिष्ठ जानकर कमल की छवि जबरदस्त छीन ली है अर्थात् कमल से भी अधिक सुन्दर हैं, इति भाव।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट प्रतीप।

मूल—(दोहा)—

रमनी मुखमण्डल निरखि राकारमण लजाय।
जलद, जलधि, शिव, सूर में, राखत बदन छिपाय ॥२३॥

शब्दार्थ—रमनी = स्त्री (यहाँ सीता जी की दासियाँ)। राका-रमण = पूर्ण चन्द्र। जलद = बादल। जलधि = समुद्र। शिव = महादेव। सूर = सूर्य।

भावार्थ—शुक कहता है, इन स्त्रियों के मुखमंडलों को देख कर पूर्णचन्द्र लज्जित होकर बादल में, समुद्र में शिव के मस्तक पर (जटाओं के नीचे) और सूर्य मंडल में जा-जाकर मुँह छिपाता फिरता है (चन्द्रमा प्रत्येक अमावस्या को सूर्य मंडल में होता है।)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा (असिद्धास्पद हेतु)।

(ग्रीवाभूषण)

मूल—(विशेषक छंद)—लक्षण ५ भगण + १ गुरु = १६ वर्ण = अश्वगति)

भूषण ग्रीवन के बहु भाँतिन सोहत हैं।
लाल सितासित पीत प्रभा मन मोहत हैं।
सुन्दर रागन के बहु बालक आनि बसे।
सीखन को बहु रागिनि केशवदास लसे ॥२४॥

शब्दार्थ—सितासित = (सित + असित) सफेद, और श्याम। पीत = पीले

भावार्थ—उन दासियों के गले में लाल, सफेद, काले और पीले रंग के जेवर शोभित हैं जो अपनी छटा से मनों को मोहित करते हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो छहों रागों के अनेक पुत्र रागिनि सीखने के लिए वहाँ आ बैठे हैं (क्योंकि उनकी बोली रागनियों को मात करती है)।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा।

(बाहु)

मूल—चौपाई छन्द ।

कोमल शब्दनिवंत सुवृत्त । अलंकारमय मोहनमित्त ।
काव्य सुपद्धति सोभा गहे । इनके बाहुपाश कवि कहे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—सुवृत्त=(१) सुन्दर छंद वाली (२) गोल । मित्त=(१) प्रेमी, (२) पति । कवि कहे =(१) कविद्वारा कथित । (२) कवियों द्वारा प्रशंसित ।

भावार्थ—जैसे किसी सुकवि की कविता कोमल शब्दोंवाली सुन्दर छंद-वाली, अलंकार युक्त और काव्य प्रेमियों का मन मोहनेवाली होती है, उसी पद्धति के इनके सुन्दर बाहु हैं, क्योंकि उनमें बाहु भूषणों से कोमल शब्द, होता है, वे गोल भी है, भूषण युक्त हैं, और अपने पति का मन मोहती हैं । अतः इनके बाहुपाश काव्य-पद्धति की शोभा धारण किये हैं अर्थात् सुकाव्यवत् मनोहर हैं ।

(हाथ)

मूल -

देखहु देव दीन के नाथ । हरत कुसुम के हारत हाथ ।
नव रँग बहु अशोक के पत्र । तिन महँ राखत राजकलत्र ॥२६॥

अलंकार—श्लेष ।

शब्दार्थ—कुसुम के हरत हाथ हारत=फूल तोड़ने में जो हाथ थक जाते हैं । अशोक के पत्र =उँगलियाँ । राजकलत्र=राजपत्नी (जानकी) ।

भावार्थ—हे देव ! हे दीनानाथ ! देखिये तो (कैसे आश्चर्य की बात है कि) जो हाथ फूल तोड़ने में थक जाते हैं, जिनकी उँगलियाँ नवीन अशोक पल्लव के समान कोमल हैं, ऐसेही नाजुक हाथों में ये दासियाँ राजरानी सीताजी को रखती हैं (सेवा करके सीता को अपने हाथों में कर लिया है) वश में कर लिया है)

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, दूसरी विभावना ।

(करभूषण)

मूल—

सुन्दर अँगुरिन मुँदरी बनी। मणिमय सुवरण शोभा सनी।
राजलोक के मन रुचिरये। मानो कामिनि कर करि लये ॥२७॥

शब्दार्थ—राजलोक=राजघराने के लोग। रुचि रये=सौन्दर्य-रंजित, सुन्दर।

भावार्थ—सुन्दर उँगलियों में रत्नजटित सोने की सुन्दर अँगूठियाँ (मुँदरी अँगुश्तानादि) पहने हैं। ये ऐसी जान पड़ती हैं मानों स्त्रियों ने राजघराने के लोगों के सुन्दर मन अपने हाथों में कर लिये हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

(कुच)

मूल—

अति सुन्दर उर पै उरजात। शोभा सरमें जनु जलजात।
अखिल लोक जलमय करिधरे। बशीकरण चूरण चय भरे ॥२८॥
कामकुँवर अभिषेक निमित्त। कलश रचे जनु यौवन मित्त।
काम-केलि-कन्दुक कमनीय। मनो छिपाये रति निज हीय ॥२९॥

शब्दार्थ—(२८) उरजात=कुच। जलजात=कमल। चय=समूह। (२९) निमित्त=वास्ते। काम-केलि.कंदुक=कामके खेलने की गेंद।

भावार्थ—(२८) उर पर सुन्दर कुच हैं, मानो शोभा के सरोवर में कमल खिले हैं। इन कुचों में वशीकरण का बहुत सा चूर्ण भरा है, इसीसे सब लोगो को जल में डुबो देते हैं। (इन्हें देखकर सबको खेद होता है)।

(२९) अथवा मानो काम युवराज के अभिषेक के लिये यौवन मित्र ने सोने के कलश बनाये हैं। अथवा काम के खेलने की दो गेंदें हैं जिन्हें मानो रति ने अपनी छाती पर छिपा रक्खा है (ये दासियाँ रति हैं।)

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा

मूल—(दोहा)—

रोमराजि सिंगार की ललित लता सी राज।
ताहि फले कुचरूप फल लै जगज्योति समाज ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—रोमराजि = रोमावली। राज = राजती है, शोभा देती है। समाज = समूह।

भावार्थ—रोमावली मानो सिंगार की सुन्दर लता है, उसी में ये दोनों कुच समस्त संसार की शोभा का समूह लेकर मानों दो फल फले हैं।

अलङ्कार—उपमा, रूपक।

(रोमावली)

मूल—(चौपाई छन्द)—

सूक्षम रोमावली सुबेष। उपमा दीन्ही शुक सविशेष।
उर में मनहु मदन की रेख। ताकी दीपति दिपति अशेप ॥३१॥

भावार्थ—सुन्दर बारीक रोमावली है, शुक ने विशेष प्रवीणता से उसकी उपमा यों दी कि मानों इन दासियों के हृदयों में काम की रेखा है (इनके हृदयों में काम बसा है) उसी की झलक झलक रही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(कटि)

मूल—(दोहा)—

कटि को तत्व न जानिये सुनि प्रभु त्रिभुवन राव।
जैसे सुनियत जगत के सत अरु असत सुभाव ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—तत्व = ठीक बात। सतसुभाव = पुण्य। असतसुभाव = पाप।

शब्दार्थ—हे प्रभु त्रिभुवनपति श्रीरामजी! सुनिये, जैसे इस जगत में पुण्य और पाप (धर्म व अधर्म, सत्य असत्य) सुनते तो हैं, पर ठीक समझ में नहीं आता कि क्या पुन्य है, क्या पाप है (जैसे पाप और पुण्य की बड़ी सूक्ष्म गति है) वैसे ही इनके कमर की दशा है, इसका अस्तित्व ठीक समझ में नहीं आता कि हैं वा नहीं (सुनते हैं कि है, पर देखने में तो नहीं सी है—अर्थात् कटि बहुत सूक्ष्म है)।

अलंकार—उदाहरण।

(नितंब, कटि, जंघा)

मूल—(नाराच छन्द)—

नितंब बिंब फूल से कटिप्रदेश छीन है।
बिभूति लूटि ली सबै सुलोकलाज लीन है।
अमोल ऊजरे उदार जंघ युग्म जानिये।
मनोज के प्रमोद सों बिनोद यंत्र मानिये ॥३३॥

शब्दार्थ—नितंब बिंब = नितंबमंडल। फूल से = फूले हुए, हर्षित। कटि-प्रदेश = कमर। विभूति = संपत्ति। उदार = पुष्ट, भरे हुए।

भावार्थ—नितंबमंडल हर्ष से फूला हुआ है और कमर दुबली है, मानों नितंब ने कमर की सब सम्पत्ति लूट ली है, इससे नितंब तो हर्ष से फूल गये हैं और कमर बेचारी लोकलज्जा से छिप गई है। बड़े अमूल्य, स्वच्छ और पुष्ट दोनों जंघे ऐसे मालूम होते हैं मानों काम के, आनन्द समय में, खेलने के लिये दो खिलौने हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

(चरण)

मूल—

छवान की छुई न जाति शुभ्र साधु माधुरी।
बिलोकि भूलि भूलि जात चित्त चाल आतुरी।
विशुद्ध पाद-पद्म चारु अंगुली नखावली।
अलक्त युक्त मित्र की सुचित्त बैठकी भली ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—छवा = एडी। शुभ्र = स्वच्छ। साधु = पवित्र, अकलंकित। माधुरी = सुन्दरता। चाल-आतुरी = चाल की तेजी, चंचलता। अलक्त = महावर। मित्र = पति। सुचित्त बैठकी = चित्त के बैठने की कुरसी।

भावार्थ—एड़ियों की स्वच्छ और पवित्र सुन्दरता (आँखों से) छुई नहीं जाती (डर लगता है कि दृष्टि के स्पर्श से मैली न हो जायँ) उनको देख कर चित्त अपनी चंचलता भूल जाता है (वहीं लग जाता है)। चरण-

कमल, अँगुली और नखावली विशुद्ध और महावर युक्त हैं, सो ऐसा मालूम होता है मानो पति के चित के बैठने की कुरसी (माची) है।

अलङ्कार—गम्योत्प्रेक्षा

(महावर)

मूल—(दोहा)—

कठिन भूमि अति कोंवरे, जावक युत शुभ पाय।
जनु पहिरी, तनत्राण को, माणिक तरी बनाय ॥३५॥

शब्दार्थ—कोवरे = कोमल। तनत्राण को = तन की रक्षा के लिये। तरी = जूती।

भावार्थ—(वे दासियाँ लाल महावर पैरों में लगाये हैं, उसी पर उत्प्रेक्षा है) महावर लगे पैर अति कोमल हैं, और भूमि कठोर है—उसी पर चलना है—वह महावर ऐसा मालूम होता है मानों पैरों को रक्षा के लिये माणिक की जूती बनाकर पहने हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

(कंचुकी)

मूल—चौपाई छंद।

वरण वरण अँगिया उर धरे।
मदन मनोहर के मन हरे।
अंचल अति चंचल रुचि रचैं।
लोचन चल जिनके सँग नचैं ॥३६॥

भावार्थ—वे दासियाँ रंग-रंग की कंचुकियाँ पहने हैं, वे ऐसी सुन्दर हैं कि अन्य के मन हरने वाले काम का भी मन हरण कर लेती हैं सब के अंचल (वायु प्रसंग से) अति चंचल हो रहे हैं (अंचल के छोर उड़-उड़ जाते) वे ऐसे सुन्दर हैं कि दर्शकों के चंचल नेत्र उन्हीं अंचलों के संग नाचते हैं।

अलङ्कार—संबंधातिशयोक्ति।

(सर्वांगभूषण)

मूल - (दोहा)

नख शिख भूषित भूषणनि, पदि सुवरणमय मन्त्र ।
यौवनश्री चल जानि जनु, बाधे रक्षा-यंत्र ॥३७॥

शब्दार्थ - सुवरणमय = (१) सोने के (२) सुन्दर अक्षर युक्त । यौवनश्री = = जवानी की शोभा । चल = चञ्चल न ठहरने वाली ।

भावार्थ —(वे दासियाँ) नख से शिख तक सर्वांग सोने के जेवर पहने हैं, यह बात ऐसी जान पड़ती है मानो जवानी के सौन्दर्य को चंचल जानकर शुभवर्णमय मंत्रों से अभिमंत्रित करके समस्त अंगों में रक्षायंत्र बाँधे हुए हैं (जिसके प्रभाव से जवानी की शोभा सदैव बनी रहे) ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

(सर्वाङ्ग सौन्दर्य)

मूल -चित्रपदा छन्द—(लक्षण—दो भगण + दो गुरु ८ वर्ण)

मोहन शक्तिन ऐसी । मीनधुजा-धुज जैसी ।
मन्त्र वशीकर साजै । मोहनमूरि बिराजैं ॥३८॥

शब्दार्थ - मीनधुजा = (मीनध्वज) काम । धुज = (ध्वजा) पताका । मूरि = (मूल) जड़ी बूटी । साज = सामग्री, सामान ।

भावार्थ—(दासियों को देखकर शुक अंदाज़ लगाता है कि मैं इनकी समता प्रगट करने को कौन सी उपमा दूँ) यह कहूँ कि ये मोहनी शक्तियाँ सी हैं, या यह कहूँ कि ये काम की पताका सी हैं, या यह कहूँ कि ये वशीकरण मंत्र की सामग्री ही हैं, या यह कहूँ कि ये साक्षात मोहिनी बूटी ही हैं—क्या कहूँ ।

अलंकार—संदेह

(सौंदर्य भावशंसा)

मूल—(रूपमाला छन्द)

भाल में भव राखियो शशि की कला शुभ एक ।
तोषता उपजावतीं मृदुहास चन्द्र अनेक ।

मार एक विलोकि कै हर जारि कै किय छार।
नैनकोर चितै करैं पतिचित्त मार अपार ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—भव = महादेव। तोषता = संतोष। मार = काम।

भावार्थ—(इन दासियों के सौन्दर्य का प्रभाव शिव के प्रभाव से भी बढ़कर है) शिवजी अपने सिर पर एक चन्द्र की एक कला ही रख सके (अधिक नहीं) और यहाँ प्रत्येक दासी अपने मृदुहास्य से अनेक चन्द्र के समान संतोष पैदा करती है। शिव ने अपने तीसरे नेत्र की दृष्टि से देखकर एक काम को जलाकर छार कर दिया, (पर यहाँ तो उलटो बात है कि) ये दासियाँ एक नेत्र कटाक्ष से अपने पति के चित्त में असंख्य काम (कामनाएं) पैदा कर देती हैं (बड़ी विचित्र बात है, अतः मैं क्या कहूँ)

अलंकार—व्यतिरेक।

(अंगच्छटा)

मूल—चौपाई छन्द—

कंटक अटकत फटि फटि जात। उड़ि उड़ि बसन जात बश बात।
तऊ न तिनके तन लखि परे। मणिगण अंग अंग प्रति धरे ॥४०॥

शब्दार्थ—बश बात = बात वश, हवा के जोर से।

भावार्थ—काँटों में अटक कर फट फट जाते हैं, हवा के जोर से उनके वस्त्र उड़ उड़ जाते हैं, तो भी उनके अंग देखे नहीं जा सके, क्योंकि प्रतिअंग में मणिगणजटित भूषण इतने हैं कि उन मणियों की चमक से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती हैं।

अलंकार—पूर्वरूप (दूसरा)।

(अनूपमता)

मूल—(दोहा)

उपमागन उपजाय हरि, बगराये संसार।
इनको परसपरोपमा, रचि राखी करतार ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—हरि = (संबोधन में) हे हरि, हे रामजी ! करतार = ब्रह्मा।

भावार्थ—(शुक श्रीरामजी से कहता है) हे रामजी, ब्रह्मा ने अन्य स्त्रियों के लिये तो उपमानों के ढेर के ढेर पैदा करके सारे संसार में फैला रक्खे हैं (बहुत से मिलते हैं) पर इन दासियों के उपमान नहीं मिलते, इनको ब्रह्मा ने परस्परोपमा ही रचा है अर्थात् एक दासी दूसरी की उपमान है और वह दूसरी पहली की उपमान है।

अलङ्कार—उपमेयोपमा वा परस्परोपमा।

(इकतीसवाँ प्रकाश समाप्त)

बत्तीसवाँ प्रकाश

दोहा—बत्तीसवें प्रकाश में उपवन बर्णन जानि।
अरु बहु विधि जलकेलि को करेहु राम सुखदानि॥

मूल—मोदक छन्द—(लक्षण—४ भगण = १२ वर्ण)।

औचक दृष्टि परे रघुनायक। जानकि के जिय के सुखदायक।
ऐसे चले सबके चल लोचन। पंकज बात मनो मनरोचन॥ १॥

शब्दार्थ—औचक = अचानक, एकाएक। पंकज = कमल। मनरोचन = सुंदर।

नोट—इकतीसवें प्रकाश के छंद ३ में कहा है कि राम छुपकर स्त्रियों की बनविहारलीला देखने लगे, अत :—

भावार्थ—अचानक ही सीता के सुखद (नायक) रामजी को जब सबों ने देखा तो सबके चंचल लोचन उनकी ओर चले गये (सैकड़ों स्त्रियाँ उन्हीं की ओर देखने लगीं), यह दृष्टि-पात ऐसा जान पड़ा मानों हवा के झोंके से एकबारगी हजारों सुंदर कमल एक ही ओर झुक गये।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा

मूल—

रामसों रामप्रिया कह्यौ यों हँसि। बाग दिखावहु लोकन केससि।
राम बिलोकत बाग अनन्तहिं। मानो बिलोकत काम बसन्तहिं॥ २॥

भावार्थ--तब श्रीसीताजी ने रामजी से हँसकर कहा कि हे लोकलोचन चकोरचन्द श्रीरघुवरजी, हमको वह बाग़ दिखलाइये जो आपने अभी हाल में लगवाया है। ऐसा सुन श्रीरामजी सीता समेत वहाँ गये और उस बड़े बाग़ को देखने लगे, उस समय ऐसा जान पड़ा मानों रतिसहित कामदेव अपने मित्र बसन्त के दर्शन कर रहा हो (मित्र-दर्शन से आनन्द होता है, अतः भाव यह है कि रामजी बाग़ देखकर अति हर्षित हुए।)

अलंकार— उत्प्रेक्षा

(बागवर्णन)

मूल—

बोलत मोर तहाँ सुख संयुत। ज्यों बिरदावलि भाटन के सुत।
कोमल कोकिल के कुलबोलत। ज्ञानकपाट कुची जनु खोलत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कुची = कुंजी (यह शब्द ठेठ बुंदेलखंडी है)

भावार्थ—वहाँ सुखी होकर मोरगण ऐसे बोल रहे हैं जैसे बंदीजन बिरदावली बोलते हैं (इससे वर्षा की भी बहार प्रगट की गई है।)। कोमल स्वर से कोयलें बोल रही हैं, मानो ज्ञानियों के हृदय के ज्ञान-कपाट कुंजी से खोल रही हैं अर्थात् ज्ञानियों के हृदय में भी कामवायु का प्रवेश करा रही हैं (ज्ञानियों के मन भी मोहित कर रही हैं, इससे बसंत सूचित हुआ।)

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

फूल तजै बहु वृच्छन को गनु। छोड़त आनँद-आँसुन को जनु।
दाड़िम की कलिका मन मोहति। हेमकुपी जुत बंदन सोहति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—दाड़िम = अनार। कलिका = कली। हेम-कुपी = सोने की कुप्पी। बंदन = सिन्दूर)।

भावार्थ—पुष्पित वृक्षगण से फूल गिर रहे हैं, मानों वे आनन्दाश्रु बहा रहे हैं। अनार की कलियाँ मन को मोहती हैं, वे ऐसी हैं मानो सिंदूर से भरी सोने की कुप्पियाँ हों।

अलङ्कार— उत्प्रेक्षा

मूल—

मधुवन फूल्यो देखि शुक बरनत हैं निःशंक।
सोहत हाटक घटित ऋतु-युवतिन के ताटंक ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मधुवन=मधूकवन, महुवों की क्यारी। हाटघटित=सोने से बने। ऋतु-युवतिन=बसंत ऋतु की स्त्रियाँ। ताटंक=कर्णभूषण।

भावार्थ—महुँवों को फूला हुआ देख कर वही शुक नामक (रामसखा) निःशंक भाव से कहता है कि मधूक-कूच ऐसे जान पड़ते हैं मानो षट ऋतु रूपी स्त्रियों के सोनहले कर्णभूषण (झूमके) हैं। (इस छंद में यतिभंग दोष है।)

नोट—इस बाग के समस्त वर्णन में षटऋतु के बोधक सब सामान संक्षेप से बताये गये हैं। मानो उस बाग में सदैव षट ऋतुएँ रहती थीं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा

मूल—दोधक छन्द।

बेल के फूल लसैं अति फूले। भौंर भवैं तिनके रस भूले।
यों करबीर करी बन राजैं। मन्मथबाणन की गति साजैं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—करबीर करी=कनेर की कलियाँ। मन्मथ=कामदेव।

भावार्थ—बेला के वृक्ष खूब फूले हुए शोभा दे रहे हैं, भौंर उनके मधु से मस्त होकर यत्र-तत्र उस पर घूम रहे हैं। कनेर की कलियाँ ऐसी शोभा देती हैं, मानों काम के बाणों का ही काम देती हैं।

अलङ्कार उत्प्रेक्षा

मूल—

केतक पुंज प्रफुल्लित सोहैं। भौंर उड़ैं तिनमें मन मोहैं।
श्रीरघुनाथ के आवत भागे। ज्यों अपलोक हुते अनुरागे ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—केतक=केवड़ा। अपलोक=पाप।

भावार्थ—केवड़े की कुंजें फूली हुई हैं, उन पर भौंरों के झुंड उड़ते हैं, जिन्हें देख कर मन मोहित होता है। पर ज्योंही रामजी कुंज के निकट गये त्योंही वे भौंर उड़ भागे (फूलों पर से उड़ चले)। जैसे पापी के शरीर से अनुरक्त पापगण पापी के राम सम्मुख होते ही शरीर को छोड़ कर भाग जाते हैं।

अलंकार—उदाहरण।

मूल—(दोहा)—

स्याम शोण दुति फूल की फूले बहुत पलास।
जरैं कामक्वैला मनौ मधुऋतु-बात विलास॥ ८॥

शब्दार्थ—काम-क्वैला = महादेव जी से भस्मीकृत काम के शरीर के अधजले अंग। शोण = (शोणित रंग) लाल। जरैं = सुलग रहे हैं।

भावार्थ—काले और लाल रंग के बहुत से पलास पुष्प फूले हुए हैं, वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो बसंत ऋतु रूपी वायु का संचालन पाकर कामदेव के भस्मावशेष कोइले पुनः सुलग रहे हैं।

नोट—जान पड़ता है केशव की इसी उक्ति के सहारे कवि सेनापति ने अपने 'षटऋतु' नामक ग्रंथ में यह कवित्त लिखा है :—

कवित्त—

"लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिशाल संग,
स्यामरंग भेंटू मानो मसि में रँगाये हैं।
तहाँ मधु-काज आय बैठे मधुकर पुंज,
मलय पवन उपबन बन धाये हैं॥
सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आये हैं।
आधे अनसुलगे सुलगि रहे आधे मानो,
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं"॥

अलंकार—उत्प्रेक्षा

मूल—तोटक छन्द—(लक्षण—सगण = १२ वर्ण)

बहुचंपक की कलिका हुलसी।
तिनपै अलि श्यामल जोति लसी।
उपमा शुक सारिक चित्त धरी।
जनु हेम कुपी सब सोंध भरी॥ ९॥

शब्दार्थ—हुलसी = फूली हैं। अलि = भौंरा। शुक = रामजी का सखा। सारिका = सीताजी की सखी। सोंध = सुगंध (चोवा)।

भावार्थ—बहुत सी चंपे की कलियाँ फूली हैं, उन पर भौंरों की काली ज्योति लसती है (भौंरे बैठे हैं)। इनकी उपमा शुक और सारिका के चित्त में ऐसी आई मानो चोवा से भरी सुवर्ण की कुप्पियाँ हों।

नोट—चम्पे पर भ्रमर का बैठना कहना कविनियम के विरुद्ध है, पर न जाने केशव ने किस प्रमाण से ऐसा लिखा है 'बिहारी' ने भी लिखा है, "मनो अलीचम्पक कली बसि रस लेत निसंक"।

एक हस्तलिखित प्रति में हमें 'चम्पक' के स्थान में 'पंकज' पाठ मिला है। इस दशा में या तो उन पंकजों को पीले कमल मानना पड़ेगा या सुवर्ण का ही रंग 'लाल' मानना होगा। ये दोनों बातें कविनियम विरुद्ध नहीं है, अतः हमारी सम्मति में यही पाठ समीचीन जँचता है. पर अधिकतर प्रतियों में चम्पक ही पाठ मिलता है। पाठक स्वयं निर्णय करें। बागों में सरोवर और सरोवरों में पंकज होना स्वाभाविक है। स्थलकमलों की भी चर्चा हिन्दी साहित्य में है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—चौपाई छन्द।

अलि उड़ि धरत मञ्जरी जाल। देखि लाज साजति सब बाल।
अलि अलिनी के देखत धाइ। चुम्बत चतुर मालती जाइ॥१०॥

भावार्थ—भौंरे उड़-उड़ कर मंजरी-समूह को आलिंगन करते हैं जिसे देख-देख कर सब स्त्रियाँ लज्जित होती हैं। कुछ भौंरे भौंरियों (अपनी पत्नियों) के सामने ही दौड़ दौड़ कर चतुर मालती को जाकर चुंबन करते हैं (कितनी धृष्टता की बात है)

नोट—इसमें बड़ा ही सुंदर व्यंग है। यों समझिये 'माल' अर्थात् धन, 'ती' अर्थात् स्त्री। 'मालती' का अर्थ हुआ 'धन लेनेवाली स्त्री' अर्थात् गणिका। अतः व्यंग यह है कि ये भौंरे वैसे ही निलज्ज और धृष्ट हैं जैसे कोई नर अपनी सुन्दरी पत्नी के सामने ही गणिका के पास जाय।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

अद्भुत गति सुन्दरी विलोकि। बिहँसति हैं घूँघट पट रोकि।
गिरत सदाफल श्रीफल ओज। जनु धर परत देखि वक्षोज॥११॥

शब्दार्थ—सदाफल = शरीफा । श्रीफल = बेलफल । **ओज** = इस शब्द का अन्वय बक्षोज के साथ है अर्थात् 'बक्षोज ओज देखि' । धर = पृथ्वी । बक्षोज = कुच । ओज = तेज, प्रताप (सौन्दर्य) ।

भावार्थ—यह ऊपर कही हुई भौंरों की अजीब हालत देखदेख कर सब स्त्रियाँ घूँघट के भीतर ही भीतर व्यंग से बिहँसती हैं (कि ये भौंरे बड़ी ही नीच प्रकृति के हैं) शरीफे के फल तथा बेल के फल पेड़ों से टपकते हैं, मानों उन स्त्रियों के कुचों का प्रताप देख कर वे नम्रतापूर्वक अपनी दीनता प्रदर्शित करने को भूमि पर गिर कर साष्टांग दंडवत करते हैं ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—तारक छन्द—(लक्षण—४ सगण + १ गुरु = १३ वर्ण) ।

बिदरे उरदाड़िम दाह बिचारे । सुदतीन के शोभन दंत निहारे ।
थल सीतल तप्त सुभायन साजे । ससि सूरज के जनु लोक बिराजे ॥१२॥

शब्दार्थ—बिदरे = फट गये हैं । सुदती (सुदंती) = सुंदर दाँतोंवाली स्त्री ।

भावार्थ—बड़े-बड़े अनार पक कर फट गये है, मानो उन सुदंतियों के सुन्दर दाँत देख कर उनके हृदय विदीर्ण हो गये हैं । कहीं ठंडे कहीं गर्म स्थान (बँगले) बने हुए हैं, वे ऐसे हैं मानो चन्द्रलोक और सूर्य लोक हों ।

नोट—इस छंद से शिशिर और ग्रीष्म का बोध होता है ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा और यथासंख्य ।

मूल—

अति मंजुल वंजुल कुंज बिराजैं । बहु गुंजनिकेतन पुंजनि साजैं ॥
नर अंध भये दरसे तरु मौरे । तिनके जनु लोचन हैं इकठौरे ॥१३॥

शब्दार्थ - मंजुल = सुन्दर । बंजुल = अशोक । गुंजनिकेतन = भौंरा । साजैं = सज रहे हैं । दरसे = देख कर । मौरे = पुष्पित, मंजरित ।

भावार्थ—अति सुंदर अशोक की कुंजैं हैं जो भौंरों के झुंडों से सजी हुई हैं (जिन पर असंख्य भौंरे बैठे हैं)। अशोक-कुंजों पर बैठे हुए भौंरे ऐसे जान पड़ते हैं मानों पुष्पित वृक्षों को देख कर जो नर अंधे हो गये हैं (मदमस्त हो गये हैं) वे भौंरे उन्हीं के एकत्र लोचन समूह हैं ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—

जलयन्त्र बिराजत पाँति भली है। धरते जलधार अकाश चली है।
जमुनाजल* सूक्ष्म वेषसँवारयौ। जनु चाहत है रबिलोक बिहारयौ। १४

शब्दार्थ—जलयँत्र = फौवारा। धर = (धरा) पृथ्वी।

भावार्थ—फौवारों की अच्छी कतारें हैं, मानो पृथ्वी से जलधारें आकाश को जा रही हैं वा मानो जमुना जी छोटा रूप धर कर रविलोक (निज पिता जान कर) में विहार करना चाहती हैं।

अलंकार—संबंधातिशयोक्ति से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

मूल—चंचरी छंद—(लक्षण – र + स + १ज + भ + र = १८ वर्ण)

भाँति भाँति कहौं कहाँ लगि बाटिका बहुधा भली।
ब्रह्मघोष घने तहाँ जनु है गिराबन की थली॥
नीलकण्ठ नचैं बने जनु जानिये गिरिजा बनी।
सोभिजै बहुधा सुगंध मनो मलैबन की धनी॥ १५॥

शब्दार्थ—ब्रह्मघोष = वेदपाठ (शुक शारिकादि द्वारा)। गिराबनस्थली = सरस्वती की बाटिका। नीलकंठ = (१) मोर (२) महादेव। गिरिजाबनी = पार्वती की बाटिका। मलैबन = मलयागिरि का बन। धनी = रानी।

भावार्थ—वह बाटिका इतने प्रकारों से सुसज्जित है कि कहाँ तक वर्णन करूँ। वहाँ बहुत वेद-पाठ का शब्द सुन पड़ता है, मानो सरस्वती की बाटिका है जहाँ ब्रह्मा वेद-पाठ करते हैं (वहाँ की शुक-शारिकाओं ने वेदपाठी ऋषियों से सुन सुन कर जो सीखा है वही वहाँ बोलती हैं, वही वेदपाठ के शब्द हैं)। वहाँ नीलकंठ मोर नाचते हैं मानो गिरिजा की केलि बाटिका है, (क्योंकि

---

*अधिकतर प्रतियों में यही पाठ है। पर एक प्रति में यों है :—

सरजूजल सूक्ष्म वेष सँवारयौ। जनु चाहत है विधिलोक विहारयौ।

हमको यही पाठ समीचीन जँचता है, क्योंकि अयोध्या में जमुना नहीं सरजू नदी है। यमुना कहना दोष होगा।

वहाँ नीलकंठ महादेव नाचते हैं) वहाँ बहुत तरह की सुगंध है, मानो वह बाटिका मलयवन की रानी है।

अलङ्कार—श्लेष और उत्प्रेक्षा से पुष्ट उल्लेख।

मूल—चौपाई छन्द।

करुणामय बहु कामनि फली। जनु कमला की वासस्थली।
सोभी रंभा शोभा सनी। मनो शची की अनँद-बनी ॥१६॥

शब्दार्थ—करुणामय = (१) करुणा नामक पुष्प वृक्ष से युक्त (२) विष्णु। काम = इच्छित फल। रंभा = (१) केला (२) रंभा नाम की अप्सरा।

भावार्थ—वह बाटिका मानो लक्ष्मी का घर है, क्योंकि जैसे लक्ष्मी के निवास स्थान में विष्णु रहते हैं और भक्तों की सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं वैसे ही वह बाटिका भी करुणामय है (करुणा वृक्ष युक्त है) और वहाँ इच्छित फल भी फले हुए हैं। वहाँ सुन्दर रंभा (कदली वृक्ष) की शोभा है, अतः मानो वह इन्द्राणी की केलिवाटिका है (क्योंकि वहाँ रंभादिक अप्सराएँ रहती हैं)।

अलङ्कार—श्लेष से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

मूल—कमल छन्द—*(लक्षण—३ सगण + १ नगण + १ गुरु = १३ वर्ण)

तरुचन्दन उज्वलता तन धरे। लपटी नव नागलता मन हरे।
नृप देखि दिगम्बर बन्दन करे। जनु चन्द्रकलाधर रूपहि भरे ॥१७॥

शब्दार्थ—नागलता = (१) पान की बेलि (२) नागरूपी लता। चन्द्रकलाधर = महादेव।

भावार्थ—इस बाग के चन्दन वृक्ष मानो शिव का रूप धरे खड़े हैं, क्योंकि शिव की तरह ये भी गौरांग हैं, इनमें भी शिव की तरह नागलता लिपटी है, ये भी दिगंबर हैं. और शिव की तरह ये भी राजाओं से बंदित हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

---

*छंदः—प्रभाकर पिंगल में इस लक्षण का कोई छंद नहीं पाया जाता।

अतिउज्वलता सब कालहु बसै। शुक केकि पिकादिक शब्द हुलसै।
रजनीदिन आनँद कंदनि रहै। मुखचंदनकी जन चाँदनि अहै ॥१८॥

शब्दार्थ—केकी = मोर। पिक = कोयल। आनंदकंदनि = सुख की मूल (जड़ी)।

भावार्थ—यह बाटिका मानों इन स्त्रियों (सीता की दासियों) के मुख-चंदों की चाँदनी ही है (इनके मुखों का प्रतिबिंब ही है) क्योंकि मुखों की तरह इसमें भी सब समय स्वच्छता ही बसती है, इनके मुखों में जैसे शुक, मोर तथा कोयल की बोली बसती है, तैसे इस बाटिका में शुक मोर और कोयल की बोलियाँ लसती हैं. (उस चंद की चाँदनी तो केवल रात्रि को ही सुखद है पर) इन मुखचंदों की चाँदनी रातोदिन आनन्द की मूल है। (सर्वदा सुखप्रद है) वैसेही यह बाटिका भी सर्वदा सुखप्रद है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—तोटक छंद—(लक्षण—४ सगण = १२ वर्ण)
सब जीवन को बहु सुक्ख जहाँ। बिरही जनही कहँ दुःख तहाँ।
जहँ आगम पौनहिँ को सुनिये। नितहानि असौंधहिँ को गुनिये ॥१९॥

शब्दार्थ—असौंध = दुर्गंध।

भावार्थ—(वह बाग कैसा है कि) जहाँ सब जीवों को बहुत सुख मिलता है, यदि किसी को वहाँ दुःख मिलता है तो केवल वियोगी ही को। उस बाग में बाहरी यदि कोई आसकता है तो केवल पवन ही, और दुर्गंध ही को वहाँ हानि होती है और किसी की नहीं।

अलंकार—परिसंख्या।

मूल—(दोहा)—

तापहि को ताड़न, जहाँ, तृष चातक के चित्त।
पात फूल फल दलन को, श्रम भ्रमरनि को मित्त ॥२०॥

शब्दार्थ—ताप = सूर्यताप (धूप)। तृष = प्यास। पात = पतन।

भावार्थ—वहाँ केवल सूर्यताप (धूप) ही को दंड मिलता है (और दूसरे को नहीं) और वहां केवल पपीहा प्यासा रहता है (अन्य जीव नहीं) वहाँ

फल-फूल तथा पत्तों का ही पतन होता है और भ्रम केवल भौंरों का ही मित्र है (अन्य जीवों को वहाँ पतन वा भ्रम-मूर्च्छा का दुःख नहीं होता।)

अलङ्कार—परिसंख्या।

(कृत्रिम—पर्वत का वर्णन)

मूल—तारक छन्द—(लक्षण—४ सगण + १ गुरु = १३ वर्ण)

तिनमें इक कृतिम पर्वत राजै। मृग पच्छिन को सब शोभहिं साजै।
बहु भाँति सुगंधमलैगिरमानो। कलधौतस्वरूप सुमेरुबखानो॥ २१॥

शब्दार्थ—कृत्रिम = बनावटी। कलधौत = सोना।

भावार्थ—वहाँ की समस्त वस्तुओं में से एक बनावटी पहाड़ भी है (नकली पर्वत बना है) जिसपर पशु पक्षी भी नक़ली ही हैं, पर अति सुन्दर हैं (असली से जान पड़ते हैं) उसमें बहुत भाँति की सुगंधें हैं मानो मलयपर्वत ही है, और वह पर्वत सोने के रंग का है मानो सुमेरु पर्वत ही है।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

अति शीतल शंकर को गिरि जैसो। शुभसेत लसै उदयाचलऐसो।
दुतिसागरमेंमयनाक मनो है। अजलोकमनो अजलोकबनो है॥२२॥

शब्दार्थ—शंकर को गिरि = कैलास। सेत = उज्वल, स्वच्छ (सफेद नहीं क्योंकि सुवर्ण रंग का कहा है)। मयनाक = मैनाक नामक पर्वत जो समुद्र के अन्दर है। अजलोक = राजा अज का स्थान अर्थात् अयोध्या। अजलोक = ब्रह्मलोक।

भावार्थ—वह पर्वत कैलाश के समान शीतल है, उदयाचल के समान स्वच्छ है, मानो कांतिसागर में मैनाक है, या अयोध्या में ब्रह्मलोक ही बना हुआ है।

नोट—इस वर्णन से उस कृत्रिम पर्वत की शीतलता, स्वच्छता, चमक-दमक और ऊँचाई प्रगट होती है। कैलाश सम कहने से बाग में हिमऋतु का बोध होता है।

अलङ्कार—उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा।

कृत्रिम सरिता का वर्णन

मूल—तोटक छंद।

सरिता तिहितें शुभतीन चली। सिगरी सरितान को शोभदली।
इक चंदन के जल उज्वल है। जग जन्हुसुता शुभ्रशील गहै॥ २३॥

शब्दार्थ—जन्हुसुता = गंगा। शुभ्रशील = शुभ्र शीलता (सफेदी)

भावार्थ—उस पर्वत से तीन कृत्रिम नदियाँ निकली हैं, जो सब नदियों की शोभा को मात करती हैं। एक नदी चंदन के जल से सफेद है जिससे संसारी गंगा भी शुभ्रशीलता (सफेदी) ले सकती है।

मूल—चौपाई छंद। (लक्षण—१६ मात्रा)

सुर गज को मारग छवि छायो। जनु दिवि ते भूतल पर आयो।
जनु धरणी में लसत विशाला। त्रुटित जुही की घन बन माला॥२४॥

शब्दार्थ—सुरगज को मारग = ऐरावत का रास्ता, आकाश में देख पड़ने वाली हाथी की राह (आकाश गंगा)। त्रुटित = टूटी हुई। जुही = जाही जूही पुष्प विशेष। घन = खूब सघन गूंथी हुई। बनमाला = खूब लंबी माला।

भावार्थ—(वह नदी कैसी है कि) मानो सुन्दर आकाशगंगा ही आकाश से भूमि पर आ गई है। अथवा मानो जुही पुष्पों की सघन और लंबी माला ही टूटी हुई (लंबे आकार में) ज़मीन पर शोभा दे रही है।

नोट—इस छंद में 'पतत प्रकर्ष' दोष है। पाठ अधिकतर प्रतियों में ऐसा ही पाया जाता है। यदि उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध और पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध कर दें तो दोष निकल जाता है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(दोहा)

तज्यो न भावै एक पल, केशव सुखद समीप।
जासों सोहत तिलक सो, दीन्हे जम्बूद्वीप॥ २५॥

भावार्थ—जिस (कृत्रिम नदी) से यह जम्बूदीप तिलक सा दिये शोभता है, उस नदी का सामीप्य छोड़ना एक पल के लिये भी नहीं भाता अर्थात् वह

नदी बहुत ही सुन्दर और सुखद है, उसके पास से अन्यत्र जाने को जी नहीं चाहता।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—दोधक छंद।

एणन के मद के जल दूजी। है जमुना-दुति की जनु पूँजी।
धार मनो रसराज विशाला। पंकज नीलमयी जनु माला॥ २६॥

शब्दार्थ—एण = कस्तूरीमृग। एणमद = कस्तूरी। पूँजी = मूलधन। रस-राज = सिंगार रस।

भावार्थ—दूसरी नदी कस्तूरी जल की है, वह तो मानो यमुना नदी की कांति की पूँजी ही है (यमुना नदी इसी नदी से श्याम कांति थोड़ी सी ले गई है) अथवा मानो शृङ्गार रस की धारा है, या मानो नीले कमलों की बनी विशाल माला है।

नोट—इसमें भी पतत प्रकर्ष दोष है।

अलंकार—उत्प्रेक्षामाला।

मूल—(दोहा)—

दुख खंडनि तरवारि सी, किधौं शृंखला चारु।
क्रीड़ागिरि मातंग की, यहै कहै संसारु॥ २७॥

शब्दार्थ—शृंखला = जंजीर, साकर। क्रीड़ागिरि = कृत्रिम पर्वत। मातंग = हाथी।

भावार्थ—(कवि अनुमान करता है कि) यह कस्तूरी जल की कृत्रिम नदी दुःखों को काटने के लिये तलवार है, या बनावटी पहाड़ रूपी हाथी को बाँधने के लिये सुन्दर जंजीर है, ऐसा ही सब लोग कहते हैं।

नोट—इस छंद का संगठन कुछ शिथिल सा जँचता है, यदि इसे सोरठा का रूप देकर यों लिखें तो कुछ अच्छा हो जाय।

यहै कहै संसारु, दुख खंडनि तरवारि सी।
शृंखल क्रीड़ा गिरिकधौं

मूल—(दोहा)—

क्रीड़ागिरि ते अलिन की अवली चली प्रकास।
किधौं प्रतापानलन की पदवी केशवदास ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—पदवी = पथ, मार्ग। (विशेष) आग का जला हुआ मार्ग काला होता है।

भावार्थ - (उसी काली नदी पर पुनः कल्पना है) यह काली नदी है, या उसी क्रीड़ागिरि से भौंरों की अवली निकली है, या (केशव की कल्पना है कि) रघुवंशी राजाओं के प्रताप रूपी अग्निदेव का मार्ग है।

अलंकार—संदेह (रूपक से पुष्ट)।

मूल—दोधक छन्द।

और नदी जल कुंकुम सोहै। शुद्ध गिरा मन मानहु मोहै।
कंचन के उपबीतहिं साजै। ब्राह्मण सो यह खंड बिराजै ॥२९॥

शब्दार्थ - कुंकुम = केसर। गिरा = सरस्वती नदी। उपवीत = जनेऊ।

भावार्थ—और तीसरी नदी केसर जल की है। वह मानो निर्मल मनोहर सरस्वती ही है। या यों कहिये कि यह पर्वत-खंड स्वर्ण सूत्र का जनेऊ पहने हुए ब्राह्मण के समान शोभित है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा।

मूल—स्वागता छन्द—(यह छन्द वर्णिक चौपाई है, लक्षण पहले लिख चुके हैं)

लौंग फूल दल सेवट लेखौ। एल फूल दल बालक देखौ।
केर फूल दल नावन माहीं। श्रीसुगंध तहँ है बहुधाहीं ॥ ३० ॥

मूल- (दोहा)

खेवत मत्त मलाह अलि, को बरणै वह जोति।
तीनो सरिता मिलति जहँ, तहाँ त्रिवेणी होति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—(३०) सेवट = नदियों के संगमस्थान पर एकत्र हुई मिट्टी वा बालू का ढेर, सेउटा। बालक = मोथा वा जल-पौधे। एला = इलायची। केर = केला, कदली। श्री = वाणिज्यवस्तु। (३१) मलाह = केवट। जोति = सुन्दरता, शोभा।

भावार्थ—(३०)—उन नदियों में लौंग पुष्प की पँखुड़ियों का संउटा पड़ता है, लाची पुष्पों की पंखड़ियाँ (नदी तट के) मोथा (वा जल पौदों की भाँति) हैं, केला पुष्प के बड़े-बड़े (नौका कारण) दलों की नावों में सुगन्ध ही वाणिज्य वस्तुयें लदी हुई हैं। (३१ दोहा) उन नदियों में यही नावें हैं, और मधु से छके मस्त भौंरे ही उन नावों को केवट रूप से खेते हैं। वह शोभा कौन वर्णन कर सकता है। ये तीनों नदियाँ जहाँ मिलती हैं वहाँ त्रिवेणी हो जाती है (अर्थात् प्रयागस्थ त्रिवेणी तट का दृश्य देखने में आता है)।

अलंकार—रूपक

मूल—(दोहा)

सीता श्री रघुनाथजू देखा श्रमित शरीर।
द्रुम अवलोकन छोड़िकै चले जलाशयतीर ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—श्रमित शरीर = थकी। द्रुम = वृक्ष। जलाशय = सरोवर।

भावार्थ—श्री सीताजी को श्रमित देख कर, वृक्षों का देखना छोड़ श्रीरामजी विश्राम हेतु सरोवर के तट को चले।

(जलाशय वर्णन)

मूल—चौपाई छन्द।

आई कमल-बासु सुखदैन। मुख-बासन आगे ह्वै लैन।
देख्यो जाय जलाशय चारु। शीतल सुखद सुगन्ध अपारु ॥३३॥

भावार्थ—कुछ दूर जाने पर तड़ाग की ओर से सुखप्रद कमल वास आई, मानो वह वास इन लोगों की मुखवास को अगवानी के लिए आई हो। और आगे जाकर सबने ठंडा, सुखद सुगन्धित और बहुत बड़ा सुन्दर तड़ाग देखा।

अलङ्कार—गम्योत्प्रेक्षा।

मूल—मरहट्टा छंद।—(लक्षण—१० + ८ + ११ = २९ मात्रा, अन्त में गुरु लघु)

बनश्री को दर्पनु, चन्द्रातप जनु, किधौं शरद आवास।
मुनि जन गन मन सो, बिरही जन सो, बिस बलयानि बिलास ॥

प्रतिबिंबित थिरचर, जीव मनोहर, मनु हरि उदर अनंत।
बन्धनयुत सोहै, त्रिभुवन मोहै, मानो बलि जसवंत ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—वनश्री = बन की शोभा (उस बाग की सब सुन्दर वस्तुयें)। चन्द्रातप = चांदनी। आवास = मकान। मुनिजन गन मन सो = अति निर्मल। विसबलयानिविलास = कमलमूल युत (विरहीजनी भी ताप निवारणार्थ कमलमूलादि शीतल पदार्थ तन में धारन करते हैं)। हरि उदर = विष्णु का उदर जिसमें सारा संसार रहता है। बन्धनयुत = बँधा हुआ (घाट बँधे हुए)। बलि = राजा बलि जिन्हें वामनजी ने बाँधा था।

भावार्थ—(उस तड़ाग पर कवि की कल्पनाएं हैं कि) वह तड़ाग है, या बाग भर का सब सुन्दर वस्तुओं का दर्पण है (बाग की सब सुन्दर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता था), या चाँदनी ही है, या शरद ऋतु के रहने का मकान ही है। मुनियों के मन की तरह निर्मल है, और सन्तप्त वियोगियों क तरह कमल मूलादि को धारण किये है। थिर चर जीवों के प्रतिबिम्ब उसमें हैं, अतः मानो विष्णु का अनन्त उदर ही है। और बन्धन युत होने पर (बँधे घाटों सहित त्रिभुवन को मोहता है; मानो यशस्वी राजा बलि है) क्योंकि बन्धन होने पर ही उन्हें यश मिला था।

नोट—इसमें शरद का प्रत्यक्ष बोध होता है।

अलंकार—सन्देह और उत्प्रेक्षा।

मूल—चौपाई छंद—

विषमय पै सब सुख को धाम। शंबर रूप बढ़ावै काम।
कमलन मध्य भ्रमर सुख देत। संत हृदय जनु हरिहि समेत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—विष = (१) जल (२) जहर। शंबर = (१) शंबर दैत्य विशेष जो रति को हर ले गया था और कामदेव का शत्रु था (२) जल।

भावार्थ—वह तड़ाग विषमय है (जल युक्त है,) पर सब प्रकार के सुखों का धाम है (विष = जहर दु:खद होता है), है तो वह शम्बर रूप (दैत्यरूप), पर (काम का शत्रु न होकर) काम को बढ़ाता है। कमलों

के बीच में भौंरे ऐसे सुख दाता प्रतीत होते हैं, मानो सन्त के हृदय में श्रीहरि ही बसते हों।

अलंकार—विरोधाभास और उत्प्रेक्षा।

मूल—

बीच बीच सोहैं जलजात। जितते अलिकुल उड़ि उड़ि जात।
सन्त हियन तें मानहु भाजि। चंचल चला अशुभ की राजि॥ ३६॥

भावार्थ—कमलों के समूह में बीच-बीच में ऐसे कमल भी हैं जिनसे निकल निकल कर भौंरे उड़-उड़ जाते हैं। यह घटना ऐसी मालूम होती है मानो सन्तों के हृदयों से चंचल अशुभ वासनाओं की अवली (समूह) निकली जा रही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(जल-क्रीड़ा वर्णन)

मूल—दंडक छन्द—(लक्षण—१६ पर विराम, आगे १५ पर यति = ३१ वर्ण)

एक दमयन्ती ऐसी हरैं हँसि हँस वंश,
एक हंसिनी सी बिसहार हिये रोहियो।
भूषण गिरत एकै लेती बूड़ि बीचि बीच,
मीन गति लीन हीन उपमान टोहियो।
एकै मत कैकै कंठ लागि लागि बूड़ि जात,
जल देवता सी देवि देवता विमोहियो।
केशोदास आस पास भँवर भँवत जल—
केलि में जलजमुखी जलजसी सोहियो॥ ३७॥

शब्दार्थ—हरैं = पकड़ती हैं। बिस = कमल की जड़। रोहियो = डाल लिया, पहन लिया। बीचो = लहर। टोहियो = ढूँढ़ा, तलाश किया। मत कैकै = सलाह करके, एकमत होकर। जलदेवता = जल देवियाँ, वरुणदेव के वंश की कुमारियाँ। दिविदेवता = देवकन्यायें। विमोहियो = विशेष मोह में पड़ीं कि ये स्त्रियाँ हम से भी अधिक सुन्दर कहाँ से आईं। जलकेलि = जलक्रीड़ा जल विहार। जलजमुखी = चन्द्रमुखी। जलज = कमल।

भावार्थ—जल क्रीड़ा करते समय कोई-कोई दमयन्ती की तरह हँस-हँस कर हंसों को पकड़ती हैं, कोई हंसिनी की तरह कमलमूल निकाल कर हार की तरह गले में पहनती हैं। कोई भूषण गिरते ही कोई स्त्री डुबकी लगा कर उसे लहर के बीच में पकड़ लेती है (नीचे जमीन तक नहीं जाने पाता) उसके लिये यदि यों कहैं कि वह मीनगतिशाली है तो यह तुच्छ उपमान ढूँढ़ना होगा (अर्थात् वह मन से भी अधिक चञ्चला है) कोई कोई एक मत होकर परस्पर गले लग कर डूबती हैं (कि देखें कौन अधिक देर तक डुबकी साध सकती है, और वरुण कन्याओं सी सोहती हैं) जल में भी वे वैसेही रहती हैं मानो उनका घर ही हो), उन्हें देख कर देवकन्यायें विमोहित होती हैं। केशवदास कहते हैं कि जलकेलि के समय वे चन्द्रमुखियाँ कमल सी जान पड़ती हैं और धोखे में आकर भ्रमरगण उनके इर्द-गिर्द घूमते फिरते हैं (भौंरों को कमल ही भ्रम होता है)।

अलंकार—उपमा, प्रतीत, सम्बन्धातिशयोक्ति, भ्रम।

मूल—(दोहा)—

क्रीड़ा सरवर में नृपति, कीन्ही बहु बिधि केलि।
निकसे तरुणि समेत जनु सूरज किरण सकेलि ॥३८॥

शब्दार्थ—नृपति = श्रीरामजी। सकेलि = समेट कर, एकत्र करके।

भावार्थ—श्रीरामजी ने उस सरोवर में अनेक भाँति से जलक्रीड़ा की, तब उससे तृप्त होकर स्त्रियों समेत सरोवर से निकले मानों सूर्यदेव अपनी सब किरणें एकत्र करके निकले हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(स्नानान्तर तियतन शोभा वर्णन)

मूल—हाकलिका छन्द*—(लक्षण—३ भगण + ल + गु = ११ वर्ण)

नीरधि ते निकसीं तिय जबै। सोहति हैं बिन भूषण तबै।
चन्दन चित्र कपोलन नहीं। पंकज केशर सोहत तहीं ॥३९॥

शब्दार्थ—नीरधि = तड़ाग, सागर। पंकजकेशर = कमलों के किंजल्क।

---

*छन्द प्रभाकर में ऐसा छन्द नहीं पाया जाता।

भावार्थ—जब सब स्त्रियाँ तड़ाग से निकलीं, तो देखा कि जलकेलि में लीन होने से कुछ भूषण गिर गये हैं और उनके शरीर भूषण रहित हैं, पर तब भी बड़ी शोभा है (भूषण रहित भी अति सुन्दर हैं) कपोलों पर के चन्दन चित्र (तिलक रचना) छुट गये हैं और उनके स्थान में किंजल्क लगे हुए हैं।

अलंकार—विभावना ।

मूल—

मोतिन की बिथुरी शुभ छटैं। हैं उरभी उरजातन लटैं।
हास सिंगार लता मनु बने। भेंटत कल्पलता हित घने ॥४०॥

शब्दार्थ—छटा = लड़ी, सर । उरजात = कुच । हित = प्रेम ।

भावार्थ—बालों में गूँथी हुई मोतियों की लरें बिथुर गई हैं और बालों की लटों सहित कुचों से आ उलझी हैं, मानो हास्य और शृंगार रस लता बन कर बड़े प्रेम से कल्पलता को भेंट रहे हैं।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

मूल—

केशनि* ओरनि सीकर रमैं। ऋक्षनि को तमयी जनु बमैं।
सज्जल अम्बर छोड़त बने। छूटर हैं जल के कण घने।
भोग भले तन सों मिलि करे। छोड़त जानि ते रोवत खरे ॥४१॥

शब्दार्थ—ओर = सिरा । सीकर = जल - कण । ऋक्ष = नखत, तारे । तमयी = (तमी)रात्रि । बमै = उगलती है । अम्बर = कपड़े । खरे—बहुत, खूब ।

भावार्थ—बालों के छोर से जल कण टपकते हैं, मानो रात्रि नक्षत्र उगल रही है। भींगे कपड़े छोड़ते ही बनते हैं। उन कपड़ों से जलकण गिरते हैं, मानों वे कपड़े, यह सोच कर कि इस अच्छे शरीर से मिलकर खूब आनंद उड़ाया ।

---

*यह आधा ही छंद सब प्रतियों में मिलता है। यह उर्दू शैर भी इसी के समान है :—

सियाह अब्र से गोया बरस पड़े मोती।
निचोड़े बाल उन्होंने अगर नहाए हुए।

है, अपने को त्यागते जान कर खूब रो रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

रनिवास की वापसी

मूल—

भूषण जे जल मध्यहिं रहे। ते बन पाल बधूटिन लहे।
भूषण बस्त्र जबै सजि लये। चारिहु द्वारन दुन्दुभि भये ॥४२॥

शब्दार्थ—बनपाल = माली। बधूटी = स्त्री।

भावार्थ—जो भूषण जल में गिर गये थे, वे मालियों की स्त्रियों को बख्शा दिये गये (कि तुम निकाल लेना) जब सब लोग नवीन भूषण वस्त्र पहन चुके, तब बाग के चारों द्वारों पर कूच के नगारे बजे।

मूल—(दोहा)—

गूँगे कुबजे बावरे, बहरे बामन बृद्ध।
यान लिये जन आइगे, खोरे खंज प्रसिद्ध ॥४३॥

—शब्दार्थ—कुबजे = कुबड़े। खोरे = लूला। खंज = लंगड़ा।

भावार्थ—नगाड़ों का शब्द सुन करके, कुबड़े, बावले, बहरे, बामन, बूढ़े, तथा प्रसिद्ध लूले (जिनके हाथ बेकाम हों) लँगड़े (जिनके पैर ठीक न हों) नौकर सवारियाँ लेकर आ गये। (राजों के रनिवास में ऐसे ही नौकर चाहिये)।

मूल—चौपाई छंद।

सुखद सुखासन बहु पालकी। फिरक बाहिनी सुख चाल की।
एकन जाते हय सोहिये। बृषभ कुरंग अंग मोहिये ॥४४॥
तिन चढ़ि राजलोक सब चले। नगर निकट शोभा फल फले।
मणिमय कनक जालिका घनो। मोतिन की झालरि अति बनी ॥४५॥
घंटा बाजत चहुँदिसि भले। रामचन्द्र तिहि गज चढ़ि चले।
चपला चमकत चारु अगूढ़। मनहु मेघ मघवा आरूढ़ ॥४६॥

शब्दार्थ—(४४) सुखासन = सुखपाल नाम की सवारी। फिरकबाहिनी = ऐसी पालकी जिस का रुख हर तरफ घूम सके। सुख चाल की = जिसके चलने

में तकलीफ नहीं होता। अंग मोहिये = जिनके अंगों पर मन मोहित होता है।

४५—राजलोक = राजवंश के लोग। कनक जालिका = सोने की जालीदार अम्बारी।

(४६)—अगूढ़ = प्रकट। मघवा = इन्द्र। आरूढ़ = सवार।

भावार्थ—(४४) सुख प्रद सुखपाल और अन्य प्रकार की पालकी और चक्करदार पालकी जिन पर चढ़ कर चलने से कष्ट नहीं होता, ऐसी सवारियाँ स्त्रियों के वास्ते आईं। कुछ ऐसी सवारियाँ आईं जिनमें घोड़े, बैल और सुन्दर मनोहर मृग नद्दे हुए थे (ये सवारियाँ दासियों के लिये थीं)।

(४५)—इन सवारियों पर चढ़ कर रनिवास की स्त्रियाँ रवाना हुईं। नगर के निकट पहुँचने पर ऐसा जान पड़ा मानो ये सब शोभारूपी वृक्ष के फल ही हैं। तदन्तर रत्न जटित सोने की बनी घनी जालीदार अम्बारीवाला और जिस अम्बारी में मोतियों की झालर सोहती था।

(४६) जिसके घंटों की आवाज़ चारों ओर जाती थी, ऐसे हाथी पर सवार होकर श्रीरामजी चले, तो ऐसा मालूम हुआ मानों सुन्दर-सुन्दर बिजुली से चमचमाते हुए मेघ पर प्रत्यक्ष इन्द्र सवार हो।

अलंकार—(४६) में उत्प्रेक्षा।

मूल—

आस पास नर देव अपार। पाँइ पियादे राजकुमार।
बन्दीजन यश पढ़त आपर। बिध यहिं गये राज दरबार॥ ४७॥

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—मत्तगयन्द सवैया।

भूषित देह बिभूति दिगम्बर नाहि न अम्बर अंग नवीने॥
दूरि कै सुन्दरि सुन्दरि, केशव दौरि दरीन में आसन कीने।
देखिय मंडित दंडन सों भुज दंड दुऊ असिदंड बिहीने॥
राजन, श्रीरघुनाथ के बैर, कुमंडल छोंड़ि कमंडल लीने॥४८॥

शब्दार्थ—दिगम्बर = नंगे। अम्बर = कपड़े। सुन्दरी = स्त्री। दरी = गुफा। दंडन सों मंडित—सन्यास दंड लिये हुए। असिदंड = तलवार। कुमंडल = पृथ्वी मंडल।

भावार्थ—(राम के बैर से राजाओं का यह हाल है कि) उनके शरीर राख से विभूषित हैं। वे नंगे हैं, उनके अंगों पर नवीन वस्त्र नहीं है। अच्छी सुन्दर स्त्री को छोड़ कर भाग कर कन्दरा में जाकर आसन बनाया है। उनके भुजदंड यतिदंड से मंडित हैं और तलवार से रहित हैं। (तलवार छोड़ कर सन्यास दंड धारे हैं)। रामजी से बैर करके राजाओं ने पृथ्वी मण्डल (राज्य) को त्याग कर कमण्डल लिया है।

अलंकार—अनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास।

मूल—(दोहा)—

कमल कुलन में जात ज्यों, भँवर भर्यो रस चित्त।
राज लोक में त्यों गये, रामचन्द्र जगमित्त ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जैसे रसिया मन का भँवर थोड़े ही समय में बहुत से कमलों पर घूम आता है, वैसे ही जगमित्र श्रीरामजी थोड़े ही समय में राज महल भर में घूम कर देख आये कि सब स्त्रियाँ अपने-अपने घरों में सानन्द पहुँच गई हैं या नहीं।

अलंकार—उदाहरण।

बत्तीसवाँ प्रकाश समाप्त

—:o:—

तेंतीसवाँ प्रकाश

—:o:—

दोहा—तेंतीसयें प्रकाश में, ब्रह्मा बिनय बखानि।
शम्बुक बध सिय त्याग अरु, कुशलव जन्म सो जानि ॥

(ब्रह्मागमन)

मूल—त्रिभंगी (लक्षण—१० + ८ + ८ + ६ = ३२ मात्रा)

दुर्जन दल घायक, श्रीरघुनायक, सुखदायक त्रिभुवनशासन।
सोहैं सिंहासन, प्रभा प्रकाशन, कर्म बिनाशन, दुखनाशन।
सुग्रीव विभीषन, सुजन, बन्धुजन, सहित तपोधन, भूपतिगन।
आगे सँग मुनि जन, सकलदेवगन, मृगतपकानन चतुरानन ॥१॥

शब्दार्थ—घायक = घालक. नाशक । तपोधन = विप्रगण । तपकानन मृग = तपरूपी जंगल के स्वच्छन्द विहारीमृग (बड़े तपस्वी) ।

भावार्थ—दुर्जनों के नाश करनेवाले, सज्जनों को सुखदेनेवाले, त्रिभुवन के शासक, कर्म तथा दुःख के विनाशक, सुग्रीव विभीषण आदि मित्रों तथा सज्जन भाइयों, ब्राह्मणों और अन्य राजाओं के साथ राजसिंहासन पर बैठे रामजी निज छटा प्रकाशित कर रहे थे कि मुनिगण और देव गण को साथ लिये हुए बड़े तपस्वी श्रीब्रह्मा जी उस दरबार में आये।

अलंकार—परंपरित रूपक (तपकाननमृग)

मूल—तोटक छन्द—(लक्षण—४ सगण = १२ वर्ण)

उठि आदर सो अकुलाय लयो । अति पूजन कै बहुधा बिनयो ।
सुखदायक आसन सो भरये । सब काहिं यथाविधि आन दये ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अकुलाय = अतुराय कै, जल्दी से । बिनयो = बिनती की । आसन = बैठक । सोभ रये = शोभा से रँगे (अति सुन्दर) । आनि = मँगवाकर ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—दोहा—

सबन परस्पर बूझियो, कुशल प्रश्न सुख पाइ ।
चतुरानन बोले बचन, श्लाघा विनय बनाइ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—श्लाघा = स्तुति, प्रशंसा ।

भावार्थ—सरल ही है ।

(ब्रह्माविनय)

मूल—(ब्रह्मा) मनोरमा छन्द*—(लक्षण—४ सगण २लघु = १४ वर्ण)

सुनियेचितदैजगके प्रतिपालक । सबके गुरुहौ हरियद्यपि बालक ।
सबकोसबभाँति सदासुखदायक । गुणगावतबेदमनोवचकायक ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गुरु = ज्येष्ठ । बालक = ब्रह्मा के आगे श्रीरामजी बालक ही से हैं ।

* छंदः प्रभाकर में ऐसा कोई छंद नहीं मिलता ।

शब्दार्थ—सरल ही है।

मूल—

तुम लोक रचे बहुधा रुचिकै तब। सुनियेप्रभु ऊजर हैं सिगरेअब।
जगको उनभूलिहुजाय निरैमग। मिटिगेसबपापनपुन्यनकेनग ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रुचिकै = बड़े शौक से। ऊजर = उजाड़। सिगरे = सब। निरै = नरक। नग = पहाड़ (अधिकाई)।

भावार्थ—आपने तब (विष्णुरूप से) बड़े शौक से जो बहुत से लोक बनाये थे, वे अब सब उजाड़ पड़े हैं (सृष्टि कार्य में बाधा हो रही है) अब तो इस लोक के जीव कोई भूल कर भी नरक पथ पर नहीं चलते। (इतना ही नहीं वरन) पापों और पुण्यों के समूह हो मिट गये (आप सब के भले बुरे दोनों प्रकार के कर्मों को नाश करके सबको मोक्ष दे रहे हो, अतः सृष्टि रचना में बाधा डाल कर मानों मुझे बेकार बना रहे हो मेरा अधिकार छीनते हो, मैं बैठा बैठा क्या करूँगा)

मूल—(दोहा)—

बरुणपुरी धनपतिपुरी, सरपतिपुर सुखदानि।
सप्तलोक बैकुंठ कब, बस्यो अवध मैं आनि ॥ ६ ॥

भावार्थ—धनपति = कुबेर। सुरपति = इन्द्र।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—तोमर छन्द—(लक्षण—१२ मात्रा, अन्त में गुरु लघु)

हँसि यो कह्यौ रघुनाथ। समझी सबै बिधि गाथ।
मम इच्छ एक सुजान। कबहूँ न होत सुआन ॥ ७ ॥

भावार्थ—तब हँस कर रामजी ने कहा कि, हे ब्रह्मा! हमने तुम्हारी सब वार्ता समझ ली (कि अब तुम नर लीला संवरण करने का इशारा कर रहे हो) मेरी इच्छा ही प्रधान है, इसे तुम जानते ही हो वह कभी अन्यथा नहीं हो सकती (अब हम भी लीला संवरण की इच्छा करने वाले हैं तुम घबराओ मत, दो एक शेष कार्य और कर लेने दो।)

मूल—

तव पुत्र जे सनकादि । मम भक्त जानहु आदि ।
सुत मानसिक तिन केति । भुवदेव भुव प्रगटेति ॥ ८ ॥
शब्दार्थ—केति = कितने ही, बहुत से । ति = ते, वे ।
(पुनः) हम दियो तिन शुभ ठाउँ । कछु और दीबे गाउँ ।
अब देहिं हम केहि ठौर । तुम कहौ सुर शिर मौर ॥ ९ ॥
शब्दार्थ—दीबे = देंगे (देने की इच्छा है)

भावार्थ—श्रीरामजी कहते हैं कि—(८) तुम्हारे जो सनकादिक (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) पुत्र हैं वे मेरे आदि भक्त हैं । उनके अनेक मानसिक पुत्र हैं वे सब पृथ्वी पर ब्राह्मण होकर पैदा हुए हैं । (९) उनमें से कुछेक को तो हमने उत्तम स्थान दिये हैं, पर अभी कुछेक को कुछ और ग्राम (स्थान-भूमि) देने की इच्छा है । सो हे देव शिरोमणि ब्रह्मा ! तुम्हीं बतलाओ कि उन्हें कहाँ की भूमि दान करें ।

मूल—(ब्रह्मा) मरहट्टा छन्द ।
सब वै मुनि रूरे, तपबल पूरे, विदित सनाढ्य सुजाति ।
बहुधा बहु बारनि, प्रति अवतारनि, दै आये बहु भाँति ।
सुनिप्रभु आखंडल, मथुरामंडल, मैं दीजै शुभ ग्राम ।
बाढ़ै बहु कीरति, लवणासुर हति, अति अजेय संग्राम ॥१०॥
शब्दार्थ—आखंडल = इन्द्र । प्रभु आखंडल = इन्द्र के प्रभु ।
भावार्थ—(ब्रह्मा ने उत्तर दिया) हे इन्द्र के स्वामी, (इन्द्र ही का अधिकार सुरक्षित रखने को तुम्हारा अवतार होता है, अतः तुम्ही इन्द्र के प्रति-पालक हो) सुनिये, वे सब अच्छे मुनि हैं (मननशील विद्वान हैं), तपबल के पूर्ण हैं, वे सनाढ्य जाति के नाम से प्रसिद्ध हैं । अनेक प्रकार से, बहुत बार, प्रति अवतार में आप उन्हें दान दे आये हैं, पर अब उन्हें अति अजेय लव-णासुर को मार कर, मथुरा मण्डल में अच्छे अच्छे ग्राम दीजिये जिससे आपकी [illegible] बढ़ेगी ।

मूल—(दोहा)—
जिनके पूजे तुम भये अन्तरयामी श्रीप ।
तिनकी बात हमैं कहा पूछत त्रिभुवन-दीप ॥११॥

शब्दार्थ—श्रीप = श्रीपति, लक्ष्मी के स्वामी। दीप = प्रकाशक।

भावार्थ—सरल ही है।

(शंबुकबध वर्णन)

मूल—

द्विज आयो ताही समय, मृतक पुत्र के साथ।
करत विलाप-कलाप हा! रामचन्द्र रघुनाथ ॥१२॥

शब्दार्थ—मृतक पुत्र के साथ = मृत-पुत्र की लाश लिये हुये। विलाप-कलाप = बहुत विलाप।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—मल्लिका छन्द—(लक्षण—रगण + जगण + गुरु + लघु = ८ वर्ण)

बालकै मृतै सु देखि। धर्मराज सों विशेखि।
बात या कहो निहारि। कर्म कौन को बिचारि ॥१३॥

भावार्थ—बालक को मरा हुआ देख कर (बाप के जीवित रहते पुत्र का मरना) धर्मराज (यमराजजी भी ब्रह्मा के साथ आये हुए थे) से ज़ोर देकर पूछा (इसका कारण पूछा)। अपने कागज़ पत्र देख कर और खूब विचार कर बतलाओ कि यह अघटनीय घटना किसके कर्म से हुई (इसमें किसका दोष है, पुत्र का, या पिता का, या राजा का?)।

मूल—(धर्मराज)—मनोरमा छन्द।

निजु शूद्रन की तपसा शिशुघालक।
बहुधा भुवदेवन के शव बालक ॥
करि बेगि बिदा सिगरे सुरनायक।
चढ़ि पुष्पकजान चले रघुनायक ॥१४॥

शब्दार्थ—निजु = निश्चय। तपसा = तपस्या। शव = मुर्दा, मृतक।

भावार्थ—धर्मराज ने कहा कि यह बात निश्चित है कि शूद्र की तपस्या से राज्य में बालक की मृत्यु होती है और अधिकतर ब्राह्मणों ही के पुत्र मरते हैं, (अतः जान पड़ता है कि आपके राज्य में कोई शूद्र तपस्या कर रहा है)।

यह बात सुन कर रामजी ने सब देवों को रुखसत किया और आप पुष्पक विमान पर सवार होकर उस शूद्र की तलाश में चले।

मूल—दोधक छन्द।

राम चले सुनि शुद्र की गीता। पंकजयोनि गये जहँ सीता।
देखि लगी पग राम की रानी। पूजि कै बूझति कोमलबानी ॥१५॥

(सीता)—

कौनहु पूर पुन्य हमारे। आजु फले जु इते पगुधारे।

(ब्रह्मा)—

देवन को सब कारज कीन्हो। रावण मारि बड़ो यश लीन्हो ॥१६॥
मैं बिनती बहु भाँतिन कीनी। लोकन को करुणारस भीनी।
उत्तर मोहि दियो सुनि सीता। जाकी न जानि परैजिय गीता ॥१७॥
माँगत हौं बरु मोकहँ दीजै। चित्त में और बिचार न कीजै।
आजु ते चाल चलौ तुम ऐसे। राम चलैं बयकुंठहिं जैसे ॥ १८ ॥
सीय जहीं कछु नैन नवाये। ब्रह्म तहीं निज लोक सिधाये।
राम तहीं सिर शुद्र को खंड्यौ। ब्राह्मण को सुत जीवन मंड्यौ ॥१९॥

शब्दार्थ—(१५) गीता = वार्ता। पंकजयोनि = ब्रह्मा।

(१६) फले = उदय हुए। पगु-धारे = आये।

(१७) लोकन को = सब लोकपालों की ओर से। करुणारस भीनी = दुःख पूर्ण (यह शब्द विनती का विशेषण है)। सीता = संबोधन है—हे सीता सुनो। जानकी ····गीता = जिनकी मरज़ी समझी नहीं जाती (रामजी) ने ऐसा उत्तर दिया है जिसका तात्पर्य मैं समझ नहीं पाया)।

(१८) चाल चलौ = आचरण करो। ऐसे = इस प्रकार से।

(१९) जीवन मंड्यौ = जी उठा, पुनः जीवित हो गया।

भावार्थ—शब्दार्थ की सहायता से सरलता से समझ में आ जाता है।

(राम-सीता-सम्बाद)

मूल—मोदक छन्द— लक्षण—४ भगण = १२ वर्ण)

एक समै रघुनाथ महामति। सीतहिं देखि सगर्भ बढ़ी रति।

(राम)—
सुन्दरी माँगु जो जी महँभावत। मोमन तो निरखे सुख पावत ॥२०॥
(सीता)—
जो तुम होत प्रसन्न महामति। मोरि बढ़ै तुमहीं सो सदारति।
अंतर की सब बात निरंतर। जानत हौ सबको सबते पर ॥२१॥

शब्दार्थ—(२०) संगर्भ = गर्भवती। रति = प्रीति।

(२१) रति = प्रीति। अन्तर = मन। निरंतर = सदा। पर = परे, बढ़कर

भावार्थ = सरल ही है।

मूल (राम)—दोहा—

निर्गुणते मैं सगुण भो, सुनु सुन्दरि तव हेत।
और कछू माँगौ समुखि, रुचै जु तुम्हरे चेत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—निर्गुण = निराकार रूप व्यापक परब्रह्म। सगण = साकाररूप जैसे राम कृष्णादि। रुचै = भावै। चेत = चित्त, मन।

(निर्गुण से सगुण होने की कथा) एक बार साकेत लोक में (जहाँ राम सीता सत्य और नित्यरूप से रहते हैं) सीताजी ने रामजी से यह इच्छा प्रगट की थी कि मैं आपकी रणलीला देखना चाहती हूँ। रामजी ने कहा था कि अच्छा दिखला देंगे, पर इसके लिए हम लोगों को ससमाज मर्त्यलोक में चलना होगा। इसी प्रसंग की ओर यह इशारा है।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल— सीता —मोदक छन्द—

जो सबते हित मोपर कीजत। ईश दया करिकै बरु दीजत।
हैं जितने ऋषि देव नदी तट। हौं तिनको पहिराय फिरों पट ॥२३॥

भावार्थ—हे ईश! यदि सबसे अधिक मुझी पर कृपा है और आप कृपा करके वर देना ही चाहते हैं तो मुझे अनुमति दीजिये कि मैं गंगातट निवासी सब मुनियों को वस्त्र दान कर आऊँ।

मूल—(राम) दोहा—

प्रथम दोहदै क्यों करौं, निष्फल सुनि यह बात।
पट पहिरावन ऋषिन को, जैयो सुन्दरि प्रात ॥२४॥

शब्दार्थ—दोहद = गर्भवती स्त्री की इच्छा। सुनि यह बात = मेरी यह बात सुनो।

भावार्थ—मैं तुम्हारी गर्भावस्था की पहली इच्छा को क्यों निष्फल करूँ। अच्छा मेरी यह बात सुनो, हे सुन्दरी, कल्ह तुम ऋषियों को वस्त्रदान करने जाना।

(सीता—निर्वासन)

मूल—मोदक छन्द।

भोजन कै तव श्रीरघुनन्दन। पौढ़ि रहे बहु दुष्ट निकन्दन।
बाजे बजे अधरात भई जब। दूतन आय प्रणाम करी तब ॥२५॥

शब्दार्थ—दुष्ट निकन्दन = दुष्टों के विनाशक। बाजे बजे...जब = जब आधीरात की नौबत बजी।

भावार्थ—सरल है।

मूल—चंचला छंद—(लक्षण—क्रम से ८ बार गुरु लघु = १६ वर्ण)

दूत भूत-भावना कही न जाय बैन।
कोटिधा विचारियो परै कछू बिचार नै न।
सूर के उदोत होत बन्धु आइयो सुजान।
रामचन्द्र देखियो प्रभात चन्द्र के समान ॥२६॥

शब्दार्थ—भूत भावना = किसी एक प्राणी की भावना (रजक की भावना, धोबी का विचार) सुजान बंधु = ज्ञानवान भाई। रामचन्द्र = (कर्म कारक में) राम जी को।

भावार्थ—दूत ने आकर (रामजी को सीता के सम्बन्ध में) एक प्राणी के (जो) विचार सुनाये, कवि कहता है कि) उन्हें मैं अपने वचनों से कह नहीं सकता। करोड़ प्रकार से विचार किया कि किस प्रकार उन्हें प्रगट करूँ, पर कुछ विचार में न आया। सूर्योदय के समय सुजान बंधु (तोनों भाई) प्रणाम करने आये, तो रामचन्द्र को प्रभातचन्द्र के समान निष्प्रभ देखा।

अलंकार—उपमा।

मूल—संयुक्ता छन्द—लक्षण = स + २ ज + गुरु = १० वर्ण)।

बहु भाति बंदनता करी। हँसि बोलियो न दयाधरी।
हम ते कछू द्विज दोष है। जेहि ते कियो प्रभु रोष है ॥२७॥

भावार्थ—भरतजी ने बहु भाँति रामजी की बंदना की परन्तु रामजी न तो हँसे न बोले, न उनपर कृपा की (न उनकी ओर हेरे न बैठने ही को कहा)। तब भरतजी ने कहा कि क्या हममें कोई ब्रह्मदोष होगया है जिससे आप इतने क्रुद्ध हैं।

मूल—दोहा—

मनसा बाचा कर्मणा, हम सेवक सुनु तात।
कौन दोष नहिं बोलियत ज्यों कहि आये बात ॥२८॥

भावार्थ—भरतजी कहते हैं कि हे तात, हम (तीनों भाई) मन वचन कर्म से आपके सेवक हैं, आज ऐसा क्या हुआ जो आप हमसे नहीं बोलते जैसे पहले बात किया करते थे।

मूल—(भरत) दोहा—संयुक्त छंद।

कहिये कहा न कहो परै। कहिये तो ज्यो बहुतै डरै।
तब दूत बात सबै कहो। बहु भाँति देह दशा दहो ॥ २९ ॥

भावार्थ—रामजी बोले कि क्या कहूँ, बात कही नहीं जाती, कहने में जी डरता है कि कुछ अनहोनी न हो जाय (तदनन्तर दूत की कही हुई बात सब सुना दी, और देह की दशा बहुत संतप्त हो उठी) शोक से अति दुःख हुआ।

मूल—(भरत) दोहा—

सदा शुद्ध अति जानकी, निंदत यों खलजाल।
जैसे श्रुतिहि सुभावही, पाखंडी सब काल ॥३०॥

शब्दार्थ—पाखंडी = नास्तिक।

भावार्थ—सब हाल सुनकर भरतजी ने कहा कि जानकीजी सदा अति शुद्ध हैं। खल लोग उन्हें वैसे ही निंदित कहते हैं, जैसे स्वभावतः पाखंडी जन वेद की निंदा करते हैं।

अलंकार—उदाहरण

मूल—(दोहा)—

भव अपबादन ते तज्यो, यों चाहत सीताहि।
ज्यों जग के संयोगतें योगी जन शमताहि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—अपवाद = निंदा । शमता = शमन, जितेन्द्रियता (देखिये प्रकाश २४ छन्द ११)

भावार्थ—(हाँ मालूम हुआ। आप लोकापवाद के कारण सीता जी को त्यागना चाहते हैं। सीता-त्याग वैसा ही होगा जैसे कोई योगी जग विषयों के संसर्ग से अपनी जितेन्द्रियता त्यागना चाहै।

अलङ्कार—उदाहरण।

मूल—झूलना छन्द—लक्षण—७+७+७+५ = २६ मात्रा, अंत में गुरु लघु)

मन मानिकै अतिशुद्ध सीतहिं आनियो निजधाम।
अवलोकि पावक अंक ज्यों रविअंक पंकजदाम।
केहि भाँति ताहि निकारिहौ अपवाद-बादि बखान।
शिव ब्रह्म धम समेत औ पितु साखि बोल्यो आन॥ ३२॥

भावार्थ—सीता को अति शुद्ध मानकर आप घर लाये हैं। अपने आँखों से उन्हें आग में बैठे यों देखा है जैसे सूर्य की गोद में कमल-माला। उस शुद्ध सीता को आप केवल निंदक के कहने से कैसे निकालेंगे, जिसकी शुद्धता की साक्षी शिव, ब्रह्मा, धर्म और स्वयं श्रीपिताजी ने दी है।

अलंकार—उदाहरण

मूल—
यमनादि के अपवाद क्यों द्विज छोड़ि है कपिलाहि?
विरहीन को दुख देत, क्यों हर डारि चन्द्रकलाहि?
यह है असत्य जु, होहिगो अपवाद सत्य सु नाथ!
प्रभु छोड़ि शुद्ध सुधाहि पीवत विषहिं अपने हाथ॥ ३३॥

शब्दार्थ—यमन = म्लेच्छ, आर्यधर्मेतरावलम्बी जन—राम के समय यवनों का भारत में होना ठीक नहीं, अतः हम दूसरा अर्थ लेना अच्छा है, नहीं तो कविता में काल विरुद्ध दोष आता। है अपवाद = निन्दा, बुरा कहना। क्यों = क्या। यह = ब्रह्मा शिवादि की साक्षी जिसका जिक्र छन्द नं० ३२ में आचुका है। जु = जो। सु = सो रजककृत।

भावार्थ—(भरतजी कहते हैं कि) यवनादि (आर्यधर्मेतरावलंबी जनों) के बुरा कहने से क्या ब्राह्मण गऊ का त्याग करेगा ? चन्द्रमा वियोगियों को दुखदायी है अतः वे चन्द्रमा की निन्दा करते हैं, इस निन्दा से बुरा समझकर क्या महादेवजी अपने मस्तक पर से चन्द्रमा को गिरा देंगे ? यदि यह शिव ब्रह्मादि देवों तथा पिताजी की साक्षी असत्य हो (यदि ये लोग झूठे हैं) तब बेशक यह रजककृत निन्दा सत्य होगी। रजककृत निन्दा का सत्य इव ग्रहण और सुरादि दत्त साक्षी का त्याग, हे प्रभु, ठीक वैसा ही जैसे शुद्ध सुधा को छोड़ कर अपने हाथ विष पीना (अतः मैं इस अपवाद को सत्य नहीं मानता)

नोट—इस छन्द के प्रथम चरण में 'कालविरोध' दोष तथा दूसरे चरण में 'न्यूनपद' दोष है।

अलंकार—तीसरे चरण में मिथ्याध्यवसित, चौथे में दृष्टान्त।

मूल—(दोहा)—

> प्रिय पावनि प्रियबादिनी पतिव्रता अतिशुद्ध।
> जग की गुरु अरु गुर्बिणी छाँड़त बेद विरुद्ध ॥३४॥

शब्दार्थ—गुरु = पूज्या। गुर्विणी = गर्भवती। पावनि प्रिय = सब को अतिप्रिय।

भावार्थ—सरल है।

मूल—(दोहा)—

> वा माता वैसे पिता तुम सो भैया पाय।
> भरत भयो अपवाद को भाजन भूतल आय ॥३५॥

शब्दार्थ—अपवाद भाजन = निन्दापात्र।

भावार्थ—(भरतजी अपने दुर्भाग्य को कोसते हैं कि) माता वैसी मिली पिता वैसे मिले (जिन्होंने मेरे वास्ते राम को वनवास दिया केवल बड़ाई की बात यह थी कि मैं राम ऐसे धर्मात्मा का भाई हूँ सो अब आप भी सीता-त्याग का कलक लेते हैं) तो अब आप सरीखा भाई पाकर (व्यर्थ ही स्त्री-त्याग से कलंकित भाई पाकर) पृथ्वी में जन्म लेकर भरत तो भरपूर निन्दापात्र हुआ, अर्थात् अब मैं संसार को कौन मुख दिखाऊँगा, माता, पिता भाई सब निंदित।

ऐसे निन्दित व्यक्तियों का सम्बन्धी होकर मैं संसार में कैसे रहूँगा---ध्वनि यह है कि यदि आप सीता-त्याग करेंगे तो मैं भी संसार त्याग करूंगा।

मूल—(राम)—हरिलीला छंद* (लक्षण—त+भ+२ज+गु+ल=१४ वर्ण)

साँची कही भरत बात सबै सुजान।
सीता सदा परम शुद्ध क्रिया-विधान।
मेरी कछू अबहि इच्छ यहै सु हेरि।
मोको हतौ बहुरि बात कहौ जु फेरि॥ ३६॥

शब्दार्थ—सदा परम शुद्धि क्रिया विधान=सदैव परम पवित्र कार्य करने वाली। इच्छ=इच्छा।

भावार्थ—(भरत की प्रतिज्ञा से रामजी घबराये तब कहने लगे) हे सुजान भरत! जो कुछ तुमने कहा सब सत्य है, सीता का क्रिया विधान (सीता के कार्य) सदा ही परम शुद्ध हुआ करता है, पर इस समय मेरी कुछ ऐसी ही इच्छा है मेरी इच्छा देख कर (तुम चुप रहो)। यदि अब कुछ फिर कहो तो मेरी ही हत्या का पाप तुम्हें लगेगा (यदि मेरी इच्छा के अनुसार तुम काम न होने दोगे तो मैं प्राण त्याग दूँगा।

मूल—दोधक छंद।

दूषत जैन सदा शुभ गंगा। छोड़हुगे वह तुंग-तरंगा।
मायहि निंदित हैं सब योगी। क्यों तजिहैं सब भूपित भोगी॥३७॥

शब्दार्थ—तुंग-तरंगा=ऊँची लहरोंवाली गंगा नदी। माया=धन, सम्पत्ति। क्यों=क्या।

भावार्थ—जैनमतावलंबी गंगा की निंदा करते हैं, तो क्या उनकी निंदा के कारण आप उस पवित्र तुंग तरंगिणी नदी का त्याग करेंगे? योगीजन धन की निंदा करते हैं, तो क्या भोगी राजा उसे त्यागेंगे?

नोट—विचारणीय है कि क्या राम के समय में जैन मत प्रचलित था?

---

* इस छंद का अंतिम वर्ण यदि गुरु मान लें तो यही छंद 'वसन्ततिलका'

मूल —

ग्यारसि निंदत हैं मठधारी। भावति है हरिभक्त न भारी।
निंदत हैं तव नामहिं बामी। का कहिये तुम अंतरयामी ॥३८॥

शब्दार्थ—ग्यारसि = एकादशी। मठधारी = जगन्नाथ जी के पुजारी (जगन्नाथजी में एकादशी को भी चावल का भोग लगता है जो वैष्णव मत के विरुद्ध है)। बामी = बाममार्गी।

भावार्थ—सरल ही है।

नोट—राम के समय में जगन्नाथ नहीं थे। अतः कालविरुद्ध दूषण होता है।

मूल—(दोहा)—

तुलसी को मानत प्रिया, गौतम तिय अति अज्ञ।
सीता को छोड़न कहौ, कैसे कै सर्वज्ञ ॥३९॥

भावार्थ—हे सर्वज्ञ! आप तुलसी और अति अज्ञ (जड़) अहिल्या को प्रिया मानते हो (ये दोनों सदोष थीं सो इन्हें तो पवित्र मानते हो) और सीता को छोड़ने कहते हो यह कैसी बात है?

मूल—(शत्रुघ्न) रूपमाला छन्द—(लक्षण—१४ + १० = २४ मात्रा अंत में गुरु लघु)

स्वप्नहू नहिं छोड़िये तिय गुर्बिनी पल दोय।
छोड़ियो तब शुद्ध सीतहिं गर्भमोचन होय॥
पुत्र होय कि पुत्रिका यह बात जानि न जाय।
लोकलोकन में अलोक न लीजिए रघुराय ॥४०॥

भावार्थ—गर्भवती स्त्री को थोड़े समय के लिये सोते में भी न छोड़ना चाहिये, (जब गर्भवती स्त्री सोती हो तब भी उसके पास रक्षक चाहिये—यह संतानशास्त्र का कथन है नहीं तो बहुधा गर्भ नष्ट हो जाता है) यदि आपको छोड़ना ही मंजूर है तो संतान प्रसव के बाद केवल सीता को त्यागियेगा (इस दशा का त्याग तो मानो संतान त्याग भी होगा, पर वह संतान दोषी नहीं,

निर्दोष संतान का त्याग महा पाप है) न जाने इनके गर्भ में पुत्र हो पुत्री, अतः निर्दोष संतान के त्याग से लोक लोकान्तर में अपयश मत लीजिये।

मूल —(दोहा)

रामचन्द्र ! जगचन्द्र तुम, फल दल फल समेत।
सीता पावन पद्मिनी, न्यायन ही दुख देत ॥४१॥

भावार्थ — हे रामचन्द्र ! अब मुझे मालूम हुआ कि आप सचमुच जगचन्द्र हो, फली फूली पवित्र सीता-पद्मिनी को दुख देते हो, सो न्याय ही है, क्योंकि चन्द्रमा पद्मिनी (कमलिनी) को दुख देता ही है।

अलंकार — श्लेष से पुष्ट परिकरांकुर।

मूल—दोहा—

घर-घर प्रति सब जग सुखी, राम तुम्हारे राज।
अपनेहि घर तक करत हो शोक अशोक समाज ॥४२॥

भावार्थ —हे रामजी ! तुम्हारे राज्यकाल में जगत में प्रत्येक घर सुखी है, तो अपने ही घर के सुखमग्न समाज को शोक क्यों देते हो ? (सीता-त्याग से पूर्व परिवार दुखी होगा)

मूल —(राम)—तोटक छन्द।

तुम बालक हो बहुधा सब में। प्रति उत्तर देहु न फेरि हमें।
जु कहैं हम बात सुजाय करो। मन मध्य न और बिचार धरो ॥४३॥

शब्दार्थ—प्रति उत्तर = जवाब का जवाब।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—दोहा—

और होइ तो जानिये, प्रभु सो कहा बसाय।
यह विचारि कै शत्रुहा, भरत गये अकुलाय ॥४४॥

भावार्थ—और कोई होता तो समझ लेते (लड़ बैठते), परन्तु ये तो हमारे प्रभु हैं (मौलिक वा इष्टदेव हैं) इनसे कुछ वश न चलैगा, यह विचार करके शत्रुघ्न और भरतजी व्याकुल हो कर राम के पास से चले गये (कि कहीं सीता को अन्यत्र छोड़ आये की आज्ञा न दे बैठें) केवल लक्ष्मण ही वहाँ

मूल—(राम)—दोधक छंद।

सीतहिं लै अब सत्वर जैये। राखि महावन में फिरिऐये।

लक्ष्मण ! जो फिर उत्तर दैहौ। शाशनभङ्गको पातक पैहौ ॥४५॥

शब्दार्थ—सत्वर = जल्द। शासनभंग = उदूल हुक्मी, राजा की आज्ञा न मानना। पातक = पातक फल अर्थात् दंड।

भावार्थ—हे लक्ष्मण ! तुम सीता को लेकर जल्दी जाओ और किसी महाघोर वन में छोड़ कर लौट आओ। हे लक्ष्मण, अगर मेरा इस बात का उत्तर दोगे (कुछ दलील पेश करके टालटूल करोगे) तो राजाज्ञाभंग करने का दंड पाओगे (हम तुम्हें राजा की हैसियत से आज्ञा देते हैं, भाई के नाते नहीं)।

मूल—

लक्ष्मण लै बन सीतहिं धाये। थावर जंगम हू दुख पाये।

गंगहि देखि कह्यौ यह सीता। श्रीरघुनायक को जनु गीता ॥४६॥

शब्दार्थ—स्थावर = अचर जीव। जंगम = चरजीव। गीता = कीर्ति।

भावार्थ—सरल ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

पार भये जबहीं जन दोऊ। भीम बनी जन जंत न कोऊ।

निर्जल निर्जन कानन देख्यो। भूतपिशाचन को घर लेख्यो ॥४७॥

शब्दार्थ—पार = गंगा पार। भीम = भयंकर। बनी = जंगल। जन = मनुष्य। जंतु = जंगली पशु।

भावार्थ—जब दोनों जन (सीता और लक्ष्मण) गंगापार हो गये तो वहाँ एक भयंकर जंगल देखा जहाँ न कोई मनुष्य ही था न वनजीव (मृग-शशादि) ही। वह जंगल जल रहित था, मानो भूत पिशाचों का ही घर था।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(सीता जू) नगस्वरूपिणी छंद—(लक्षण—क्रम से ४ बार लघु गुरु = ८ वर्ण)

सुनों न ज्ञान कारिका। शुकी पढ़ैं न सारिका।

न होम धूम देखिये। न गंधवन्धु पेखिये ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—कारिका = श्लोकबद्ध व्याख्या। गंधबंधु = आमका वृक्ष।

भावार्थ—(जानकी जी समझती थीं कि रामजी के बर के अनुसार—देखो छंद २४—लक्ष्मणजी हमें मुनिआश्रमों को लिये जाते हैं, पर जब मुन्याश्रमों के चिन्ह न पाये तब घबरा कर पूछती हैं कि) हे लक्ष्मण ! मैं यहाँ न तो ज्ञानोपदेश की श्लोकबद्ध व्याख्या ही सुनती हूँ यहाँ, कोई शुकी वा सारिका भी पढ़ती नहीं सुनाई पड़ती, न यहाँ होम-धूम ही है न आम की कुंजे हैं (यह कैसा मुन्याश्रम है ?)

मूल—

सुनों न वेद की गिरा। न बुद्धि होती है थिरा।
ऋषीन की कुटी कहाँ। पतिव्रता बसैं जहाँ॥ ४९॥

शब्दार्थ- थिरा =(स्थिरा) स्थिर।
भावार्थ—सरल ही है।
मूल—

मिलै न कोइयै कहूँ। न आवतै न जातहूँ।
चले हमैं कहाँ लिये। डराति हौं महा हिये॥ ॥ ५०॥

शब्दार्थ—कोइयै = कोई भी।
भावार्थ—सरल ही है।
मूल—दोहा—

सुनि सुनि लक्ष्मण भीत अति, सीता जू के बैन।
उत्तर मुख आयो नहीं, जल भर आयो नैन॥ ५१॥

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—नाराच छंद—(लक्षण—क्रम से ८ बार लघु गुरु = १६ वर्ण)।

विलोकि लक्ष्मणै भई विदेहजा विदेह सी।
गिरी अचेत ह्वै मनो घने बनै तड़ीत सी।
करी जु छाँह एक हाथ एक बात बास सों।
सिंच्यो शरीर बीर नैन नीर ही प्रकाश सों॥ ५२॥

शब्दार्थ—विदेहजा = जानकीजी। विदेहसी = जड़वत्। तड़ीत = बिजली। बात = हवा। बास = वस्त्र। प्रकास सों = खुल कर, ढाढ़ मार कर (रोये)।

भावार्थ—लक्ष्मण को रोते देख जानकी जी जड़वत् हो गईं और बेहोश होकर गिर गईं मानों उस घने वन में बिजली आ गिरी हो। तब लक्ष्मण ने एक हाथ से उनके मुँह पर छाया की और दूसरे हाथ से कपड़े से हवा झली और खुल कर इतना रोये कि वीर लक्ष्मण के आँसुओं से सीता का शरीर सिंचित हो गया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—रूप माला छन्द—

राम को जप सिद्धिसी सिय को चले वन छाँड़ि।
छाँह एक फनी करी फन दीह मालनि माँड़ि॥
बालमीकि बिलोकियो बन देवता जानु जानि।
कल्पवृक्ष लता किधौं दिवि ते गिरी भुव आनि॥ ५३॥

भावार्थ—तब लक्ष्मणजी सीताजी को—जोकि रामजी के जप फल के समान शुद्ध थीं—वन में छोड़ कर चल दिये। एक सर्प ने आकर अपनी बड़ी फणमाला से उन पर छाया की। बाल्मीकि मुनि ने आकर देखा मानो वह कोई वनदेवी है, वा कल्पवृक्ष में लिपटी हुई लता है, जो स्वर्ग से भूमि में आ गिरा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा से पुष्ट संदेह।

मूल—

सींचि मंत्र-सँजीव-जीवन जी उठी तेहि काल।
पूछियो मुनि कौन की दुहिता बधू अरु बाल॥

(सीता)
हौं सुता मिथिलेश की दशरत्थपुत्र-कलत्र।
(मुनि)
कौन दोष तजी (सी०) न जानति, कौन आपुन अत्र॥ ५४॥
(मुनि)

पुत्रिके सुनि मोहि जानहि वालमीकि द्विजाति।

सर्बथा मिथिलेश को गुरु सर्वदा शुभ भाति ॥
होहिंगे सुत द्वै सुधी पगु धारिये मम ओक।
रामचन्द छितीश के सुत जानिहै तिहुँ लोक ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ— ५४ —मत्र सँजीव-जीवन = संजीवन मंत्र से अभिमंत्रित जल। बधू = पुत्र वधू बाल = (बाला) पत्नी। कलत्र = स्त्री। आपुन = आप। अत्र = यहाँ।

५५ —पुत्रिके = हे पुत्री। द्विजाति = ब्राह्मण। सर्बदा शुभ भाँति = सदा खैरख्वाह। ओक = घर(कुटी)। छितीश = राजा।

भावार्थ— ५४—तब बाल्मीकिजी ने संजीवनी विद्या के मंत्र से अभिमंत्रित करके जल छिड़का तो जानकजी सचेत हो उठीं। मुनि ने पूछा कि तुम किसकी पुत्री, किसकी पुत्रवधू तथा किसकी स्त्री हो। सीता ने कहा कि मैं जनक की कन्या और राजा दशरथ के पुत्र की स्त्री हूँ। मुनि ने पूछा कि उन्होंने किस दोष से तुम्हें त्यागा है। सीता ने कहा—मैं नहीं जानती, पर आप तो बतलाइये कि आप कौन हैं और यहाँ कैसे आये। (५५) मुनि ने कहा कि हे पुत्री, मुझे बाल्मीकि ब्राह्मण जानो मैं मिथिलेश का गुरु हूँ और सदा उनकी भलाई चाहता हूँ। तुम मेरे आश्रम में चलो, लक्षणों से जान पड़ता है कि तुम्हारे दो बुद्धिमान पुत्र होंगे और त्रिलोक जानैगा कि वे राजा रामजी के पुत्र हैं!

(कुश-लवजन्म)

मूल—

सर्वथा गुनि शुद्ध सीतहि लै गये मुनिराय।
आपनी तपसानि की शुभ सिद्धि सी सुख पाय॥
पुत्र द्वै भये एक श्री कुश दूसरो लव जानि।
जातकर्महि आदि दै सब किये बेद बखानि ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—तपसा = तपस्या। जातकर्म = पुत्र-जन्म समय के कुछ कर्म (कृत्य)। वेद बखानि = वेद मन्त्र पढ़-पढ़ कर!

भावार्थ—सीता को सर्वथा शुद्ध समझ कर मुनि सीता को अपने साथ

इस प्रकार ले गये मानों उन्हीं की तपस्याओं की सिद्धि है। वहाँ दो पुत्र पैदा हुए, एक कुश दूसरे लव। पैदा होने पर मुनि ने जातकर्मादि सब कृत्य वेदविधि से किये।

अलङ्कार—उपमा।

मूल—(दोहा)—

वेद पढ़ायो प्रथम ही धनुर्वेद सबिशेष।
अस्त्र शस्त्र दीन्हे घने दीन्हे मन्त्र अशेष ॥५७॥

भावार्थ—पहले साधारणतः सब वेद पढ़ाये, पुनः धनुर्वेद विशेष रीति से पढ़ाया सब अस्त्र-शस्त्र दिये और उनके चलाने के सब मन्त्र भी सिखाये।

(तेंतीसवाँ प्रकाश समाप्त

चौंतीसवां प्रकाश

दोहा—आयो स्वान फिराद को चौंतीसयें प्रकाश।
अरु सनाढय द्विज आगमन लवणासुर को नाश॥

(स्वान-सन्यासी अभियोग)

मूल—दोधक छन्द।

एक समय हरि धर्म सभा मैं। बैठे हुते नरदेव प्रभा मैं।
संग सबै ऋषिराज बिराजैं। सोदर मन्त्रिन मित्रन साजैं ॥१॥

मूल—

शब्दार्थ—हरि=(दुःख हरने वाले) रामजी। धर्म सभा=कचहरी, दरबार। नरदेव=राजा।

भावार्थ—एक दिन विष्णु का अवतार श्रीरामजी कचेहरी में बैठे थे, जहाँ अनेक राजाओं की प्रभा छाई हुई थी। साथ में ऋषिगण, भाई, मन्त्री और मित्र भी थे।

मूल—

कूकर एक फिरादहिं आयो। दुंदुभि धर्म दुवार बजायो।
बाजत ही उठि लक्ष्मण धाये। स्वानहिं कारण बूझन आये ॥२॥

शब्दार्थ—(फिराद = फा० फर्याद) नालिश। धर्मदुवार = कचहरी के द्वार पर।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(कूकुर)—

काहु के क्रोध विरोध न देख्यो। राम को राज तपोमय लेख्यो।
तामहं मैं दुःख दीरघ पायो। रामहि हौं सो निवेदन आयो ॥३॥

भावार्थ—कुत्ते ने कहा कि श्रीराम के राज्य में मैंने किसी के क्रोध वा विरोध नहीं देखा मानो यह राज्य तपमय है (इस राज्य की सब प्रजा तपस्वी है)। ऐसे राज्य में मैंने बड़ा दुःख पाया है, सो मैं राम से निवेदन करने आया हूँ।

मूल—(लक्ष्मण)—

धर्म सभा महं रामहिं जानो। स्वान चलो निज पीर बखानो ॥

(स्वान)

हौं अब राजसभा नहिं जाऊं। जायकै केशव सोभ न पाऊं ॥४॥

भावार्थ—लक्ष्मण ने कहा कि श्रीमहाराज जी इस समय कचहरी में बैठे हैं, हे स्वान ! चलो तुम अपना दुःख सुनाओ। (कुत्ते ने कहा)—मैं राज सभा में न जाऊँगा, सभा में मेरा जाना शोभाप्रद नहीं। (क्योंकि नीति यह है कि)

मूल—(दोहा)—

देव, अदेव, नृदेव घर, पावन थल समुदाय।
बिनु बोले आनन्दमति, कुत्सित जीव न जाय ॥५॥

शब्दार्थ—अदेव = (देवातिरिक्त) मनुष्य। नृदेव = राजा। आनन्दमति = लक्ष्मण का सम्बोधन है। कुत्सित = खराब, अपवित्र।

भावार्थ—नीति यह है कि देवता, मनुष्य, और राजा के घरों में तथा समस्त पवित्र स्थानों में, हे आनन्दमति ! बिना बोलाये अपवित्र जीवों को न जाना चाहिये।

मूल—(दोधक छन्द)—

राजसभा महं स्वान बोलायो। रामहिं देखत ही सिर नायो ॥
राम कह्यौ जु कछू दुख तेरे। स्वान ! निशंक कहौ पुर मेरे ॥६॥

शब्दार्थ - पुर = आगे । सामने ।

भावार्थ—सरल है ।

मूल—(स्वान) तारकछन्द—

तुम हौ सरवज्ञ सदा सुखदाई । अरुहै सबको समरूप सदाई ।
जग सोवत है जगतीपति जागे । अपने अपने सब मारग लागे ॥७॥
नरदेवन पाप परै परजाको । निशिवासर होय न रच्छक ताको ।
गुणदोषन को जब होय न दर्शी । तबही नृप होय निरैपदपर्शी ॥८॥

शब्दार्थ—(७) जगतीपति = विष्णु ।
(८) निरैपदपर्शी = नरकभोगी ।

भावार्थ—(७) हे राम ! तुम सर्वज्ञ हो, सदा सुख देने वाले हो. और सदा सब को एकसम समझने वाले हो । सब संसार मोहरूपी रात्री में सोता है, केवल एक आप (जगत्पतिरूप से) जगते हो, तुम्हारे ही जगने से सब जीव अपने कार्य्य में लगे रहते हैं । (इतना कथन तो राम को ईश्वर समझ कर कहा, अब राजा समझ कर कहता है ।)

(८) प्रजाकृत पाप राजा को भी लगता है, यदि वह सदैव उसकी निगरानी न करता रहै । जब राजा प्रजा के दोषों व गुणों की निगरानी न करता रहैगा तो वह नरकभोगी होगा (ऐसा शास्त्रों में कहा गया है) ।

मूल—(दोहा)—

निज स्वारथ ही सिद्धि द्विज, मोकों करयौ प्रहार ।
बिन अपराध अगाधमति, ताको कहा विचार ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—निज स्वारथ ही सिद्धि = अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये । अगाधमति = रामजीका संबोधन है ।

भावार्थस — सरल है ।

मूल—(तारक छन्द)—

तब ताकहँ लेन गये जन धाये । तबहीं नगरी महँते गहि लाये ।
(राम)—यहि कूकुर क्यों बिन दोषहि मारयौ ।
अपने जिय त्रास कछू न विचारयौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तबहीं = तुरंत । नगरी महँते = शहर में से ।

भावार्थ—सरल है।

मूल—(ब्राह्मण)—दोहा—

यह सोवत हो पंथ में हौं भोजन को जात।
मैं अकुलाय अगाधमति याको कीन्हो घात॥ ११॥

शब्दार्थ—सोवत हो = सोता था। अकुलाय = त्वरा वश, जल्दी के कारण।

भावार्थ—सरल है। (एक प्रति में "अपडर मैं अकुलाय कै याकहँ मारी लात" भी पाठ है)

मूल (राम)—स्वागता छन्द।

ब्रह्म ब्रह्मऋषिराज बखानो। धर्म कर्म बहुधा तुम जानो।
कौन दंड द्विज को अब दीजै। चित्तचेतिकहियेसोइ कीजै॥१२॥

शब्दार्थ ब्रह्म = वेद। चित्तचेति = दिल से खूब समझ बूझ कर।

भावार्थ—हे ब्रह्मऋषिराज! तुम विविध प्रकार के धर्म कर्मों को जानते हो, अतः वेदविधि से दिल में खूब समझ-बूझकर बताइये कि इस ब्राह्मण को कौनसा दंड दिया जाय, वही हम करें।

मूल—(कश्यप)—

है अदंड भुवदेव सदाई। यत्र-तत्र, सुनिये रघुराई।
ईश साख अबयाकहँ दीजै। चूक हीन अरि कोउ न कीजै॥१३॥

शब्दार्थ यत्र = जहाँ। तत्र = तहाँ। चूकिहीन = बिना दोष।

भावार्थ—कश्यप ऋषि बोलेकि हे रामजी सुनिये, जहाँ नज़र डालो वहीं (जिस शास्त्र या वेद में देखो वहीं) यह विधान है कि ब्राह्मण दंड योग्य नहीं (ब्रह्मण को दड न देना चाहिये) अतः हे राजन्! इनको अब यही शिक्षा देकर छोड दीजिये कि बिना दोष अब किसी को यह अपना मुद्दई न बना लिया करें।

मूल—(राम)—तोमर छंद।

सुनि स्वान! कहि तू दंड। हम देहिं याहि अखंड।
कहि! बात तू डर डारि। जिय मध्य आपु विचारि॥ १४॥

शब्दार्थ—अखड = पूरा बिना कमी किये। डर डारि = भय छोड़ कर।

भावार्थ—रामजी ने कुत्ते से कहा कि तू ही बतला कि इसे क्या दंड होना

चाहिये (जिससे तुझे संतोष हो जाय) हम ज्यों का त्यों बिना कमी किये हुए वही दंड इसे देंगे। तू भय छोड़कर और सोच कर बतला।

मूल— (स्वान) दोहा

मेरो भायो करहु जो, रामचन्द्र हित मंडि।
कीजै द्विज यहि मठपती, और दंड सब छंडि॥ १५॥

भावर्थ—कुत्ता बोला, कि हे महाराज ! यदि कृपा करके मेरी ही मनभाई करना है तो सब दंड छोड़कर इस ब्राह्मण को किसी मठ का महंत बना दीजिये।

मूल —निशिपाल छन्द-(लक्षण-भ + ज + स + न + र = १५ वर्ण)

पीत पहिराय पट बाँधि सिरसों पटी।
बोरि अनुराग अरु जोरि बहुधा गटी॥
पूजि परि पायँ मठु ताहि तबही दयो।
मत्त गजराज चढ़ि विप्र मठ को गयो॥ १६॥

शब्दार्थ—पटी = कपड़ा (पगड़ी, साफा)। गटी = समूह (वाहन और सेवकादि का) तबहीं = तुरन्त (कुत्ते के कहते ही)।

भावार्थ—तब रामजी ने तुरन्त उस ब्राह्मण को नवीन पीताम्बर पहिनाकर सिर में पगड़ी बँधवाकर, बड़े प्रेम से और भी बहुत से वाहन और सेवकों का समूह देकर, अंदर से पैर छू कर उसे कालिंजर के मठ का महंत बना दिया और मस्त हाथी पर सवार होकर वह अपने मठ को चला गया।

मूल—(दोहा)—

भयो रंक ते राज द्विज, कर्यौ स्वान-करतार।
भोगन लाग्यो भौग वै, दुंदुभि बाजत द्वार। १७॥

भावार्थ—वह ब्राह्मण स्वान ब्रह्मा का बनाया हुआ रंक से राजा हो गया (गरीब भिक्षुक विप्र से धनी महंत हो गया) और अनेक प्रकार के भोग भोगने लगा तथा उसके द्वार पर विभव सूचक नगाड़े बजने लगे।

मूल—मोदक छन्द।

पूछत लोग सभा महँ स्वानहिं। जानत नाहिन या परमानहिं।
बिप्रहिं तै जु दई पदवी यह। है यह निग्रह कैधों अनुग्रह। १८॥

शब्दार्थ—नाहिन = नहीं। जानत ··· नहिं = इस व्यवस्था का प्रमाण हम

नहीं जानते कि किस शास्त्र के अनुसार तूने यह व्यवस्था दी है। निग्रह = दंड। अनुग्रह = कृपा।

भावार्थ—सभा के कुछ लोग कुत्ते से पूछने लगे कि भाई हम इस व्यवस्था का प्रमाण नहीं जानते (कि किस शास्त्र के अनुसार तूने यह व्यवस्था दी है) इस ब्राह्मण को जो तूने यह पदवी दिलवाई सो यह दंड है या कृपा है।

(मठधारी निंदा)

मूल—(स्वान) दोधक छन्द।

एक कनोज हुतौ मठधारी। देव चतुर्भुज को अधिकारी।
मन्दिर कोउ बड़ो जब आवै। अंग भली रचनानि बनावै॥ १९॥
जादिन केशव कोउ न आवै। तादिन पालक ते न उठावै।
भेंटन लै बहुधा धन कीन्हो। नित्य करै बहु भोग नवीनो॥ २०॥

भावार्थ—(कुत्ता कहता है कि) कन्नौज में एक मठधारी था जो विष्णु मन्दिर का अधिकारी था। जिस रोज मन्दिर में कोई बड़ा आदमी आता उस दिन ठाकुर जी का अच्छा सिंगार करता था। (१९)।

जिस दिन कोई (धन चढ़ानेवाला) न आता था, उस दिन ठाकुर जी को पलंग पर से उठाता भी न था (ठाकुर को जगाता तक न था)। इस प्रकार भेंट चढ़ौनिया लेकर बहुत सा धन जोड़ा था और नित्य नवीन प्रकार के भोग विलास करता था (२०)।

मूल—

एक दिना इक पाहुन आयो। भोजन सो बहु भांति बनायो।
ताहि परोसन को पितु मेरो। बोलि लियो हितु हो सब केरो॥२१॥

शब्दार्थ – हितु = मित्र। हो = था।

मूल—

ताहि तहाँ बहु भाँति परोसो। केहूँ कहूँ नख माहिं रहो ध्यो।
ताहि परोसि जहीं घर आयो। रोवन हौं हँसि कंठ लगायो॥२१॥

भावार्थ—उस मठधारी के यहाँ एक दिन एक मेहमान आया, उसके लिये उस पुजारी ने अनेक प्रकार के भोजन बनवाये, और परोसने के लिये मेरे

पिता को बुलवाया, क्योंकि मेरा पिता सबका मित्र था (सब से अच्छा व्योहार रखता था)—(२१)

उस पाहुने के लिये अनेक प्रकार के भोजन परोसे, अतः किसी प्रकार कहीं नाखून के भीतर कुछ घी लगा रह गया। उसको भोजन कराकर जब पिता जी घर आये तो मैं रो रहा था, पिता ने हँस कर मुझे गोद में उठाकर गले लगाया (२२)।

मूल—चामर छन्द—(लक्षण—क्रम से सात बार गुरु लघु और अंत में एक गुरु = १५ वर्ण)—

> **मोहिं मातु तात दूत भात भोज को दियो।**
> **बात सों सिराय तात छोर अंगुली छियो।**
> **ध्यौ द्रयो भष्यो गयो अनेक नकवान भो।**
> **हौं भ्रम्यों अनेक योनि औध आनि स्वान भो॥ २३ ॥**

शब्दार्थ—दूत = दूध। भोज = भोजन। बात = हवा। सिराय = ठंढा करके। छियो = छुआ। ध्यौ = घी। द्रयौ = द्रव रूप हो गया, पिघल गया। नर्कवान = नरकगामी, नरकभोगी। औध = (अवध) अयोध्या।

भावार्थ—(तदनन्तर) माता ने मुझे गरम-गरम दूध भात खाने को दिया। हवा ठंढा करके पिता ने उस दूध को अँगुली से छुआ। (अँगुली से नाखून के भीतर लगा हुआ) घी पिघल गया, और वह घी मुझसे खाया गया, (मैं उस घी को खा गया), उसके दोष से मैं अनेक नरकों का भोगी हुआ। इस प्रकार मैं अनेक योनियों में भ्रमता अब अयोध्या में आकर कुत्ता हुआ हूँ (मठधारियों का द्रव्य खाने से मेरी यह गति हुई तब स्वयं मठधारी की क्या दशा होती होगी, सो आप लोग स्वयं अनुमान कर लें)

मूल—(दोहा)—

> **वाको थोरो दोष मैं दीन्हो दंड अगाध।**
> **रामचराचर ईश तुम छमियो या अपराध॥ २४ ॥**

भावार्थ—(इस बात को समझते हुए) हे श्रीरामजी! आप चराचर के मालिक हैं, मेरा अपराध क्षमा करना, उस ब्राह्मण का थोड़ा सा दोष था पर मैंने उसे बड़ा घोर दंड दिलवाया है।

मूल—(दोहा)—

लोक कर्यो अपवित्र वहि लोक नरक को बास।
छिये जुकोऊ मठपतिहिं ताको पुन्य विनास ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—अपवित्र = कलंकित नापाक। 'वहि' शब्द देहरी, दीपकन्याय से दोनों ओर लगेगा।

भावार्थ—जो मठपति होता है, वह अपना यह लोक भी कलंकित करता है और उस लोक में जाकर नरकवास पाता है। वह इतना पापी माना जाता है कि जो कोई उसे छुवे उसका भी पुण्य नाश हो जाता है।

(नोट)—इसके प्रमाण में केशव ने संस्कृत ग्रन्थों से कई श्लोक दिये है। वे नीचे लिखे जाते है।

(रामायणे)—

ब्रह्मस्वं देवद्रव्यञ्च स्त्रीणाँ बालधनं च यत्।
दत्तं हरति यो मोहात्स पचेन्नरके ध्रुवम् ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मस्व = ब्राह्मण का धन। देवद्रव्य = देवता पर चढ़ाया हुआ धन। दत्तं = अपना ही दिया हुआ। मोहात् = मोह से। स = वह। पचेत् = जलता है। नरके = नरक में। ध्रुवम् = निश्चय ही।

भावार्थ—ब्राह्मण का, देवता का, स्त्री और बालक का, वा अपनाही दिया हुआ धन जो भूल से भी हरण करता है वह निश्चय ही नरक में जलता है।

स्कन्धपुराणे—

हरस्य चान्यदेवस्य केशवस्य विशेषतः।
मठपत्यञ्च यः कुर्य्यात्सर्वधर्मवहिष्कृतः ॥

भावार्थ—महादेव के अन्य देव के और विशेष कर विष्णु के मन्दिर का जो जन मठपति होता है, वह सर्व धर्म रहित हो जाता है।

पद्मपुराणे—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं द्रव्यमन्नं मठस्य च।
योऽश्नाति स पचेद्घोरान्नरकानेकविंशतिः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य किसी मठ का पत्र, पुष्प, फल, जल, द्रव्य और अन्न खाता है, वह महा भयानक २१ नरकों में जलता है।

देवीपुराणे—

अभोज्यं मठिनामन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।
स्पृष्ट्वा मठपतिं विप्रं सवासा जलमाविशेत्॥

भावार्थ—मठधारियों का अन्न अभोज्य है (न खाने योग्य), जो कोई खाय उसे चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। मठपति ब्राह्मण को छूकर सचैल स्नान करना चाहिये।

(नोट)—कुत्ते ने कहा था कि "गुण दोषन को जब होय न दर्शी। तब ही नृप होय निरैनदर्शी" (छंद२८) इस बात के प्रमाण में वह कुत्ता राजा सत्यकेतु की कथा सुनाता है।

(सत्यकेतु का आख्यान)

मूल—दोहा—

औरौ एक कथा कहौं, विकल भूप की राम।
वहौ अयोध्या वसत है, बंशकार के धाम॥ २६॥

शब्दार्थ—वंशकार = बँसकोर, बसोर डोम। विकल = कष्टभोगी (ऊपर कहे हुए राजधर्म से च्युत होकर जो कष्ट भोग रहा है अतः अति विकल है)।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—वसंततिलका छन्द।

राजा हुतो प्रबल दुष्ट अनेक* हारी।
बाराणसी विमल छेत्र निवासकारी॥
सो सत्यकेतु यहि नाम प्रसिद्ध सूरो।
विद्याविनोद रत धर्म विधान पूरो॥ २७॥

शब्दार्थ—दुष्ट अनेक हारी = अनेक दुष्टों को मारने वाला।

भावार्थ—पुण्यक्षेत्र बनारस का निवासी, अनेक दुष्टों को मारने वाला एक बड़ा बली राजा था। उसका नाम सत्यकेतु था, वह एक प्रसिद्ध शूर था। विद्याविनोद में रत रहता था और पूर्ण धार्मिक भी था।

---

* पाठान्तर—दुष्ट अनै प्रहारी = दुष्टों और अनै (अनय = अनीत) का नाश करने वाला। यह पाठ हमें अच्छा जँचता है।

मूल—

धर्माधिकार पर एक द्विजाति कीन्हो।
संकल्प द्रव्य बहुधा तेहि चोरि लीन्हो।
बन्दीविनोद गणिकादि विलास कर्ता।
पावैं दशांश द्विजदान, अशेषहर्त्ता ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—द्विजाति = ब्राह्मण। बंदीविनोदकर्त्ता = बंदीजनों की प्रशंसा से आनंदित होने वाला। अशेष = सब।

भावार्थ - उस सत्यकेतु राजा ने धर्मद्रव्य का अधिकारी (बाँटने वाला) एक ब्राह्मण को बना दिया। वह धर्मार्थ निकाले हुए द्रव्य में से अधिकतर चुरा लेता। बंदीजनों की प्रशंसा और गणिका-गमनादि विलासों में लगा रहता, धर्मार्थ द्रव्य का केवल दशांश ही ब्राह्मण पाते और सब धन वह खुद गबन कर जाता था।

मूल—

राजा विदेश बहु साजि चमू गयो हो।
जूझ्यौ तहाँ समर योधन सों भयो हो।
आये कराल यम दूत कलेश कारी।
लीन्हे गये नृपति को जहँ दंडधारी ॥२९॥

शब्दार्थ—चमू = सेना। हो = था। किल = निश्चय। दंडधारी = यमराज।

भावार्थ –(एक समय) वह राजा सेना सजाकर दिग्विजय के हेत विदेश को गया था, वहाँ योद्धाओं से युद्ध हुआ और वह समर में जूझ गया। तब कष्टदाता बड़े कराल यमदूत आये और उसे पकड़ कर यमराज के निकट ले गये।

मूल—भुजंगप्रयात छन्द—(लक्षण—४ यगण = १२ वर्ण)

(धर्म)—कहा भोगवैगो महाराज तू मैं।
कि पापै कि पुन्यै करह्यो भूरि भू मैं।
(राजा)—सुनो देव मोको कछू सुद्धि नाहीं।
कहौ आपही पाप जो मोहिं माहीं ॥३०॥
(धर्म)—कियो तैं द्विजाती जु धर्माधिकारी।
सुतौ नित्य संकल्प वित्तापहारी।

दियो दुष्ट रंडानि मुण्डानि लै लै।
महापाप माथे तिहारे सु दै दै ॥३१॥

शब्दार्थ—(३०) भोगवैगो = भोगेगा। (३१) संकल्प वित्तापहारी = संकल्प किये हुये दान द्रव्य को अपहरण करने वाला। रंडानि = रॉंड़ों को (व्यभिचारिणी विधवाओं को)। मुंडानि = मोंड़ियों को (दासी पुत्रियों को, बेड़िनों को)।

भावार्थ—(३०)—धर्मराज ने पूछा कि महाराज! पाप और पुन्य, जो पृथ्वी पर आपने बहुत से किये हैं, इन दोनों में से आप पहले किसका फल भोगना चाहते हैं। (राजा ने कहा) हे देव! मुझे तो इस बात की सुधि ही नहीं कि मैंने कभी पाप किया है। अतः कृपा करके आप ही बतलाइये कि मैंने क्या पाप किये हैं।

(३१)—धर्मराज ने कहा कि तूने जो ब्राह्मण को धर्माधिकारी बनाया था वह नित्य ही दान किये हुए धन को चुरा लेता था (सुपात्रों को नहीं देता था) काम वश हो वही द्रव्य लेकर अपने स्वार्थ साधन हेतु वह दुष्ट व्यभिचारिणी रॉंड़ों और दासी-पुत्रियों को देता था। इस प्रकार तुम्हारे माथे पर बहुत पाप लगता था।

मूल—

हुतो तैं सबै देश ही को नियंता।
भले की बुरे की करी तैं न चिंता।
महा सूक्ष्म है धर्म की बात देखो।
जितो दान दीनो तितो पाप लेखो ॥३२॥

शब्दार्थ—हुतो = था। नियंता = नियम पर चलानेवाला। सूक्ष्म = बारीक। बात = गति।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—दोहा =

काल सर्प से समुझिये सबै राज के कर्म।
ताहू तें अति कठिन है नृपति दान के धर्म ॥३३॥

शब्दार्थ - कसलर्प = वह साँप जिसके डसने से मृत्यु ही होतीहै, कोई बचता नहीं। धर्म = विधान।

भावार्थ - सरल ही है। (पूर्वार्द्ध में उपमालंकार है)।

मूल—भुजंगप्रयात छन्द।

भयो कोटिधा नर्क संपर्क ताको। हुते दोष संसर्ग के शुद्ध जाको।
सबैपापभे छीण, भो मुक्तलेखी। रह्योऔधमेंआनिह्वै कोलभेखी ॥३४॥

शब्दार्थ—संपर्क = संयोग। संसर्ग = लगाव, छुआव। शुद्ध = केवल। कोलभेखी = शूकर भेस से (सुअर देह से)।

भावार्थ—(वही कुत्ता कहता है कि हे रामजी देखो) उस सत्यकेतु राजा को केवल संसर्ग से दोष लगा था, (उसने स्वयं कोई पाप नहीं किया था) तिस पर भी उसे अनेक नरक भोगने पड़े। जब उसके पाप छीण हो चुके (पापों का अधिकाँश फल भोग चुका) और मुक्त होने का लेखा आ गया, तब इस समय वह अयोध्या में आकर डोम के घर शूकर देह में रहता है।

(सनाढ्य द्विज आगमन वर्णन)

मूल—तारक छन्द = (लक्षण—४ सगण + गुरु = १३ वर्ण)

तब बोलि उठो दरबार विलासी।
द्विज द्वार लसैं यमुना तट वासी॥
अति आदर सों ते सभा महँ बोल्यौ।
बहु पूजन कै मग को श्रम खोल्यो ॥३५॥

शब्दार्थ—दरबार = (दर = द्वार, बार = किनारा) दरवाजा की एक अलंग। दरबारविलासी = द्वारपाल। ते = तिसको, उसको। बोल्यो = बुलवाया खोल्यो = मुक्त किया।

भावार्थ—इतने ही में एक द्वारपाल ने सूचना दी कि द्वार पर यमुनातट-वासी (मथुरानिवासी) कई एक ब्राह्मण खड़े हैं (क्या आज्ञा होती है)। रामजी बड़े आदर से उनको सभा में बुलवाया और अनेक प्रकार से सब का आदर करके मार्ग की थकावट दूर की।

मूल–(राम)–रूपमाला छन्द (लक्षण—१४+१०=२४ मात्रा, अंत में गुरु लघु)

शुद्ध देश ये रावरे सों, भे सबै यहि बार।
ईश आगम संगमादिक, ही अनेक प्रकार॥
धाम पावन ह्वै गयो पद, पद्म को पयपाय।
जन्म शुद्ध भयो छुए कुल, दृष्टि ही मुनिराय॥३६॥

शब्दार्थ—देश=विविध स्थान (द्वार, सभा, आँगन, घर, दालान इत्यादि)। ईश=प्रभु। संगम=स्पर्श। पय=जल। कुल=परिवार।

भावार्थ—रामजी ने कहा कि हे महाराज! आपकी दया से आज हमारे ये सब स्थान शुद्ध हो गये, आपके आने से तथा आपके स्पर्श से अनेक प्रकार के लाभ हुए। आपका चरणोदक पाकर हमारा राजमहल पवित्र हो गया। आपके चरण छूने से हमारा जन्म सुफल हो गया और आपकी कृपा दृष्टि से हमारा परिवार शुद्ध हो गया।

मूल—

पादपद्म प्रणाम ही भये, शुद्ध शीरष हाथ।
शुद्ध लोचन रूप देखत, ही भये मुनिनाथ।
नासिका रसना विशुद्ध, भये सुगन्ध सुनाम।
कर्ण कीजिए शुद्ध शब्द, सुनाय पीयुष धाम॥३७॥

शब्दार्थ—शीरष=शीर्ष, सिर। रसना=जीभ। पीयुष=(पीयूष) अमृत।

भावार्थ—हे मुनिनाथ! आपके चरण कमलों को प्रणाम करने से हमारे मस्तक और हाथ पवित्र हुए, रूप देखकर नेत्र शुद्ध हुए. नासिका आपकी गंध सूँघ कर और जीभ आपका नाम लेकर शुद्ध हो गई। अब सुधासम वचन सुना कर कानों को भी शुद्ध कीजिए।

अलंकार—क्रम (तीसरे चरण में)।

मूल—दोधक छंद।

(राम)—आये कहा सोइ आयसु दीजै।
आज मनोरथ पूरण कीजै।

(द्विज)—जीवति सों सब राज तिहारी।
निर्भय ह्वै भुवलोक बिहारी ॥३८॥

शब्दार्थ—जीवति = जीविका। राज्य = राज्यनिवासी प्रजा।

भावार्थ—रामजी ब्राह्मणों से पूछते हैं कि आप कैसे आये (किस कार्य से आये) सो आज्ञा दीजिये, मैं आज ही आपका मनोरथ पूर्ण कर दूँ। तब वे ब्राह्मण कहते हैं कि महाराज! आपके राज्य के समस्त निवासी गण जीविका की ओर से निर्भय होकर समस्त संसार में बिचरते हैं (तात्पर्य यह कि किसी की जीविका पर कोई विघ्न नहीं, पर हमारी जीविका पर विघ्न है। देखिये छंद नं० ४२)।

मूल—(द्विज)—मरहट्टा छंद।

तुम हौ सब लायक, श्रीरघुनायक, उपमा दीजै काहि।
मुनि मानस रंता, जगत नियंता, आदिहु अन्त न जाहि।
मारौ लवणासुर जैसे मधु-मुर श्रीरघुनाथ।
जग जय रस भीनो, श्रीशिव दीन्हो, शूलहि लीन्हें हाथ ॥३६॥

शब्दार्थ—रंता = रत। नियन्ता = नियम से चलाने वाला। जगजयरस भीनो = जगत भर को जीतने की शक्ति रखने वाला।

भावार्थ—द्विजगण बोले कि हे रामजी आप सब लायक हैं, आपको किससे उपमित करें (कोई उपमा नहीं)। आप मुनियों के मन से अनुरक्त हो (मुनियों के मनों में रहते हो) जगत को नियम से चलाते हो, तुम्हारा आदि अंत नहीं (तुम विष्णु हो) अतः जैसे मुर और मधु नामक दैत्यों को मारा है वैसेही इस लवणासुर को भी मारिये हाथ में शिव का दिया हुआ जगत्-विजयी त्रिशूल है।

मूल—(दोहा)—
जापै मेलब शूल वह, सुनिये त्रिभुवनराय।
ताहि भस्म करि सर्वथा, वाही के कर जाय ॥४०॥

भावार्थ—(वह त्रिशूल कैसा है कि) हे त्रिभुवनपति राम! सुनिये, जिसपर वह त्रिशूल चलता है, उसे जलाकर वह त्रिशूल पुनः उसीके हाथ में पहुँच जाता है।

मूल—दोधक छन्द ।

देव सबै रण हारि गये जू । और जिते नरदेव भये जू ।
श्रीभृगुनन्दन युद्ध न माँड्यौ । श्रीशिव को गुनि सेवक छाँड्यौ ॥४१॥

शब्दार्थ—नरदेव = राजा । भये = भययुक्त हो गये हैं । युद्ध न माँड्यौ = युद्ध नहीं किया । गुनि = समझकर ।

भावार्थ—उस लवणासुर से सब देवता युद्ध करके हार गये हैं, और जितने राजा हैं वे सब उससे भयभीत हैं । परशुरामजी ने उसे शिव का सेवक समझ कर छोड़ दिया उससे युद्ध नहीं किया ।

मूल—(दोहा) —

पादारघ हमको दियो मथुरा मण्डल आप ।
वासों वसन न पावहीं बिना बसे अति पाप ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—पादारघ = (पाद्यार्घ में दी हुई भूमि) माफी । पाप = कष्ट ।

भावार्थ—मथुरामण्डल की भूमि आपने हमें पादारघ में दी है (माफी में दी है) सो वहाँ उसके मारे हम बसने नहीं पाते, बिना बसे हमको अति कष्ट है ।

मूल—(राम)— दोहा—

रक्षहिंगे शत्रुघ्न सुत, ऋषि तुमको सब काल ।
वासुदेव ह्वै रक्षिहों हँसि कह दीन दयाल ॥ ४३ ॥

भावार्थ—दीनदयाल रामजी ने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों से कहा कि हे ऋषिगण ! हमारे भतीजे (श्री शत्रुघ्नजी के पुत्र सुबाहु देखो प्रकाश ३६ छन्द नं० २७) सर्वदा तुम्हारी रक्षा करेंगे । मैं भी कृष्ण होकर तुम्हारी रक्षा करूँगा ।

(मथुरा माहात्म्य वर्णन)

मूल—भुजंगप्रयात छन्द ।

चलो बेगि शत्रुघ्नता को सँहारो । वहै देश तौ भावतो है हमारो ।
सदाशुद्ध वृन्दावनीभूभली है । तहाँ नित्यमेरीविहारस्थली है ॥४४॥

शब्दार्थ—इसके अनन्तर श्रीरामजी ने श्रीशत्रुघ्न को आज्ञा दी कि जाओ और उस असुर को मारो, वही देश तो हमको अति प्यारा है । वही देश सदा

शुद्ध है, जहां वृन्दा देवी की वाटिका और भली भूमि है, वहीं हमारे नित्य विहार का स्थान है।

मूल—यहै जानि भू मैं द्विजन्मानि दीनी।
बसै यत्र वृन्दा प्रिया प्रेम भीनी॥
सनाढ्यानि की भक्ति जो जीय जागै।
महादेव को शूल ताके न लागै॥ ४५॥

भावार्थ—यही समझकर मैंने वह भूमि ब्राह्मणों को दी है जहाँ हमारी प्रिया प्रेमभरी श्रीबृन्दा (तुलसी) जी बसती हैं। सनाढ्य ब्राह्मणों की भक्ति जिसके मन में जगैगी, शिव का त्रिशूल उसके नहीं लग सकता।

(लवणासुर-बध वर्णन)

मूल—भुजंगप्रयात छन्द।

बिदा ह्वै चले राम पै शत्रुहंता। चले साथ हाथी रथी युद्धरंता।
चतुर्धा चमू चारिहू ओर गाजैं। बजै दुन्दुभी दीह दिग्दंति लाजैं॥४६॥

शब्दार्थ—पै = से (ठेठ बुँदेलखंडी मुहावरा है)। शत्रुहंता = शत्रुघ्न। रंता = रत, अनुरक्त। चतुर्धा चमू = चतुरंगिनी सेना। दिग्दंति = दिग्गज।

भावार्थ—राम से बिदा होकर शत्रुघ्नजी चले और साथ में युद्धानुरागी हाथी और रथी भी चले। चारों ओर चतुरंगिनी सेना गरजती है, बड़े-बड़े नगाड़े बजते हैं जिनके शब्द से दिग्गज भी लजाते हैं।

अलङ्कार – संबंधातिशयोक्ति।

मूल – (दोहा)—

केशव वासर बारहें, रघुपति के सब बीर।
लवणासुर के यमहि जनु मेले यमुना तीर॥४७॥

भावार्थ – केशव कवि कहते हैं कि अयोध्या से चलकर रामजी की सेना के सब वीर बारहवें दिन यमुनातट पर जा उतरे, वे ऐसे जान पड़े मानो लवणासुर के यम ही हैं (भाव यह कि प्रत्येक लवणासुर के मारने में समर्थ था)।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल —मनोरमा छन्द। लक्षण —४ सगण+२ लघु=१४ वर्ण)

लवणासुर आइ गयो यमुनातट।
अवलोकि हँस्यो रघुनन्दन के भट।।
धनु बाण लिये निकसे रघुनन्दनु।
मद के गज को सुत केहरि को जनु ॥४८॥

भावार्थ —(उसी समय) लवणासुर भी यमुनातट पर आगया और शत्रुघ्न की सेना को देख कर हँसा। शत्रुघ्नजी तुरन्त धनुष बाण लिये हुए शिविर से निकले, मानों मस्त हाथी पर सिंहशावक झपटा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—(लवणासुर) भुजंगप्रयात छन्द।

सुन्यो तै नहीं जो यहाँ भूलि आयो।
बड़ो भाग मेरो बड़ो भक्ष पायो॥
(शत्रुघ्न)—महाराज श्रीराम हैं क्रुद्ध तोसों।
तजै देश को कै सजै युद्ध मोसों॥ ४९॥

भावार्थ—लवणासुर ने कहा कि क्या तूने मेरी वीरता का हाल नहीं सुना या भूल कर यहाँ आगया है। मेरा बड़ा भाग्य है, बहुत सा भोजन एकत्र मिल गया (अब तुम सबों को खा जाऊँगा)। शत्रुघ्न ने कहा कि श्रीरामजी तुझसे अप्रसन्न है, सो या तो इस देश को छोड़ दे या मुझसे युद्ध कर।

अलङ्कार—विकल्प।

मूल—(लवणासुर)

वहै राम राजा दशग्रीव हंता। सुतौ बन्धु मेरो सुरस्त्रीनरंता।
हतौं तोहि वाको करौं चित्तभायो। महादेवकोसौं बड़ोभक्षपायो॥५०।

शब्दार्थ—सुरस्त्रीनरंता=देवांगनाओं से भोग करने वाला। सौं=(सौंह) कसम, शपथ।

भावार्थ—लवणासुर ने कहा कि हाँ हाँ वही राम राजा जिसने देवांगनाओं के साथ भोग करनेवाले दशसिरवाले रावण को मारा है, वह रावण मेरा मित्र था, अतः अब मैं तुझे मारूँगा और उसकी मनभाई बात करूँगा। महादेवजी की सौगंध बड़ा अच्छा भोजन मिला है।

अलंकार प्रत्यनीक।

मूल

भये क्रुद्ध दोऊ दुऊ युद्धरंता।
दुऊ अस्त्र शस्त्र प्रयोगी निहंता॥
बली बिक्रमी धीर सोभा प्रकासी।
नस्यौ हर्ष द्वौ ईषु वर्षैं विनासी॥५१॥

शब्दार्थ—युद्धरंता=रणानुरागी। प्रयोगी=चलाने वाले। निहंता=काटनेवाले। ईषु=(सं० इषु) बाण।

भावार्थ—दोनों रणानुरागी योद्धा परस्पर क्रुद्ध हुए. दोनों अस्त्र शस्त्र चलाते भी हैं और शत्रु के चलाये हुए को काटते भी हैं। दोनों बाल हैं, बिक्रमी हैं, धीर हैं और बीरता की शोभा प्रकाशित करनेवाले हैं। दोनों ने दोनों का आनन्द नाश कर दिया, (साहस भंग कर दिया। क्योंकि दोनों योद्धा विनाशक बाण बरसाते हैं (तात्पर्य यह है कि दोनों ने दोनों को त्रस्त कर दिया है)।

अलंकार—अन्योन्य।

मूल—(शत्रुघ्न)—दोहा।

लवणासुर! शिवशूल बिनु और न लागै मोंहिं।
शूल लिये बिन भूल हू हौं न मारिहौं तोहि॥५२॥

भावार्थ—शत्रुघ्नजी ने पुकार कर कहा—हे लवणासुर! शिवप्रदत्त त्रिशूल के अलावा अन्य कोई भी अस्त्र शस्त्र मेरे न लगैगा) अतः तू त्रिशूल मेरे ऊपर छोड़) और मेरी प्रतिज्ञा है कि जब तक तू वह त्रिशूल हाथ में न लेगा तब तक मैं तुझे मारूँगा नहीं। (अर्थात् ज्योंही तू त्रिशूल ग्रहण करैगा त्योंही मैं तुझे मार डालूँगा)।

मूल (मोटनक छन्द)

लीन्हो लवणासुर शूल जहीं। मारयौ रघुनन्दन बाण तहीं।
काटयौ सिर शूल समेत गयो। शूली कर सुःख त्रिलोक भयो॥५३॥
बाजे दिवि दुन्दुभि दीह तबै।
आये सुर इन्द्र समेत सबै।

(देव) - कीन्हो बहु बिक्रम या रण में।
मांगौ *बरदान रुचै मन में ॥५४॥

भावार्थ—(५३) ज्योंही लवणासुर ने त्रिशूल लिया, त्योंही शत्रुघ्न ने बाण मारा और (वह त्रिशूल फेंकने न पाया कि) उसका सिर त्रिशूल समेत काट दिया। वह सिर महादेवजी के हाथ में जा गिरा और त्रिलोक वासियों को सुख हुआ।

(५४) - तब आकाश में बड़े-बड़े नगाड़े बजे और इन्द्र सहित सब देवता वहाँ आये और शत्रुघ्न से कहा कि इस रण में आपने बहुत बड़ा पराक्रम किया है, अतः जो रुचै वह वरदान माँग लो।

मूल—(शत्रुघ्न) प्रमाणिका छन्द—(लक्षण = ज + र + लघु + गुरु = ८ वर्ण)

सनाढ्य वृत्ति जो हरै। सदा समूल सो जरै।
अकाल मृत्यु सो मरै। अनेक नर्क सो परै ॥५५।

शब्दार्थ—वृत्ति = जीविका।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—

सनाढ्य जाति सर्वदा। यथा पुनीत नर्मदा।
भजैं सजैं ते संपदा। विरूद्ध ते असंपदा ॥५६॥

शब्दार्थ--भजैं = भक्ति करैं। सजैं = पावें। असंपदा = दारिद्र

भावार्थ--सरल ही है।

मूल—(दोहा)

मथुरा मंडल मधुपुरी केशव सुबस बसाय।
देखे तब शत्रुघ्न जू राम चन्द्र के पाय ॥५७॥

भावार्थ--सरल है।

(चौंतीसवाँ प्रकाश समाप्त)

पैंतीसवाँ प्रकाश

दोहा—पैंतीसवें प्रकाश में अश्वमेध किय राम।
मोहन लव शत्रुघ्न कृत ह्वै है संगर धाम॥

शब्दार्थ—मोहन लव शत्रुघ्न कृत=शत्रुघ्न के बाण से लव का मूर्छित होना। संगर धाम=रणभूमि।

मूल—(दोहा)—

विश्वामित्र वशिष्ट स्यों एक समय रघुनाथ।
आरंभ्यो केशव करन अश्वमेध की गाथ॥ १॥

शब्दार्थ—गाथ=(गाथा) वार्ता, सलाह, मंत्रणा।

भावार्थ—एक समय श्रीरामजी ने वसिष्ट सहित विश्वामित्र (तथा अन्य ऋषियों सहित) से अश्वमेध यज्ञ करने की मंत्रणा आरंभ की (सलाह पूछी)।

मूल—(राम) चामर छन्द

मैथिली समेत तौ अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दै अनेक यज्ञ मैं कियो।
सीय-त्याग पाप ते हिये सु हौं महा डरौं।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं॥ २॥

शब्दार्थ—अश्वमेध=किसी पाप के निवारणार्थ वा किसी उच्च पद की प्राप्ति के लिये जिस यज्ञ में घोड़े की बलि देकर विधान किया जाता है वह यज्ञ अश्वमेध यज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ को ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों द्विजातीय कर सकते हैं। राजसूय=यह यज्ञ केवल क्षत्रिय ही कर सकता है। यह एक प्रकार का शाही दर्बार है जो छोटे राजाओं पर अपना आतंक जमाने के लिये किया जाता है।

भावार्थ—श्रीरामजी ऋषियों से कहते हैं कि जानकी समेत (सपत्नीक) तो मैंने अनेक प्रकार के दान दिये हैं, राजसूयादि अनेक प्रकार के यज्ञ किये हैं। पर सीता त्यागने के पाप से मैं बहुत डर रहा हूँ, अतः आज्ञा हो तो उस पाप के निवारणार्थ जानकी के बिना ही (अपत्नीक) एक अश्वमेध यज्ञ और भी कर डालूँ। (पूछने का तात्पर्य यह है कि वह यज्ञ अपत्नीक हो सकता है वा नहीं)।

मूल—(कश्यप)—दोहा।

धर्म कर्म कछु कीजई सफल तरुणि के साथ।
ता बिन जो कछु कीजई, निष्फल सोई नाथ ॥३॥

शब्दार्थ—तरुणि = स्त्री. पत्नी। ता बिन = बिना उसके, अपत्नीक।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—तोटक छन्द

करिये युत भूषण रूपरयी। मिथिलेश सुता इक स्वर्णमयी।
ऋषिराज सबै ऋषि बोलि लिये। सुचिसों सब यज्ञ विधान किये ॥४॥

शब्दार्थ—रूपरयी = सुन्दर।

भावार्थ—(कश्यप ऋषि ने सलाह दी की) आभूषणों युक्त अति सुन्दर, सीता की, एक सोने की प्रतिमा बनवाइये (उसके साथ यज्ञ कर सकते हैं)। तब वशिष्ठ ने अन्य ऋषियों को बुलवाया और पवित्रता से यज्ञ का सब विधान कराना आरंभ किया।

मूल—

हयशालन ते हय छोरि लियो। शशि वर्ण सो केशव शोभरयो।
श्रुतिश्यामल एक विराजतु है। अलिस्यों सरसीरुह लाजतु हैं ॥५॥

शब्दार्थ—शशिवर्ण = सफेद। शोभरयो = सुन्दर। श्रुति = कान। श्यामल = काला। स्यों = सहित। सरसीरुह = सफेद कमल, पुंडरीक।

भावार्थ—अस्तबलों में एक घोड़ा मँगाया गया जो सफेद रंग का और बहुत सुन्दर था। उसका एक कान काला था जिससे भ्रमर संयुक्त पुंडरीक (श्वेत कमल) लज्जित होता था।

अलंकार—प्रतीप।

मूल—रूपमाला छंद।

पूजि रोचन स्वच्छ अच्छत पट्ट बाँधिय भाल।
भूषि, भूषण शत्रुदूषन छोंड़ियों तेहि काल।
संग लै चतुरंग सैनहि शत्रु हन्ता साथ।
भाँति भाँनिन मान तै पठये सु श्री रघुनाथ ॥६॥

शब्दार्थ—रोचन = रोरी (रोचन)। स्वच्छ = सफेद। अच्छत = चावल।

पट्ट = पट्टी, जिसमें अश्वमेध करने वाले का नाम लिखा रहता है (देखो छंद नं० १२, १३)। शत्रुदूशन = शत्रु को नाश करनेवाले श्रीरामजी। शत्रुहंता = शत्रुघ्नजी।

भावार्थ--उस घोड़े को रोरी और सफेद अक्षतों से पूज कर और मस्तक पर निज नामांकित पट्टी बाँध कर, भूषणों से सुसज्जित करके छोड़ दिया। उस की रक्षा के लिये रामजी ने चतुरंगिनी सेना समेत शत्रुघ्न जी को अनेक प्रकार से सम्मानित करके साथ भेजा।

मूल---जात है जित बाजि केशव जात हैं तित लोग।
बोलि विप्रन दान दीजत यत्र तत्र सभोग।
वेणु बीणा मृदंग बाजत दुंदुभी बहु भेव।
भाँति भाँतिन होत मंगल देव से नर देव ॥७॥

भावार्थ---जिधर वह घोड़ा जाता है (केशव कहते हैं कि) उधर ही सब सेना जाती है जहां वह सेना ठहरती है वहाँ यत्र-तत्र से ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन करा कर दान दिये जाते हैं। बेणु, वीणा, मृदंग और नगारे अनेक प्रकार के बजते हैं और सेना में अनेक प्रकार के मंगलसूचक कार्य होते हैं, उस सेना में जो राजे सम्मिलित हैं वे देवताओं के समान सुन्दर और प्रतापी हैं।

अलंकार---उपमा।

मूल -किरीट सवैया —(लक्षण —८ भगण = २४ वर्ण)
राघव को चतुरंग चमूचय को गनै केशव राज समाजिन।
सूर तुरंगन के उरझैं पग तुङ्ग पताकनि को पट साजिन।
टूटि परैं तिनतें मुकता धरणी उपमा बरणी कबिराजनि।
बिन्दु कियौं मुखफेनन के किधौं राजसिरी श्रवमंगल लाजनि ॥८॥

शब्दार्थ —चय = समूह। सूर = सूर्य। तुंग = ऊँचे। पटसाजनि = फरेरा। राजसिरी = राजश्री, राजलक्ष्मी (राजा की सौभाग्य लक्ष्मी)। श्रव = टपकाती है। मंगल लाजनि = मंगल सूचक लावा (भुने धान की खीलें)। लाजा = लावा।

भावार्थ —श्रीरामजी की चतुरंगिणी सेना में इतने राजागण सम्मिलित हैं कि उनकी समाजों को कौन गिन सकता है (असंख्य हैं), उनकी पताकाओं

के फरेरे इतने ऊँचे हैं कि सूर्य के पैर उनमें उरझते हैं। पैर अटकने से उन पताकाओं के मोतियों के गुच्छे टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं उसकी उपमा कविराजों ने वर्णन की, कि ये मोती हैं, या सूर्य के घोड़ों के मुखफेन के बिंदु हैं, या राजश्री (पयान समय में) मंगल सूचक लावा बरसाती हैं।

अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति और सन्देह।

मूल—मत्तगयंद सवैया (लक्षण ७ भगण दो गुरु २३ वर्ण)

राघव को चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानों प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकाश नऽमाई।
मेटि कै पंच प्रभूत किधौं बिधि रेणुमयी नव रीत चलाई।
दुःख निवेदन को भुव भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ॥९॥

शब्दार्थ—चपि = चाँपकर, कुचली जाने से। हुतासन = अग्नि। नऽमाई = नहीं अमाती (अटती नहीं)। पंच प्रभूत = पंचतत्व।

(नोट) - 'माई' शब्द में 'अ' का लोप है। कवि को ऐसा करने का अधिकार है शुद्ध शब्द 'अमाई' है।

भावार्थ—श्रीरामजी की चतुरंगिनी सेना के पैरों से कुचली जाने से भूमि से इतनी धूल उड़ी कि जल थल पर छा गई। मानों वह धूल श्रीरामजी के प्रताप रूपी अग्नि का धुआँ है जो (केशव कहते हैं कि) अंतरिक्ष में समा नहीं सकता (अंतरिक्ष के भी अधिक है) या ब्रह्मा ने पंचतत्वों को मिटाकर रेणुमय एक नवीन सृष्टि रची है, या भूमि भार का दुःख सुनाने के लिये स्वयं भूमि ही सुरलोक को जा रही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और संदेह।

मूल—(दंडक)—

नाद पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि सोखि जब भूरि भूरि थल नाथ की।
केशवदास आस पास ठौर ठौर राखि जन,
तिनकी सम्पति सब आपने ही हाथ की।
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की।

मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित के,
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥१०॥

शब्दार्थ—नाद = शोर। गाथ की = अपनी शोहरत फैला दी। तिनकी = तिन स्थानों को। उन्नत = सरकश। नत = दीन हीन। मुद्रित समुद्र सात = सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी। मुद्रा = मोहर छाप। मुद्रित कै = छाप लगा कर, सिक्का चला कर।

भावार्थ—समस्त पृथ्वी भर को शोर और धूल से भर कर, बनों को तोड़ और पहाड़ों को चूर्ण करके और अनेक स्थानों का जल तक सोखकर अपनी बड़ी प्रसिद्धि फैलाई। केशव कहते हैं कि चारों ओर स्थान-स्थान पर अपने जनों को आमिल मुकर्रर करके उन देशों की सब संपत्ति अपने अधिकार में कर ली। सरकश राजाओं को नम्र बनाकर और नम्र राजाओं को बड़ा राजा बनाकर शत्रुओं के राज्य अपने अतिमित्र राजाओं को सौंप दी। इस प्रकार सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी पर अपनी धाक बैठाकर और अपनी छाप का सिक्का चला कर रामजी की सेना सर्व दिशाओं को जीत आई (दिग्विजय प्राप्त कर ली)

अलंकार—उदात्त।

मूल—(दोहा)—

दिसि बिदिसिन अवगाहि कै, सुख ही केशवदास।
बालमीकि के आश्रमहिं गयो तुरग प्रकाश ॥११॥

शब्दार्थ—अवगाहि कै = मँझाय कै। सुखही = सहजही। प्रकाश = प्रत्यक्ष।

भावार्थ—सब दिशाओं में सहज ही घूम फिर कर वह घोड़ा प्रत्यक्ष श्री-वाल्मीकिजी के आश्रम में पहुँचा।

मूल—दोधक छन्द।

दूरिहि ते मुनि बालक धाये। पूजित बाजि विलोकन आये।
भाल को पट्ट जहीं लव बाँच्यो। बाँधि तुरंगम जयरस राच्यो ॥१२॥

भावार्थ—उस घोड़े को दूर ही से देख कर मुनियों के बालक उस यज्ञीय घोड़े को देखने के लिये दौड़े। भाल पर बँधा हुआ वह पत्र ज्योंही लव ने बाँचा, त्योंही (वीर रस के अंकुरित हो आने से) उस घोड़े को पकड़ कर बाँधा और घोड़ों के मालिक को जीतने की उमंग में लीन हो गये।

(उस भालपट्ट पर यह लिखा हुआ था) ।

मूल (श्लोक)

एकवीरा च कौशल्या तस्याः पुत्रो रघूद्वहः ।
तेन रामेण मुक्तोऽसौ वाजी गृह्णात्विमं बली ॥ १३ ॥

भावार्थ—वीरपत्नी कौशल्या के पुत्र रघुवंशी राजा राम ने यह घोड़ा अश्वमेध यज्ञ के लिये छोड़ा है, जो अपने को बली समझता हो वह इस घोड़े को पकड़े और युद्ध करे (नहीं तो अधीनता स्वीकार करे)।

मूल—दोधक छन्द ।

घोर चमू चहुँ ओर ते गाजी । कौनेहि रे यह बाँधियो बाजी ॥
बोलि उठे लव मैं यहि बाँध्यो । यों कहिकै धनुशायक साँध्यो ॥१४॥

भावार्थ—उसी समय बड़ी भयंकर सेना ने आकर चारों ओर से बालकों को घेर लिया और योद्धागण गरज-गरज कर पूछने लगे कि घोड़े को किसने बाँधा है ? तब लव ने कहा मैंने इसे बाँधा है और ऐसा कहके तुरन्त धनुष पर बाण संधान किया ।

मूल—

मारि भगाय दिये सिगरे यों । मन्मथ के शर ज्ञान घने ज्यों ।

नोट—यह आधा ही छन्द सब प्रतियों में मिलता है ।

भावार्थ—सब भटों को मार कर इस तरह भगा दिया जैसे काम के बाण सब प्रकार के ज्ञानों को भगा देते हैं ।

अलंकार—उदाहरण ।

मूल—धीर छन्द—(लक्षण—३ तगण + २ गुरु = ११ वर्ण)

योद्धा भगे बीर शत्रुघ्न आये ।
कोदंड लीन्हें महा रोष छाये ॥
ठाढ़ो तहां एक बालै बिलोक्यो ।
रोक्यो तहीं जोर नाराच मोक्यो ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—रोक्यो......मोक्यो = बड़ा जोरदार बाण छोड़ने ही को थे कि बालक देख कर रोक लिया ।

भावार्थ—जब सब योद्धा भागे तब शत्रुघ्न आये, धनुष लिये हुये और

अति क्रुद्ध रूप शत्रुघ्न जी उसी स्थान पर आ पहुँचे। वहाँ एक बालक को खड़ा देखा, तो जो कठिन बाण छोड़ने वाले थे उसे रोक लिया (और बालक से कहने लगे)

मूल—मोदक छन्द।

(शत्रुघ्न)—बालक छाँड़ि दे छाँड़ि तुरंगम।
तोसों कहा करौं संगर संगम।
ऊपर वीर हिये करुणा रस।
वीरहिं विप्र हते न कहूँ जस॥ १६॥

शब्दार्थ—तुरंगम = घोड़ा। संगर संगम = युद्ध में भिड़ना।

भावार्थ—(शत्रुघ्न जी लव से कहते हैं) हे बालक घोड़े को छोड़ दे, तुमसे मैं युद्ध में क्या भिड़ूँगा (तू बालक है)। तेरा ऊपरी भेस तो जरूर वीर का सा है, पर तुझे देख कर मेरे हृदय में करुणा आ गई है, क्योंकि सच्चे वीर को ब्रह्मचारी बालक के मारने से कहीं यश नहीं मिलता।

मूल—(लव)—तारक छन्द।

कछु बात बड़ी न कहौ मुख थोरे।
लव सों न जुरो लवणासुर भोरे॥
द्विज दोषन ही बल ताहि सँहारयो।
मरही जु रहो सु कहा तुम मारयो॥ १७॥

शब्दार्थ—थोरे = छोटे। जुरो = युद्ध में भिड़ो। भोरे = धोखे में।

भावार्थ—(लवजी शत्रुघ्न से कहते हैं) छोटे मुख बड़ी बातें न करो, लवणासुर के धोखे न रहो, लव से मत भिड़ो। वह ब्रह्मदोषी था (पापी था) इसी से तुम उसे मार सके, वह तो मुरदा ही था, उसे मार कर तुमने कौन सी बहादुरी की है।

मूल—चामर छन्द।

रामबन्धु बाण तीनि छोड़ियो त्रिशूल से।
भाल में विशाल ताहि लालियो ते फूल से॥
(लव)—घात कीन्ह राज तात गात तै कि पूजिये।
कौन शत्रु तू हत्यो जु नाम शत्रुहा लियो॥ १८॥

शब्दार्थ—राजतात = राजा का भाई, राजबन्धु ।

भावार्थ—तब शत्रुघ्न ने त्रिशूल समान तीखे तीन बाण छोड़े । वे बाण लवजी के विशाल गात में फूल से लगे । तब लव बोले कि हे राजबन्धु ! तूने मुझे मारा है या मेरे शरीर का पूजन किया है । तूने किस शत्रु को मारा है, जिसके कारण शत्रुघ्न नाम रखाया है ।

अलंकार—उपमा, विकल्प और विधि ।

मूल— निशिपालिका छन्द ।

रोष करि बाण बहु भाँति लव छंडियो ।
एक ध्वज, सूत युग, तीन रथ खंडियो ॥
शस्त्र दशरत्थसुत अस्त्र कर जो धरै ।
ताहि सियपुत्र तिल तूलसम खंडरै ॥ १९॥

शब्दार्थ—तूलसम—(समतुल्य) समान । खंडरे = खंडित कर देता है, काटता है ।

नोट—इस शब्द का प्रयोग तुलसीदासजी ने भी इसी अर्थ में किया है, परन्तु उन्होंने 'समतूल' रूप रखा है । यथा:—

दोहा—यहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल ॥

भावार्थ - लव ने बहुत प्रकार के बाण क्रुद्ध हो कर छोड़े । एक बाण से ध्वजा, दो बाणों से सारथी, तीन बाणों से रथ का खंडन कर डाला । शत्रुघ्नजी जो अस्त्र शस्त्र लेते हैं उसे लव काट कर तिल समान कर डालते हैं ।

अलङ्कार—उपमा ।

मूल—तारक छन्द ।

रिपुहा तब बाण वहै कर लीन्हो ।
लवणासुर को रघुनन्दन दीन्हो ।
लव के उर में उरभ्यो वह पत्री ।
मुरझाय गिरयौ धरणी महँ छत्री ॥ २० ॥

शब्दार्थ—रिपुहा = शत्रुघ्न । पत्री = बाण ।

भावार्थ—शत्रुघ्नजी ने तब वही बाण वाला जो रामजी ने लवणासुर के

मारने के लिये दिया था। वह बाण लव के हृदय में धँस गया, तब वह क्षत्री वीर बालक मुरझा कर पृथ्वी पर गिर गया।

मूल—मोटनक छन्द—

मोहे लव भूमि परे जबहीं। जै दुंदुभि बाजि उठे तबहीं।
भू ते रथ ऊपर आनि धरे। शत्रुघ्न सु यों करुणाहि भरे॥२१॥

भावार्थ—जब लव मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गये, तब विजय के नगाड़े बज उठे। शत्रुघ्न जी को उस बालक पर दया आई और उन्होंने बच्चे को भूमि से उठा कर रथ पर रख लिया।

मूल—

घोड़ों तबही तिन छोरि लयो। शत्रुघ्नहि आनंद चित्त भयो!
लैकै लव को ते चले जबहीं। सीता पहँ बाल गये तबहीं॥२७॥

शब्दार्थ—बाल = मुनियों के अन्य बालक जो लव के साथ में थे।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(बालक) झूलना छन्द (७+७+७+५ = २६ मात्रा)

सुनु मैथिली नृप एक को लव बाँधियो वर बाजि।
चतुरंग सेन भगाइ कै सब जीतियो वह आजि।
उर लागि गो शर एक को भुव मैं गिरो मुरझाय।
तब बाजि लै लव लै चल्यो नृप दुंदुभीन बजाय॥ २१ ॥

शब्दार्थ—आजि = युद्ध।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—(दोहा)—

सीता गीता पुत्र की सुनि कै भई अचेत।
मनो चित्र की पुत्रिका मन क्रम वचन समेत॥ २४ ॥

शब्दार्थ—गीता = कथा, गाथा।

भावार्थ—सीताजी अपने पुत्र की करतूत की गाथा सुन कर (रण की रिपोर्ट सुन कर) अचेत हो गईं, मन वचन कर्म से ऐसी थकित हो गईं मानो चित्र की पुतली हो (कुछ कहते वा करते न बन पड़ा, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गईं)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—झूलना छन्द ।

रिपुहाथ श्रीरघुनाथ को सुतक्यों परै करतार ।
पतिदेवता सब काल तौ लव जी उठै यहि बार ।
ऋषि हैं नहीं कुश है नहीं लव लेइ कौन छँड़ाय ।
बन माँझ टेर सुनी जहीं कुश आइयो अकुलाय ॥२५॥

शब्दार्थ—पतिदेवता = पतिव्रता ।

भावार्थ—सीता जी कहती हैं कि हे विधि, आश्चर्य है, रामजी का पुत्र शत्रु के हाथों से कैसे मारा जा सकता है । यदि मैं सदा पतिव्रता हूँ तो इस वक्त लव पुनर्जीवित हो जाय । ऋषि महाराज और कुश इस समय आश्रम में नहीं हैं, लव को कौन छोड़ा लावे (इस प्रकार विलाप करने लगीं) वन में जब सीता के विलाप का शब्द कुश ने सुना, तब व्याकुल होकर आश्रम में आये ।

मूल—(कुश)—दोहा—

रिपुहि मार संहारि दल यमतें लेहुँ छँड़ाय ।
लवहि मिलैहौं देखिहौं माता तेरे पाय ॥२६॥

भावार्थ—शत्रु को मार कर उसके दल को विनष्ट करके, यमराज से भी मैं लव को छुड़ा लूँगा । लव को लाकर तुमसे मिलाऊँगा, हे माता ! तभी तुम्हारे चरण देखूँगा (अन्यथा मुँह न दिखाऊँगा) ।

अलंकार—प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति ।

मूल—मत्तगयंद सवैया ।

गाहियो सिंधु सरोवर सो जेहि बालि बली बरसो बर पेर्‌यो ।
ढाहि दिये सिर रावन के गिरि से गुरु जात न जातन हेर्‌यो ॥
शाल समूह उखारि लिये लवणासुर पीछे ते आय सो टेर्‌यो ।
राघव को दल मत्त करीश्वर अंकुश दै कुश केशव फेर्‌यो ॥ २७॥

शब्दार्थ—गाहियो = मथ डाला । बर = वटवृक्ष । बर = ज़बरदस्ती बलपूर्वक । पेर्‌यो = पेल दिया, ढकेल दिया । गरु = भारी । जा तन = जिसकी ओर । शाल = सखुआ का वृक्ष । करीश्वर = बड़ा हाथी । फेर्‌यो = लौटाया ।

(नोट)—इस छंद में राम के दल की उपमा हाथी से दी गई है जो काम हाथी करता है वे इसमें दिखाये गये हैं ।

भावार्थ—रामजी का दल (जो शत्रुघ्न के साथ था) एक मस्त बड़ा हाथी है, जिसे कुश ने पीछे से टेर (हाँक) रूपी अंकुश मार कर लौटाया। (कैसा हाथी रूपी दल है कि) जिसने समुद्र को वैसे ही मँझा डाला जैसे हाथी तड़ाग को मथ डालता है, जिसने बली बालि को बलपूर्वक उसी प्रकार पेर डाला जैसे हाथी वृक्ष को ढकेलकर गिरा देता है जिसने रावण के भारी सिरों का (जिसकी ओर देखा नहीं जाता था) उसी तरह ढहा दिया जैसे हाथी पर्वत की टोरी को गिरा देता है। और जिसने लवणासुर को वैसे ही समूल नष्ट कर डाला जैसे हाथी शाल वृक्ष को उखाड़ डालता है। ऐसे मस्त हाथी रूपी राम दल को कुश ने पीछे से ललकार कर लौटाया।

अलंकार—उपमा और रूपक की संसृष्टि।

मूल—(दोहा)—

कुश की टेर सुनी जही, फूलि फिरे शत्रुघ्न।
दीप विलोकि पतंग ज्यों, यदपि भयो बहु बिघ्न॥ २८॥

भावार्थ—ज्योंहि कुश की हाँक सुनी त्योंहि अनेक विघ्न होने पर भी बड़े हर्ष से शत्रुघ्न जी लौटे, दिया देख कर पतंगे उसकी ओर दौड़ते हैं।

अलंकार—उदाहरण।

मूल—मनोरमा छन्द—(लक्षण ४ सगण + २ लघु = १४ वर्ण)

रघुनन्दन को अवलोकत ही कुश।
उर मांझ हयो शर सुद्ध निरंकुश।
ते गिरे रथ ऊपर लागत ही शर।
गिरि ऊपर ज्यों गजराज कलेवर॥ २९॥

शब्दार्थ—रघुनन्दन = शत्रुघ्न। हयो = हत्यो, मारा। निरंकुश = बिना गांसी का। कलेवर = देह।

भावार्थ—कुश ने शत्रुघ्न को देखते ही बिना गाँसी को एक तीर उनकी छाती में मारा। वे तीर लगते ही रथ के ऊपर मूर्च्छित होकर गिर गये, जैसे पहाड़ पर हाथी का शरीर गिर जाय।

अलङ्कार—उदाहरण।

मूल—मोदक छन्द।

जूझि गिरे जबही अरिहा रन। भाजि गये तबही भट के गन।
काढ़ि लियो जबही लव को शर। कंठ लग्यो तबही उठि सोदर ॥३०॥

शब्दार्थ—अरिहा = शत्रुघ्न। सोदर = सहोदर भाई।

भावार्थ—जब रण भूमि में शत्रुघ्न जी घायल होकर गिर गये, तब सब योद्धा रणभूमि छोड़कर भाग गये। जब कुश ने लव के शरीर से बाण निकाला, तब तुरंत भाई (लव) उठ कर भाई (कुश) के गले लगा।

मूल—(दोहा)—

मिले जु कुश लव कुशल सों, बाजि बाँधि तरुमूल।
रणमहिं ठाढ़े शोभिजैं, पशुपति गणपति तूल ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—तरुमूल = पेड़ की जड़। शोभिजैं = शोभते हैं। पशुपति = शिव। तूल = सम।

भावार्थ—सरल ही है।

अलङ्कार—उपमा।

(पैंतीसवाँ प्रकाश समाप्त)

छत्तीसवाँ प्रकाश

(दोहा)—छत्तीसयें प्रकाश में लक्ष्मण मोहन जान।
आयसु लहि श्रीराम को आगम भरत बखान ॥

मूल—रूपमाला छन्द।

यज्ञ मंडप में हुते रघुनाथ जू तेहिकाल।
चर्म अंग कुरंग को सुभ स्वर्ण की संग बाल ॥
आस पास ऋषीश शोभित सूर सोदर साथ।
आय भग्गुल लोग वरणी युद्ध की सब गाथ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कुरंग = मृग। भग्गुल = जो पुरुष रणभूमि से भाग आये थे।

भावार्थ—सरल है।

मूल—(भग्गुल)—स्वागता छन्द।

बालमीकि थल बाजि गयो जू। विप्र बालकन घेरि लयो जू।

एक बाँचि पटु घोटक बाँध्यो। दीरि दीह धनु सायक सांध्यो ॥२॥

शब्दार्थ—पट = विज्ञापनपट जो घोड़े के मस्तक पर बँधा था (देखो प्रकाश ३५ छन्द नं० ६, १०, १२)। घोटक = घोड़ा। साँध्यो = संधान किया।

भावार्थ—सरल है।

मूल—

भाँति भाँति सब सैन संहारयौ। आपु हाथ जनु ईश सँवारयौ।
अस्त्र शस्त्र तब बंधु जु धारयौ। खंडखंडकरि ताकहँ डारयौ ॥३॥

शब्दार्थ—आपुहाथ...सँवारयो = वह बालक ऐसा सुन्दर है मानो ब्रह्मा ने उसे अपने हाथों से बनाया है।

भावार्थ—सरल ही है।

अलङ्कार—(दूसरे चरण में) अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

मूल—

रोष वेष वह बाण लयौ जू। इन्द्रजीत लगि आपु दयो जू।
काल रूप उरमाहिं हयो जू। बीर मूर्छित तब भूमि भयो जू ॥४॥

शब्दार्थ—रोष बेष = अति क्रुद्ध होकर। इन्द्रजीत = लवणासुर (देखो प्रकाश ३४ छन्द नं० ४१)। लगि = वास्ते। भूमि भयो = गिर गया।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—तोमर छन्द।

वहि बीर लै अरु बाजि। जबहीं चले दल साजि।
तब और बालक आनि। मग रोकियो तजि कानि ॥५॥

भावार्थ—उस बीर बालक को और घोड़े के लेकर जब शत्रुघ्न जी दल सहित चले तब एक और बालक ने आकर मर्यादा न मान कर रास्ता रोका।

मूल—

तेइ मारियो तुव बन्धु। दल ह्वै गयो सब अंधु।
वह बाजि लै अरु बीर। रण में रह्यौ रुपि धीर ॥ ६ ॥

भावार्थ—उस बालक ने आपके भाई शत्रुघ्न के मार गिराया, और उसके बाणों से सारा दल अन्धा सा हो गया (अर्थात् उसने धूम बाण छोड़कर ऐसा अँधेर कर दिया कि किसी को कुछ सूझता न था)। तब उस बालक ने घोड़े

को और अपने भाई को छीन लिया और रणभूमि में धीरता पूर्वक डटा हुआ है।

मूल—दोहा—

बुधि बल बिक्रम रूप गुण शील तुम्हारे राम।
काकपक्ष धर बाल द्वै जीते सब संग्राम ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—विक्रम = उद्योग में तत्परता। शील = स्वभाव। तुम्हारे = आप का सा काकपक्ष = जुल्फें काकुल्लें चुल्लें।

भावार्थ—(भग्गुल कहते हैं,) हे रामजी! दो जुल्फधारी बालकों ने जो बुद्धि, बल विक्रम, रूप, गुण और स्वभाव में तुम्हारे ही समान हैं, सब को संग्राम में जीत लिया है। (काकपक्षधर कहने का भाव यह है कि वे बालक अभी बहुत ही छोटी अवस्था के हैं)।

मूल—(राम)—चतुष्पदी छन्द वा चौपैया।

गुण गण प्रतिपालक, रिपुकुल घालक बालक ते रणरंता।
दशरथ नृप को सुत मेरो सोदर लवणासुर को हंता।
कोऊ द्वै मुनि सुत काकपक्ष युत सुनियत हैं तिन मारे;
यहि जगत जाल के करम काल के कुटिल भयानक भारे ॥८॥

शब्दार्थ—बालक ते रणरंता = बालपन ही से जो युद्ध में रत रहा है, अर्थात्, जो युद्ध करने में खूब अभ्यस्त है करम = काम। (घटना)।

भावार्थ—(रामजी आश्चर्य से कहते हैं कि) शत्रुघ्न तो बड़ा गुणी था, शत्रुओं को मारनेवाला, बालपन ही से युद्ध का अभ्यस्त, दशरथ का पुत्र, मेरा भाई, लवणासुर का मारने वाला था (अर्थात् बड़ा अजेय वीर था) आज यह क्या सुनते हैं कि उस विकट भट को, केवल छोटे से दो मुनि बालकों ने मार लिया (परास्त किया)। हाँ ठीक है! इस संसार के और काल (समय) के काम बड़े ही टेढ़े और भयंकर हुआ करते हैं (अर्थात् इस संसार में समय के फेर से अघट घटना भी हो सकती है)।

अलंकार—अनुपलब्धि प्रमाण।

मूल—मरहट्टा छन्द—(लक्षण—चवपैया छन्द में अंत में एक मात्रा कम कर देने से)।

लक्ष्मण शुभ लक्षण बुद्धि विचक्षण, लेहु बाजि को शोधु।
मुनि शिशु जनि मारेहु, बंधु उधारेहु, क्रोध न, करेहु प्रबोधु॥
बहु सहित दक्षिणा, दै प्रदक्षिणा, चल्यौ परम रण धीर।
देख्यो मुनि बालक, सोदर, उपज्यो करुणा अद्भुत बीर॥ ९॥

भावार्थ—रामजी ने लक्ष्मण से कहा कि हे शुभलक्षण और बुद्धिमान् लक्ष्मण! देखो तुम घोड़े की खबर लो मुनि बालकों को मारना मत, अपने भाई को छोड़ाना, क्रोध से काम न लेना, वरन् समझदारी से काम लेना। (यह आज्ञा सुन कर) परम रणधीर लक्ष्मणजी, दान देकर और रामजी को प्रदक्षिणा देकर चले। जाकर मुनि बालकों को देखा तो उनकी छोटी उमर देखकर करुणा आई और जब भाई को देखा तो आश्चर्य हुआ (कि इतने विकट बीर को बालकों ने मूर्छित कर दिया), तदनन्तर अपना कर्त्तव्य समझ कर बीररस का उदय हुआ कि इन बालकों को परास्त करना चाहिये।

(नोट)—इस प्रकार तीन रसों का सम्मेलन वर्णन करना केशव ही का काम है।

अलंकार यथासंख्य।

मूल (कुश)—दोधक छन्द।

लक्ष्मण को दल दीरघ देखौ। कालहु ते अति भीम विशेखौ।
दो में कहौसौ कहा लव कीजै। आयुध लैहौ कि घोटक दीजै॥१०॥

शब्दार्थ—आयुध लेना = युद्ध करना। घोटक = घोड़ा।

भावार्थ—कुशजी लव से कहते हैं कि देखो लक्ष्मण की बड़ी सेना आ गई, यह दल तो काल से भी अति भयानक है। अतः अब कहो दो में से क्या करना चाहिये, युद्ध करोगे या घोड़ा दोगे। (और अधीनता स्वीकार करोगे)।

अलंकार—विकल्प।

मूल—(लव)—

बूझत हौ तौ यहै मतु कीजै। मो असु दे बरु अश्व न दीजै।
लक्ष्मण को दल सिन्धु निहारो। ताकहँ बाण अगस्त तिहारो॥११॥

शब्दार्थ—असु = प्राण। मतु = मत, राय, सलाह।

भावार्थ—लवजी ने उत्तर दिया कि हे प्रभु, यदि मुझसे पूछते हो तो

मेरी तो यह सम्मति है कि चाहे मेरे प्राण चले जाँय पर घोड़ा न देना चाहिये। लक्ष्मण के सिंधुरूपी दल के (सोचने के) लिये तुम्हारा बाण अगस्तरूप है। अर्थात् जैसे अगस्त ने समुद्र सोख लिया था वैसे ही तुम्हारा बाण इस बड़े दल को संहार कर सकता है। मुझे ऐसे विश्वास है।

अलंकार—परंपरित रूपक।

मूल—

एक यहै घटि है अरि घेरे। नाहिन हाथ सरासन मेरे।
नेकु जहींदुचितोंचितकीन्हो। सूर तहीं इषुधी धनु दीन्हो॥१२॥

भावार्थ—दुचितो कीन्हों = युद्ध की तदबीर भी सोचते थे और सूर्य की स्तुति भी करते जाते थे (जैमिनि कृत रामाश्वमेध में यह प्रसंग विस्तार से लिखा है) इषुधी = तर्कश, तूणीर।

भावार्थ—(लव कहते हैं कि) शत्रु के घेरे में पड़े हुए हम लोगों के केवल एक यही कमी है कि मेरे पास धनुष नहीं है। यह विचारते हुए भी ज्योंही चित्त को दूसरी ओर लगाया (सूर्य देव को स्मरण किया) त्योंही तुरंत सूर्य ने एक अक्षय तर्कश और धनुष दिया।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति।

मूल—

लै धनु बाण बली तब धायो। पल्लव ज्यों दल मार उड़ायो।
यों दुउ सोदर सैन सँहारैं। ज्यों बन पावक पौन विहारैं॥१३॥

भावार्थ—धनुषबाण पाते ही बली लवजी दौड़ कर सेना के सम्मुख डट गये, और उस सेना को पत्तों की तरह उड़ाने लगे (भगाने लगे) दोनों भाई सेना को इस प्रकार विनष्ट कर रहे हैं जैसे वन में अग्नि और पवन विहार कर रहे हों—जैसे अग्नि और पवन वन के पत्तों को नाश कर देते हैं वैसे ही दोनों भाई लक्ष्मण की सेना को जलाते और भगाते हैं।

अलङ्कार—पुनरुक्तिवदाभास (पल्लव और दल में) और उत्तरार्द्ध में उदाहरण।

मूल—

भागत हैं भट यौं लव आगे। राम के नाम ते ज्यों अघ भागे।
युथ्थपयूथ यौं मारि भगायो। बात बड़ी जनु मेघ उड़ायो ॥१४॥

भावार्थ—लव के सन्मुख से योद्धागण ऐसे भागते हैं जैसे रामनाम से पाप भागते हैं। बड़े-बड़े यूथपतियों के समूहों को लव ने यों भगा दिया मानो बड़ी हवा ने (आँधी ने) मेघों को उड़ा दिया हो।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

(नोट)—इस छंद के पूर्वार्द्ध का एक और भी अर्थ है :—

भा=प्रभा, शोभा। भागे=भा, प्रभा; गे, गै=गई, गत।

जैसे राम नाम के प्रभाव से पाप गत-प्रभा (मलीन, नष्ट-वीर्य) होते हैं, वैसे ही लव के आगे भी बड़े-बड़े भट (लक्ष्मण दल के) गतभा (गतप्रभा) शोभाहीन नष्टपौरुष हैं। अर्थात् लव का मुकाबला नहीं कर सकते।

मूल—दुर्मिल सवैया—(लक्षण ८—सगण=२४ वर्ण)।

अति रोष रसे कुश केशव श्रीरघुनायक सों रण रीत रचैं।
तेहि बारन बार भई बहु बारन खर्ग हने, न गिनैं चिरचैं॥
तहँ कुंभ फटैं गजमोति कटैं ते चले बहि श्रोणित रोचि रचैं।
परि पूरन पूर पनारन ते जनु पीक कपूरन की किरचैं ॥१५॥

शब्दार्थ—रोष रसे=क्रोधयुक्त होकर। रघुनायक=लक्ष्मणजी। तेहिबार=उस समय। बारन=हाथी। चिरचैं=चिड़चिड़ाते हैं, क्रुद्ध होते हैं, बिरझाते हैं। कुंभ=गजकुंभ। श्रोणित रोचिरचें=खून के रंग से रँगे हैं। परिपूरन=पूरी। पूर=धारा। पनारा=अटारी पर से वर्षा के पानी को दूर फेंकनेवाला सारौंहा। पीक=पान की पीक। किरचें=टुकड़े।

भावार्थ—केशव कहते हैं कि अति क्रुद्ध होकर कुशजी श्रीलक्ष्मणज की सेना से लड़ने लगे, उस समय ज़रा भी देर न हुई कि बहुत से हाथियों को तलवार से काट गिराया, क्योंकि जब वे बिरझाते हैं तब किसी को कुछ भ नहीं गिनते। उस रणभूमि में गजकुंभ फटते हैं और गजमुक्ता कटते हैं। औ वे खून में रंगे हुए बह चलते हैं, तो वे ऐसे मालूम होते हैं मानो पनारों परी पीकधारा बह रही है जिसमें कपूर के टुकड़े मिले हुए हैं।

अलंकार—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा । अनुप्रासों की बड़ी ही मनोहर छटा है।

मूल—नराच छन्द (लक्षण—क्रम से ८ बार लघु गुरु = १६ वर्ण)

भगे चये चमू चमूप छोंड़ि छोंड़ि लक्ष्मणै।
भगे रथी महारथी गयद वृन्द को गणै।
कुशै लवै निरंकुशै बिलोकि बन्धु राम को।
उठ्यौ रिसाय कै बली बँध्यो जु लाज दाम को॥ १६॥

शब्दार्थ—चये=(चय) समूह झुंड के झुंड । चमू=सेना । चमूप=सेनानायक । रथी=एक हजार लड़ाकों से अकेला लड़नेवाला योद्धा । महारथी=ग्यारह हजार योद्धाओं से अकेला लड़नेवाला योद्धा । कुशै, लवै=कुश को और लव को । निरंकुशे=बिना रोक के । राम को बंध=लक्ष्मणजी । दाम=रस्सी ।

भावाथ—कुश लव का विकट पराक्रम देखकर सेनानायकों के झुंड के झुंड लक्ष्मण को छोड़कर भाग चले। रथी, महारथी और बेशुमार हाथीसवार भाग चले। कुश और लव को न रुकता हुआ देखकर बली लक्ष्मणजी जो अब तक लज्जा रूपी रस्सी से बँधे हुए थे (बालक विचार कर उन पर वार न करते थे) क्रुद्ध हो उठे, और उनके सामने आये।

अलंकार—रूपक (लाज दाम में)।

मूल—(कुश)—मौक्तिकदाम छन्द (लक्षण—४ जगण=१२ वर्ण)

नहौं मकराक्ष नहौं इन्द्रजीत। विलोकि तुम्हैं रण होहुँ न भीत।
सदा तुम लक्ष्मण उत्तम गाथ। करौजनिआपनिमातु अनाथ॥ १७॥

भावार्थ—कुशजी कहते हैं कि हे लक्ष्मण! न तो मैं मकराक्ष हूँ, न मेघनाथ हूँ (अर्थात् मुझे मकराक्ष वा मेघनाथ न समझना), मैं रण में तुम्हें देखकर डर न जाऊँगा। हे लक्ष्मण अब तक तुम सदैव यशी रहे हो पर अब मुझसे भिड़कर अपनी माता को अनाथ मत बनाओ (मैं तुम्हें मारूँगा और तुम्हारी माता अनाथ हो जायगी)।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा (कार्यनिबंधना)।

मूल—(लक्ष्मण)—

कहौं कुश जो कहि आवत बात । विलोकत हौं उपवीतहिं गात ।
इत पर बाल बहिक्रम जानि । हिये करुणा उपजै अति आनि ॥१८॥

शब्दार्थ—उपवीत = जनेऊ (ब्रह्मचारी का चिह्न—क्योंकि ब्रह्मचारी अवध्य है) । बालवहिक्रम = (बाल वयक्रम) बाल्यावस्था ।

भावार्थ—लक्ष्मणजी कहते हैं कि अच्छा कुश ! जो तुम कह सकते हो कह लो, मैं सब क्षमा करूँगा, क्योंकि तुम्हारे शरीर पर ब्रह्मचारी का चिन्ह जनेऊ देखता हूँ. और अलावा जनेऊ के तुझे बालक जानकर मेरे हृदय में अति करुणा पैदा होती है (बालकों को वीर-जन नहीं मारते) नहीं तो अभी मार डालता ।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा (कारण निबंधना) ।

मूल —

विलोचन लोचत है लखितोहिं । तजौ हठ आनि भजौ किन मोहिं ।
क्षम्यों अपराध अजौं घर जाहु । हिये उपजाउ न मातहिं दाहु ॥१६॥

शब्दार्थ—लोचत हैं = झुक जाते हैं, संकोच होता है । आनि भजौ = शरण में आ जाओ ।

भावार्थ—तुझे देख कर मेरे नेत्र झुकते हैं (तुझे मारने में सङ्कोच होता है, तू अवध्य है) अतः हठ छोड़ कर मेरी शरण मे क्यों नहीं आजाता । मैंने तुम्हारा अपराध (बालक ब्रह्मचारी समझकर) क्षमा किया, तुम अभी अपने घर चले जाओ, व्यर्थ अपनी माता के हृदय में दाह उपजाने का कारण मत बनो ।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा—(कार्यनिबन्धना)

मूल—दोधक छंद ।

हौं हतिहौं कबहूँ नहिं तोहीं । तू बरु बाणन बेधहि मोंहीं ।
बालक विप्र कहा हनिये जू । लोक, अलोकन में गनिये जू ॥२०॥

शब्दार्थ—अलोक = अपयश, बदनामी ।

भावार्थ—मैं तुझे कभी न मारूँगा, चाहे तू मुझे बाणों से बेध भी दे । बेचारे ब्रह्मचारी बालक को क्या मारें, क्योंकि संसार में ऐसा काम अपयशों में गिना जाता है ।

मूल—(कुश)—*सारवती छंद (लक्षण - ३ भगण १ गुरु = १० वर्ण)

लक्ष्मण हाथ हथ्यार धरो। यज्ञ वृथा प्रभु को न करो।
हौं हय को कबहूँ न तजों पट्ट लिख्यो सोय बांचि लजौं ॥२१॥

भावार्थ—कुश कहते हैं कि हे लक्ष्मण! हथियार पकड़ो और मुझसे युद्ध करो, अपने प्रभु की यज्ञ निष्फल मत करो (न घोड़ा वहाँ लौट कर जायगा न यज्ञ पूर्ण होगा) मैं बिना परास्त हुये घोड़ा न दूँगा पट्टे पर जो लिखा है उसे पढ़ कर मुझे लज्जा आती है (कि मुझसा वीर क्षत्री रहते हुये भी राम सर्वविजयी कहाकर यह यज्ञ पूर्ण कर लें)

अलङ्कार—अप्रस्तुत प्रशंसा—कार्यनिबन्धना (दूसरे चरण में और चौथे चरण में।

मूल—स्वागता छंद।

बाण एक तब लक्ष्मण छंड्यो। चर्म वर्म बहुधा तेहि खंड्यो।
ताहि हीन कुश चित्तहि मोहै। धूम भिन्न जनु पावक सोहै ॥२२॥

शब्दार्थ—चर्म = ढाल। वर्म = कवच।

भावार्थ—तब लक्ष्मणजी ने एक बाण चलाया, जिससे ढाल और कवच खंड-खंड हो गये (कुशजी कवचहीन हो गये, उस कवच से रहित होने पर) दिगम्बर होने पर, कुशजी ऐसे शोभित हुये मानो निर्धूम अंगारा हो।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा।

मूल—

रोष वेष कुश बाण चलायो। पौन चक्र जिमि चित्त भ्रमायो।
मोह मोहि रथ ऊपर सोये। ताहि देखि जड़ जंगम रोये॥ २३ ॥

शब्दार्थ—रोष वेष = क्रुद्ध होकर। पौनचक्र = बवंडर, बगरूरा। मोह मोहि = बेहोशी से मूर्छित होकर। जड़ जंगम = अचर चर सब जीव।

भावार्थ—तब क्रुद्ध होकर कुश ने बाण चलाया, जिसने बवंडर की तरह लक्ष्मण के चित्त को भँवा डाला। व्याकुल होकर लक्ष्मणजी रथ पर

---

*इस छन्द का नाम कई प्रतियों में 'हरिणी' लिखा है।

मूर्छित होकर गिर गये, जिनकी दशा देखकर सचर अचर समस्त जीव रो उठे।

अलङ्कार—उपमा, सम्बन्धातिशयोक्ति।

मूल—नराच छंद (लक्षण—क्रम से ८ बार लघु गुरु = १६ वर्ण)

विराम राम जानकै भरत्थ सों कथा कहै।
विचारि चित्त माँहि वीर बीर वै कहाँ रहैं।
सरोष देखि लक्ष्मणै त्रिलोक तो विलुप्त है।
अदेव देवता त्रसैं कहा तै बाल दीन द्वै ॥२४॥

शब्दार्थ—विराम = देर। बीर = भाई। वै = (द्वै) दो। विलुप्त है = गुप्त होकर, लुक छिपकर। अदेव = दैत्य। विलुप्त ···त्रसैं = लुकने पर भी डरते रहते हैं, अति अधिक डरते हैं।

भावार्थ—लक्ष्मण को आने में देरी होती जानकर श्रीरामजी भरत से कहते हैं कि हे भाई! जरा विचारो तो कि वे दोनों वीर बालक कहाँ रहते हैं (अर्थात् किस लोक के रहने वाले हैं कि इन दोनों वीरों को लक्ष्मण ने अब तक परास्तन नहीं किया) क्योंकि लक्ष्मण तो ऐसे वीर हैं कि उनको सक्रोध देख कर त्रिलोकवासी दैत्य और देवता लुकने छिपने पर भी डरते हैं, तो वे दो दीन बालक उनके सामने क्या वस्तु हैं।

अलङ्कार—काव्यार्थापत्ति।

मूल—(राम)—रूपमाला छंद—(१४ + १० = २४ मात्रा)

जाहु सत्वर दूत लक्ष्मण हैं जहां यहि बार।
जाय कै यह बात बर्णहु रक्षियो मुनि-बार।
हैं समर्थ सनाथ वै असमर्थ और अनाथ।
देखिबे कहँ लाइयो मुनि बाल उत्तम गाथ ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—सत्वर = शीघ्र। यहि बार = इस समय। मुनिबार = मुनि-बालक = उत्तमगाथ = अति प्रशंसित वीर।

भावार्थ—रामजी कहते हैं हे दूतो! जहाँ इस समय लक्ष्मण है वहां शीघ्र जाओ, और जाकर कहो कि मुनि-बालकों की रक्षा करना (उन्हें मारना मत, क्योंकि लक्ष्मण समर्थ और सनाथ, हैं और वे मुनिबालक असमर्थ और

अनाथ हैं। और उन प्रशंसनीय मुनि-बालकों को हमारे देखने के लिए पकड़ से आना।

मूल (मोदक छन्द)।

भग्गुल आइ गये तबहीं बहु। बार पुकारत आरत रक्षहु।
वे बहु भाँतिन सैन सँहारत। लक्ष्मण तो तिनको नहिं मारत ॥२६॥

शब्दार्थ—भग्गुल = भगे हुये सैनिक। बार = द्वार पर।

भावार्थ—उसी समय बहुत से भगे हुये सैनिक वीरों ने आकर दीनस्वर से दरवाजे पर पुकार मचाई कि रक्षा करो, रक्षा करो। वे दोनों बालक तो अनेक प्रकार से सेना का संहार कर रहे हैं, परन्तु लक्ष्मणजी उनको नहीं मारते।

मूल –

बालक जानि तजे करुणा करि। वे अति ढीठ भये दल संहरि।
केहुँ न भाजत गाजत हैं रण। वीर अनाथ भये बिन लक्ष्मण ॥२७॥

भावार्थ—लक्ष्मणजी ने उन्हें बालक समझ कर करुणा वश मारने से बचा दिया (मारा नहीं) और वे दोनों, सेना का संहार कर ढीठ हो गये हैं, किसी तरह भागते नहीं वरन रणभूमि में डटे गरज रहे हैं और बिना लक्ष्मण के हम सब वीर अनाथ हो गये हैं अर्थात् (लक्ष्मणजी जूझ गये)।

अलंकार—अप्रस्तुतप्रशंसा (कार्यनिबंधना)।

मूल –

जानहु जैं उनको मुनिबालक। वे कोउ हैं जगती प्रतिपालक।
हैं कोउ रावण के कि सहायक। कै लवणासुर के हितलायक ॥२८॥

शब्दार्थ – जैं = जनि, मत। जगतीप्रतिपालक = विष्णु का अवतार हित = मित्र, रावण के सहायक। लवणासुर के हित = शिवजी। लायक = योग्य

भावार्थ – उनको मुनिबालक मत समझिये। वे विष्णु के कोई अवतार हैं, या रावण के सहायक (शिवजी) हैं या लवणासुर के योग्य मित्र हैं (जो उनका बदला लेने के लिये राम-दल का संहार कर रहे हैं)।

अलङ्कार—प्रत्यनीक की ध्वनि व्यंजित है।

मूल—(भरत)—मोदक छन्द।

बालक रावण के न सहायक। ना लवणासुर के हित लायक।
हैं निज पातक वृच्छन के फल। मोहत हैं रघुवंशिन के बल ॥२९॥

भावार्थ—(इतने में भरतजी बोल उठे कि) वे बालक न तो रावण के सहायक हैं, न लवणासुर के योग्य मित्र हैं, वरन् हम रघुवंशियों के पाप-वृक्षों के फल हैं जो हम रघुवंशियों के बल को निष्फल कर रहे हैं।

अलंकार—रूपक और तुल्ययोगिता।

मूल—जीतहि को रण माँहि रिपुघ्नहिं।
को कर लक्ष्मण के बल विघ्नहिं।
लक्ष्मण सीय तजी जब ते बन।
लोक अलोकन पूरि रहे तन ॥ ३० ॥

भावार्थ—शत्रुघ्न को रण में कौन जीत सकता था, लक्ष्मण के बल को कौन रोक सकता है, पर जब से लक्ष्मण सीता को वन में छोड़ आये हैं, तब से इस लोक में रघुवंशी लोगों के शरीर अपयश (पाप) से परिपूर्ण हो रहे हैं (इसी कारण यह पराजय हो रही है)।

अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा (कारण निबंधना)

मूल—

छोड़न चाहत ते तबते तन। पाय निमित्त कर्यो मन पावन।
भाइ तज्यो तन सोदर लाजनि। पूत भये तजि पाप समाजनि ॥३१॥

शब्दार्थ—निमित्त = कारण। भाइ = लक्ष्मण के भाई (शत्रुघ्न)। पूत = पवित्र।

भावार्थ—(भरतजी कहते हैं कि) लक्ष्मण तो तभी से (जब से सीता जी को वन में छोड़ आए) अपना शरीर छोड़ना चाहते थे, सो अब उत्तम कारण पाकर उन्होंने तो अपना मन पवित्र कर लिया (मर कर अपने मन की ग्लानि दूर की)। उनके भाई शत्रुघ्न ने भाई की लज्जा से ही तन छोड़ा और पाप से स्वच्छ हो कर पवित्र हो गये।

मूल—दोधक छन्द।

पातक कौन तजी तुम सीता। पावन होत सुने जग गीता।
दोषविहीनहिं दोष लगावै। सो प्रभु ये फल काहे न पावै ॥३२॥

शब्दार्थ—पातक = पाप। गीता = कथा, प्रशंसा।

भावार्थ—भरतजी रामजी से कहते हैं कि, हे प्रभु! किस पाप से आपने ऐसी सीता का त्याग किया जिसके पतिव्रत की कथा सुन कर संसार पवित्र होता है। जो निर्दोष को दोष लगावेगा वह ऐसा फल (पराजय) क्यों न पावैगा—अर्थात् अवश्य पावैगा।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति।

मूल—

हौं तेहि तीरथ जाय परौंगो। संगति दोष अशेष हरौंगो॥ ३३॥

(नोट)—यह आधा ही छन्द सब प्रतियों में मिलता है।

भावार्थ—(भरतजी कहते हैं कि) मैं भी उसी समरतीर्थ में जाकर मर जाऊँगा और तुम्हारी संगति में रहने से जो दोष मुझे लगा है उस समस्त दोष को मरकर नाश करूँगा।

अलंकार—उल्लास।

मूल—

बानर राक्षस रिच्छ विहारे। गर्व चढ़े रघुवंशहिंभारे।
ता लगि कै यह बात विचारी। हौ प्रभु संतत गर्व प्रहारी॥ ३४॥

भावार्थ—भरतजी रामजी से कहते हैं कि या तो मेरा अनुमान ठीक है या तुम्हारे बानरों राक्षसों और रीछों को रघुवंश के कारण (कि हमने रघुवंशियों की सहायता की) अति गर्व हो गया है उनके गर्व को दूर करने के लिये यह युक्ति निकली है, क्योंकि हे प्रभु! आप सदैव भक्तों का गर्व नाश किया करते हैं।

अलंकार—संदेह।

मूल—चंचरी छंद (लक्षण—र, स, ज, ज, भ, र = १८ वर्ण)

क्रोध कै अति भर्त अङ्गद संग संगर को चले।
जामवन्त चले विभीषण और बीर भले भले॥
को गनै चतुरंग सेनहिं रोदसी नृपता भरी।
जाइकै अवलोकियो रण में गिरे गिरि से करी॥ ३५॥

शब्दार्थ—भर्त = भरतजी (छन्द नियम के कारण इसका यही रूप होगा)।

संगर = युद्ध। रोदसी = जमीन और आसमान (भूमी द्यावौ च रोदसी इत्यमरः) नृपता = राजाओं का समूह। करी – हाथी।

भावार्थ – (तदनन्तर) अति क्रुद्ध हो कर भरत, अंगद, जामवंत, विभीषण और अन्य अच्छे-अच्छे वीर रणक्षेत्र के चले। उस चतुरंगिनी सेना को कौन गिन सकता है, तमाम जमीन आसमान में राजा भरे थे। सभों ने जाकर देखा कि रणभूमि में पहाड़ से हाथी मरे पड़े हैं।

अलङ्कार—उपमा।

(छत्तीसवां प्रकाश समाप्त)

सैंतीसवाँ प्रकाश

दोहा—सैंतीसयें प्रकाश में लव कटु बैन बखान।
मोहन बहुरि भरत्थ को लागे मोहन बान॥

रूपमाला छन्द।

जामवंत विलोकियौ रण भीम भू हनुमंत।
श्रोण की सरिता बही सु अनंत रूप दुरंत॥
यत्र तत्र ध्वजा पताका दीह देह निभूव।
टूटि टूटि परे मनो बहुबात वृक्ष अनूप॥ १॥

शब्दार्थ – रणभू = रणक्षेत्र। भीम = भयंकर। श्रोण = रक्त। अनंत = (अन + अंत) जिसका पार न मिलै। दुरन्त = अति कठिनता से। ध्वजा = बड़े निशान। पताका = छोटी झंडिया। दीह दैहिन = बड़े शरीरवाले। बहुबात = आँधी।

भावार्थ—जामवंत और हनुमान ने देखा कि वह रणक्षेत्र बड़ा ही भयंकर हो रहा है। रक्त की ऐसी बड़ी नदी बही है जिसका कहीं आर-पार नहीं सूझता। जहाँ तहां ध्वजा पताका और बड़े शरीर वाले राजा कटे पड़े है, वे ऐसे जान पड़ते हैं, मानो आँधी से टूटे हुए बड़े-बड़े वृक्ष पड़े हों।

अलंकार—उत्प्रेक्षा। संबंधातिशयोक्ति (जब जामवंत और हनुमान उसे देख कर डर गये तो वास्तव में वह रणक्षेत्र बड़ा भयंकर होगा)।

मूल—

पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन शोभिजैं सुठि शूर।
ठेलि ठेलि चले गिरीशनि पेलि श्रोणित पूर॥
ग्राह तुङ्ग तुरङ्ग कच्छप चारु चर्म विशाल।
चक्क सों रथचक्र पैरत बृद्ध गृद्ध मराल॥२॥

शब्दार्थ—ठेलि=हटाकर। पेलि=नीचे को दबाकर। पूर=धारा। ग्राह—मगर। चर्म=ढाल। चक्क=चक्रवाक। रथचक्र=रथों के पहिये।

भावार्थ—हाथियों और रथों के समूहों तथा सुंदर शूर वीरों की लाशों को पर्वत समान हटाकर वा दबाकर रक्त की धारा बहती है (जैसे नदी की धार पहाड़ों को ठेल पेल कर बहती है) उसमें बड़े घोड़े ग्राह हैं, सुंदर और बड़ी-बड़ी ढालें कछुवा हैं, रथों के पहिये चक्रवाक सम तैरते हैं और बूढ़े गीध (जिन के पंख वृद्धावस्था के कारण सफेद हो गए हैं) ही हंस हैं।

अलङ्कार—रूपक।

मूल—

केकरे कर बाहु मीन, गयंद शुण्ड भुजङ्ग।
चीर चौंर सुदेश केश शिवाल जानि सुरङ्ग॥
बालुका बहु भाँतिं हैं मणिमालजाल प्रकाश।
पैरि पार भये ते द्वै मुनिबाल केशवदास॥ ३॥

शब्दार्थ—कर=हाथ के पंजे। बाहु=भुजदंड। सुदेश=सुंदर। शिवाल=(शैवालक) सिवार। सुरंग=सुंदर रंग का। बालुका=बालू। प्रकाश=चमकदार।

भावार्थ—(उस नदी) में हाथ के पंजे ही केकड़े हैं, भुजदंड ही मछली हैं, हाथियों की सूंडे ही सर्प हैं और कपड़े, चौंर और सुन्दर बाल ही मानों सुंदर सिवार हैं। गजमुक्ता और चमकीले मणि समूह ही चमकती हुई बालू हैं। ऐसी भयंकर नदी को (जिसे देखकर जामवन्त और हनुमान भयभीत हो गये थे) दो मुनिबाल पैर कर पार कर गये (कैसा आश्चर्य है)।

अलङ्कार—मांग रूपक ।

मूल (दोहा)—

नाम वरण लघु बेष लघु, कहत रीझि हनुमन्त ।
इतो बड़ो विक्रम कियो, जीते युद्ध अनंत ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—वरण = अक्षर । विक्रम = उद्योग । अनन्त = लक्ष्मणजी ।

भावार्थ—(दो मुनिबालकों ने इन सब को मारा है, ऐसा समझ कर) हनुमानजी रीझ कर कहते हैं कि छोटे छोटे नामवाले (अर्थात् कुश लव) और अपने नामों में केवल लघुवर्ण रखने वाले (जिनके नामों में दीर्घता के नाते दीर्घ अक्षर तक नहीं हैं) और लघुबेशवाले (केवल बालक) दो मुनि बालकों ने इतना बड़ा उद्योग किया है कि युद्ध से लक्ष्मण को (वा असंख्य योद्धाओं को) जीत लिया (बड़े आश्चर्य की बात है) ।

अलङ्कार—विभावना (दूसरी) ।

मूल—(भरत)—तारक छंद ।

हनुमन्त दुरंत नदी अब नाखौ । रघुनाथ सहोदरजी अभिलाषौ ।
तब जो तुम सिंधुहि नाँधि गये जू । अबनाँघहु काहेन भीतभयेजू ॥५॥

शब्दार्थ—दुरंत = (दुः + अंत) जिसका वार पार नहीं सूझता । नाखौ = लाँघो । रघुनाथ......अभिलाषी = शत्रुघ्न और लक्ष्मण को जिलाने की अभिलाषा करो । भीत = भयभीत ।

भावार्थ—(भरत जी कहते हैं कि) हे हनुमान ! अब इस अपार नदी को लाँघो, और राम के भाई शत्रुघ्न और लक्ष्मण को जिलाने की अभिलाषा करो। तब तो तुम समुद्र को लाँघ गये थे, अब इस नदी को क्यों नहीं लाँघते, क्यों भयभीत हो रहे हो ।

मूल—(हनुमान)—दोहा ।

सीता पद सनमुख हुते, गयो सिन्धु के पार ।
विमुख भयो क्यों जाहुँ तरि, सुनो भरत यहि बार ॥ ६ ॥

भावार्थ—हनुमानजी कहते हैं कि उस बार तो सीताजी के चरणों के सन्मुख जाना था सो सिंधु को पार कर गया, अब इस बार उनसे विमुख हो कर इस नदी को कैसे पार कर सकूँगा ।

अलङ्कार—हेतु ।

मूल—तारक छन्द ।

धनु बाण लिये मुनि बालक आये ।
जनु मन्मथ के युय रूप सोहाये ।
करिबे कहँ शूरन के मद हीने ।
रघुनायक मानहु द्वै बपु कीने ॥ ७ ॥

शब्दार्थ – मन्मथ = काम । रघुनायक = श्रीरामचन्द्र ।

भावार्थ—(इतने ही में) दो मुनिबालक धनुषबाण लिये हुए आ गये । वे ऐसे सुन्दर थे मानों काम ही के दो रूप थे अथवा शूरों का अहंकार नाश करने को श्रीरामजी ने ही दो रूप धारण किये थे ।

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा ।

मूल –(भरत)–

मुनिबालक हौ तुम यज्ञ करावो ।
सु किधौं मख बाजिहि बाँधन धावो ।
अपराध छमौ अब आशिष दीजै ।
बर बाजि तजौ जिय रोष न कीजै ॥ ८ ॥

भावार्थ –(भरतजी कहते हैं कि) तुम तो मुनिबालक हो, तुम्हारा काम यह है कि तुम दूसरों से यज्ञ कराओ (अर्थात् यज्ञ करने में सहायक हो) या तुम्हारा यह काम है कि यज्ञाश्व को बाँधने दौड़ो) अर्थात् यज्ञ में बाधक बनो ? यदि हमसे अपराध हुआ तो क्षमा करो और आशीर्वाद दो । क्रोध न करो. यज्ञाश्व को छोड़ दो ।

मूल—(दोहा)—

बांध्यो पट्ट जो सीस यह, त्रिन काज प्रकाश ।
रोष करयो बिन काज तुम, हम विप्रन के दास ॥ ९ ॥

भावार्थ – सरल ही है ।

मूल—(कुश)—दोधक छन्द ।

बालक बृद्ध कहौ तुम काको । देहनि को किधौं जीव प्रभाको ।
है जड़ देह कहै सब कोई । जीव सो बालक बृद्ध न होई ॥१०॥

शब्दार्थ जीवप्रभा = आत्मा ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—

जीव जरै न मरै नहिं छीजै । ताकहँ शोक कहा अब कीजै ।
जीवहि विप्र न क्षत्रिय जानो । केवल ब्रह्म हिये महँ आनो ॥११॥
जो तुम देव हमें कछु शिक्षा । तौ हम देहिं तुम्हैं हय भिक्षा ।
चित्त विचार परै सोइ कीजै । दोष कछू न हमैं अब दीजै ॥१२॥

भावार्थ—सरल ही है ।

नोट—भारत ने उन्हें मुनिबाल कहा है, अतः कुश ने यह ब्रह्मज्ञानमय वाक्य कहे, तात्पर्य यह कि इसी वेदान्त विषय में ही आप हमसे शास्त्रार्थ कर लीजिये । यदि आप हमें इसी विषय में कुछ शिक्षा दे सकें तो हम पराजय मान लें और घोड़ा आपको गुरुदक्षिणा में दे दें ।

मूल—स्वागता छंद ।

विप्र बालकन की सुनि बानी । क्रुद्ध सूरसुत भो अभिमानी ।
(सुग्रीव)
विप्र पुत्र तुम शीश सँभारो । राखि लेहि अब ताहि पुकारो ॥१३॥

शब्दार्थ—सूरसुत = सुग्रीव ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—(लव) गौरी छंद (लक्षण—त, ज, ज, य = १२ वर्ण)

सुग्रीव कहा तुमसों रण माँड़ौं । तोको अति कायर जानिकै छाड़ौं ।
बाली सबकोकहँ नाच नचायो । तौ ह्याँ रणमंडन मोसन आयो ।१४॥

शब्दार्थ—रणमाँडना = युद्ध करना । बाली = बालि । नाच नचायो = खूब तंग किया । तौ = अब ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—तारक छंद ।

फल हीन सो ताकहँ बाण चलायो ।
अति बात भ्रम्यो बहुधा मुरझायो ।

तब दौरिकै बाण विभीषण लीन्हों।
लव ताहि बिलोकत ही हँसि दीन्हों॥ १५॥

शब्दार्थ—फलहीन = गाँसी रहित, बिना गाँसी का।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—सुन्दरी छन्द—(इसे 'मोदक' भी कहते हैं)

आउ बिभीषण तू रणदूषण। एक तुही कुलको निजभूषण।
जूझजुरे जो भगे भय जीके। शत्रु ही आनि मिले तुम नीके ॥१६॥

शब्दार्थ—रणदूषण = कायर। जूझ जुरे = युद्ध आरंभ होते ही।

भावार्थ—(लवजी विभीषण से कहते हैं कि) हे कायर विभीषण! आओ, तू ही तो एक अपने कुल का भूषण है (व्यंग से कलंकित करने वाला है) तू वही बीर है जो (लंका में) युद्ध आरम्भ होते ही प्राणभय से भाई को छोड़ भागा था और शत्रु से जा मिला था।

मूल—दोधक छन्द।

देव बधू जबहीं हरि ल्यायो। क्यों तबही तजि ताहि न आयो।
योँ अपने जिय के डर आयो। छुद्र सबै कुल छिद्र बतायो ॥१७॥

शब्दार्थ—देव बधू = सीता। छिद्र = ऐब मर्म।

भावार्थ—जब रावण सीता को हर लाया था, उसी समय तू उसे छोड़ राम की शरण क्यों न आया? जब युद्ध आरंभ हुआ तब अपने प्राणों के भय से तू उनकी शरण आया और हे छुद्र! तू अपने कुल के सब दोष (वा मर्म) बताये।

मूल—(दोहा)—

जेठो भैया अन्नदा राजा पिता समान।
ताकी पत्नीं तू करी पत्नी मातु समान॥ १८॥

शब्दार्थ—अन्नदा = अन्न दाय, मालिक। मातु समान = क्या वह तेरी माता के समान न थी।

भावार्थ—(शास्त्र का ऐसा कहना है कि) बड़ा भाई, मालिक, राजा और पिता ये चारों समान हैं। सो तूने उसकी स्त्री को लेकर अपनी स्त्री बना लिया,

क्या वह तेरी माता के समान न थी (अर्थात् अवश्य ही अतः तू मातृगामी हुआ, बधने योग्य है)

मूल—(दोहा)—

को जानै कै बार तू कही न ह्वै है माय।
सोई तैं पत्नी करी सुनु पापिन के राय॥ १९॥

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—तोटक छन्द।

सिगरे जग माँझ हँसावत हैं। रघुवंशिन पाप लगावत हैं।
धिक तोकहँ तू अजहूँ जु जियें। खलजाय हलाहल क्यों न पियै॥२०॥

भावार्थ—सारे संसार में अपनी हँसी कराता है, और साथ में रह कर रघुवंशियों को भी पाप लगाता है। धिक्कार है तुझको जो तू अब भी जीवित है, रे खल! जाकर विष क्यों नहीं पी लेता।

मूल—

कछु है अब तो कहँ लाज हिये। कहि कौन विचार हथ्यार लिये।
अब जाय करीष की आगि रो। गरु बाँधिके सागर बूड़ि मरो॥ २१॥

शब्दार्थ करीष = बिनुवा कण्डे, कर्सी। गरु = गला।

भावार्थ—तेरे हृदय में कुछ लज्जा है कि नहीं, क्या विचार कर हथ्यार उठाया है तुझ सा पापी क्या हमसे युद्ध कर सकता है? रे विभीषण! तू जाकर सूखे जंगली कंडों की आग में जल मर या गले में भारी पत्थर बाँध कर समुद्र म डूब मर (निर्लज्ज कहीं का) आया है मुझसे युद्ध करने।

मूल—(दोहा)—

कहा कहौं हौं भरत को, जानत है सब कोय।
तोसो पापी संग है, क्यों न पराजय होय॥ २२॥
बहुल युद्ध भी भरत सों, देव अदेव समान।
मोहि महारथ पर गिरे, मारे मोहन बान॥ २३॥

शब्दार्थ—देव-अदेव समान = देवासुर संग्राम की भाँति। मोहनवान = मूर्छित करने वाला बाण।

(सैंतीसवाँ प्रकाश समाप्त)

अड़तीसवां प्रकाश

दोहा—अड़ततीसयें प्रकाश मे अंगद युद्ध बखान।
ब्याज सैन रघुनाथ के कुश लव आश्रम जान॥

मूल—(दोहा)—

भरतहिं भयो बिलम्ब कछु, आये श्रीरघुनाथ।
देख्यो वह संग्राम थल, जूझि परे सब साथ॥ १॥

भावार्थ—जब भरत को भी लौटने में विलम्ब हुआ तब स्वयं रामजी ही वहाँ आये और उस रण भूमि को देखा जहां सब लोग जूझे हुए एक साथ पड़े थे।

मूल—तोटक छंन।

रघुनाथहिं आवत आय गये। रण में मुनिबालक रूपरये।
गुण रूप सुशील जुसों रण में। प्रतिबिम्ब मनो निज दर्पण।

भावार्थ—रणभूमि में राम के पहुंचते ही वे दोनों सुन्दर मुनिबालक भी रणक्षेत्र में आगये। रणभूमि में राम ने उन्हें देखा तो मालूम हुआ कि गुण रूप, और शील में वे अपने ही प्रतिविम्ब दर्पण में देख रहे हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मूल—वसन्ततिलकाछन्द।

सीता समान मुखचन्द्र बिलोकि राम।
बूझयो कहां बसत हौ तुम कौन ग्राम।
माता पिता कवन कौनेहि कर्म कीन।
विद्या विनोद शिष कौनेहि अस्त्र दीन॥

भावार्थ—राम जी ने दोनों बालकों के मुखचन्द्र सीता के मुखचन्द्र के समान ही देखकर उनसे पूछा कि तुम कहाँ (किस देश में) और किस गाँव में रहते हो? तुम्हारे माता-पिता कौन हैं? किसने तुम्हारे जन्म-संस्कार किये हैं? किसने तुम्हें विद्या पढ़ाई है और किसने तुम्हें अस्त्र विद्या दी है?

अलङ्कार—उपमा और रूपक का संकर।

मूल—(कुश)—रूपमाला छन्द।

राजराज तुम्हें कहा मम बंश सो अब काम।
बूझि लीजौ ईश लोगन जीति कै संग्राम।
(राम)—हौं न युद्ध करौं कहे बिन विप्र बेष विलोकि।
वेगि वीर कथा कहौ तुम आपनी रिस रोकि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—राजराज = राजराजेश्वर। ईश लोग = बड़े लोग, इस आश्रम के ऋषिगण।

मूल (कुश)—

कन्यका मिथिलेश की हम पुत्र जाये दोय।
बालमीक अशेष कर्म करे कृपा रस मोय।
अस्त्र शस्त्र सबै दये अरु वेद भेद पढ़ाय।
बाप को नहिं नाम जानत आजु लौं रघुराय ॥ ५ ॥

भावार्थ—सरल ही है।

शब्दार्थ—अशेष = सब। मोय = भुक्त। कृपारस मोय दया करके।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—दोधक छन्द।

जानकि के मुख अक्षर आने। राम तहीं अपनेसुत जाने।
विक्रम साहस शील विचारे। युद्ध ब्यथा गहि आयुध डारे ॥ ६॥

भावार्थ—ज्योंही बालक ने जानकी नाम लिया, त्योंही रामजी समझ गये कि ये हमारे ही पुत्र हैं। फिर उनके विक्रम, साहस और शील पर विचार किया (तो और भी पुष्टि हो गई) अतः इनसे युद्ध करने से मन को कैसी व्यथा होगी उसका अनुमान करके रामजी ने अस्त्र शस्त्र फेंक दिये। और अंगद को आज्ञा दी (देखो प्रकाश ३६ छंद नं० ३४)।

मूल—(राम)—

अंगद जीति इन्हें गहि ल्यावो। कै अपने बल मारि भगाओ।
वेगि बुझावहु चित्तचिता को। आजु तिलोदक देहु पिता को ॥७॥

नोट—देखो प्रकाश ३६ छंद नं० ३१।

भावार्थ—सरल ही है (राम जी उन्हें अपना पुत्र स्वीकार करके, अपने बचन पूरे करने के हेतु अंगद से युद्ध करवाते हैं)।

मूल—

अंगद तौ अँग अँग न फूले। पौन के पुत्र कह्यौ अति भूले।
जाय जुरे लव सों तरु लैकें। बात कही शत खंडन कैकै॥ ८॥

भावार्थ—रामजी की बात सुनकर अंगद अति प्रसन्न हुए, तब हनुमानजी ने कहा कि अंगद तुम बड़ी भारी भूल कर रहो हो (इन बालकों को बालक न समझना) अंगद हनुमान का कहना न मानकर एक वृक्ष उखाड़ कर लव जी से जा भिड़े, पर उन्होंने तुरन्त उस वृक्ष के सौ खड करके यों कहा।

मूल—(लव)

अंगद जो तुम पै बल हो तो। तौ वह सूरज को सुत को तो।
देखत ही जननी जु तिहारी। वा सँग सोवति ज्यों वरनारी॥ ९॥

शब्दार्थ—तुमपै=तुम्हारे पास, तुम में। सूरज को सुत=सुग्रीव। को तो=क्या था (कुछ नहीं था, तुच्छ था)। वरनारी=पतिपत्नी। ज्योंवरनारी =ज्यों वर संग नारी सोवति।

भावार्थ—हे अंगद! जो तुम में बल होता तो यह सुग्रीव क्या था जो ऐसा अनुचित कार्य करता। तुम्हारे देखते तुम्हारी माता उसके साथ ऐसे सोती है जैसे अपने पति के साथ पत्नी सोती है (तुम्हें लज्जा नहीं आती)।

नोट—व्यंग यह है कि बड़े निर्लज्ज हो।

अलंकार—उदाहरण।

मूल—

जा दिन ते युवराज कहायो। विक्रम बुद्धि विवेक बहायो।
जीवत पै कि मरे पहँ जैहै। कौन पिताहि तिलोदक दैहै॥ १०॥

(नोट)- राम का कथन छंद नं० ७ का सुन कर लवजी कहते है कि:—

भावार्थ—जब से तुम युवराज हुए, तब से बल बुद्धि और विवेक स[illegible] गँवा दिया, कहिये वह तिलोदक किस पिता को दोगे, जीवित पिता सुग्रीव [illegible] वा मृत पिता बालि को?

मूल—

अंगद हाथ गहै तरु जोई। जात तहीं तिल सो कटि सोई।
पर्वत पुञ्ज जिते उन मेले। फूल के तूल लै बानन मेले॥ ११॥

शब्दार्थ—मेले = फेंके । तूल = तुल्य, समान । झेले = हटा दिया ।

भावार्थ—अंगद जिस वृक्ष को लेते हैं, वही तुरन्त तिल-तिल कट जाता है । जितने पर्वत उन्होंने फेंके, उन्हें लवजी ने फूल के समान बाणों से हटा दिया ।

अलंकार—उदाहरण ।

मूल—

बानन वेधि रही सब देही । बानर ते जु भये अब सेही ।
भूलत ते शर मारि उड़ायो । खेल के कंदुक को फल पायो ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—देही = शरीर । सेही = स्याही नामक वनजन्तु, शल्लकी ।

भावार्थ—अंगद का शरीर बाणों से ऐसा विद्ध हो गया कि बानर से साही हो गये । तब लवजी ने उन्हें बाण मार कर ऊपर को उछाल दिया और उन्हें खेल का गेंद बना डाला (गेंद की तरह उछालने लगे) ।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा ।

मूल—

सोहत है अब ऊरध ऐसे । होत बटा नट को नभ जैसे ।
जान कहूँ न इतै उतपावै । गो बलचित्त दशो दिश धावै ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—अध ऊरध = नीचे ऊपर । बटा = गोला ।

भावार्थ—अंगद को लवजी ने बाणों द्वारा इस प्रकार नीचे ऊपर को लोकाथा जैसे आकाश में नट के गोले नीचे ऊपर को आते जाते हैं । अंगद कहीं इधर-इधर भाग भी नहीं सके । उनका बल नष्ट हो गया और उनका चित दशों दिशाओं को दौड़ता है (कि अब कौन मुझे बचावे) ।

अलंकार—उदाहरण ।

मूल—

बोल घट्यो सु भयो सुर भंगो । ह्वै गयो अंग त्रिशंकु को संगी ।
हा रघुनायक हौं जन तेरो । रक्षहु गर्व गयो सब मेरो ॥ १४ ॥

भावार्थ—मारे कष्ट के अंगद का बोलने की शक्ति कम हो गई और उनका शरीर त्रिशंकु की तरह अधर में उलटा टँग गया, तब चिल्लाये कि हे रामजी ! मैं तुम्हारा दास हूँ, मेरी रक्षा करो, अब मेरा सब गर्व नष्ट हुआ ।

अलङ्कार—ललितोपमा (दूसरे चरण में) ।

मूल —

दीन सुनो जनकी जब बानी। जी करुणा लवबानन आनी।
छाँड़ि दियो गिरिभूमिपरयोई। व्याकुल ह्वै अतिमानो मरयोई ॥१५॥

भावार्थ —जब दीन जन की सी बाणी सुनी, तब लव के बाणों के जी में करुणा आई। तब बाणों ने उसे छोड़ दिया और वह व्याकुल होकर भूमि में मुर्दा सा गिर गया।

अलङ्कार - उपमा।

मूल - मत्तगयंद सवैया।

भैर से भट भूरि भिरे बल खेत खरे करतार करे कै।
भारे भिरे रण-भूधर भूप न टारे टरै इभ कोट अरे कै॥
रोष सों खग हने कुश केशव भूमि गिरे न टरेहू गरे कै।
राम विलोकि कहैं रस अद्भुत खायें मरेनग नाग परे कै॥ १६॥

शब्दार्थ - बल = बलपूर्वक। खेत —रणखेत में खरे = अति विकट। करतार = ब्रह्मा। रण भूधर भूप = पर्वत समान अचल राजा। इभ कोट = हाथियों का कोट। अरे कै = अड़ा करके (इस तरह खड़े करके जिस में वे टल न सकें)। पैरों में जंजीरादि के लोहलंगर डालकर। खंग = खगं। गरे के टरेहू = गला कट जाने पर भी। नगनाग = (नागनग) गजमुक्ता। खावाँ मारना = मोरचाबंदी के लिए खाईं डालना। कै = किधौं, या, अथवा। रस अद्भुत = आश्चर्य में आकर (अति चकित होकर)। खायें मरे.....परे कै = ये मैदान जंग में मोर्चाबंदी के लिए खाँवाँ से बन गये हैं या गजमुक्ता पड़े हुए हैं—अर्थात् इतने हाथियों के मस्तक कटे हैं कि उनके गजमुक्ताओं से रणक्षेत्र में खाँवाँ से बन गये हैं तो अनुमान करना चाहिए कि उस रण में कितने हाथी मारे गये होंगे और वह रण कैसा हुआ होगा।

भावार्थ —भैरव (कालभैरव) के समान भयङ्कर असंख्य योद्धा बलपूर्वक उस रणक्षेत्र में ऐसे लड़े (कि अन्य किसी युद्ध में इतने योद्धा न भिड़े होंगे) न जाने दूरदर्शी विधाता ने इसी युद्ध के लिये उन खरे (सच्चे वा विकट) वीरों को बनाया था क्या। रण में पर्वत समान अचल और बड़े-बड़े राजा, जिन्होंने हाथियों के पैरों में लोहलंगर डालकर अड़ाकर खड़ा कर दिया

था। रणभूमि से टाले नहीं टले (वहीं पर कट गये हैं)। रोष से कुश ने तल-वार चलाई है जिसमें वे कट तो गये हैं, पर गला कट जाने पर भी उनके कबंध भूमि में नहीं गिरे। ऐसा विकट रण देखकर आश्चर्य से रामजी कहते हैं कि इतने गजमुक्ता पड़े हुए हैं या लाँवाँ मारे गये हैं?

अलङ्कार—अत्युक्ति।

मूल—दोधक छन्द

वानर ऋच्छ जिते निशिचारी। सेन सबै इक बाँण सँहारी।
बाण बिधे सबही जब जोये। स्यंदन में रघुनन्दन सोये॥ १॥

शब्दार्थ निशिचारी=निश्चर (विभीषण की सेना के)। स्यंदन=रथ।

भावार्थ—उस सेना में जितने वानर रीछ और निश्चर थे, सबों को लव ने एक एक बाण मारा (उस एक ही एक बाण से वे सब मूर्च्छित हो गये थे) जब रामजी ने सब को बाण विद्ध देखा तब स्वयं रामजी भी रथ पर लेट गये।

मूल—गीतिक छन्द।(वर्णिक)—(लक्षण—स, ज, ज, भ, र, स+लघुगुरु=२० वर्ण)

रण जोय कै सब शीशभूषण संग्रहे जु भले भले।
हनुमंत को अरु जामवंतहिं बाजि स्यों ग्रसि लै चले॥
रण जीति कै सब साथ लै करि मातु के कुश पाँ परे।
सिर सूँघि कंठ लगाय आनन चूमि गोद दुऊ धरे॥ १८॥

शब्दार्थ—जोयकै=ढूँढ़ कर। शीशभूषण=मुकुट। संग्रहे=एकत्र किये। बाजि स्यों=घोड़े सहित। ग्रसि=पकड़ कर। पाँ परे=पैरों पड़े, चरण छुये। गोद धरे=गोद में बैठाल लिया।

भावार्थ—रणभूमि से ढूँढ़ ढूँढ़कर जो अच्छे अच्छे मुकुट थे उन्हें एकत्र कर लिए। और घोड़े समेत हनुमान तथा जामवन्त को पकड़ कर ले चले। जब रण में जीत कर लव को साथ लेकर कुश ने आकर माता के चरण छुये, तब सीताजी ने उनका सिर सूँघ कर गले से लगाकर और मुख चूम कर दोनों को गोद में बैठाल लिया।

(अड़तीसवाँ प्रकाश समाप्त)

—:०:—

उन्तालीसवाँ प्रकाश

दोहा—

नवतीसयें प्रकाश सिय राम सँयोग निहारि।
यज्ञ पूरि सब सुतन को दीन्हो राज्य विचारि ॥

(सीता कृत शोक)

मूल—रूपमाला छंद।

चीन्हि देवर के विभूषण देखि कै हनुमंत।
पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन दुरंत ॥
बाप को रण मारियो अरु पितृभ्रातृ सँहारि।
आनियो हनुमंत बाँधि न आनियो मोहिं गारि ॥१॥

शब्दार्थ—हौं = मुझको। (विशेष) केशव ने इस 'हौं' शब्द को यहाँ कर्म कारक में प्रयुक्त किया है। यह प्रयोग चिंतनीय है। दुरन्त = बुरा। गारि = गाली, कलङ्क। पितृभ्रातृ = पिती, काका। आनियो मोहिं गारि = मुझ पर कलंक लगाया (मुझे गाली चढ़ाई)।

भावार्थ—(निज पति तथा) देवरों के मुकुटादि भूषण चीन्ह कर और हनुमान को पहचान कर सीता जी बोलीं कि हे पुत्रो ! तुमने मुझको राँड बना दिया, यह बुरा काम किया। तुमने बाप को रण में मारा और सब काकाओं को मार कर यह हनुमान को नहीं बाँध लाये, वरन् मुझ पर गाली चढ़ाई है—मुझे कलंक लगाया है।

अलङ्कार—अपन्हुति।

मूल—(दोहा)—

माता सब काकी करी विधवा एकहि बार।
मोसी और न पापिनी जाये बंश कुठार ॥ २ ॥

(विशेष) - माता और काकी शब्दों के साथ 'मोसी' शब्द बड़ा मजा दे रहा है। इसे मुद्रालंकार समझो।

शब्दार्थ—वंशकुठार = कुलविध्वंसक।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—दोधक छंद।
पापि ! कहाँ हति बापहिं जैहौ। लोक चतुर्दश ठौर न पैहौ।
रामकुमार कहै नहिं कोऊ। जारज जाय कहावहु दोऊ ॥ ३ ॥
शब्दार्थ—पापि = हे पापियो। जारज = दोगला, हरामी।
भावार्थ—सरल ही है।
मूल -(कुश)—
मोकहँ दोष कहा सुनु माता। बाँधि लियो जो सुन्यो उन भ्राता।
हौं तुमही तेहि बार पठायो। रामपिता कब मोहिं सुनायो ॥ ४ ॥
शब्दार्थ—हौं = मुझको (यहाँ पुनः यह शब्द कर्म कारक में आया है)। तेहि बार = उस समय।
भावार्थ (सीता का उपर्युक्त शाप सुनकर) कुश ने कहा कि हे माता ! इसमें मेरा क्या दोष है। जब तुमने सुना कि उन्होंने मेरे भाई को बांध लिया है उस समय तुम्हीं ने तो मुझको भेजा था, और तुमने मुझसे यह कब कहा था कि रामजी हमारे पिता हैं ?
मूल—(दोहा)—
मोहि विलोकि विलोकि कै, रथ पर पौढ़े राम।
जीवत छोड़यों युद्ध में, माता करि विश्राम ॥ ५ ॥
शब्दार्थ—करि विश्राम = आराम करौ, निश्चित हो, क्रोध न करो।
भावार्थ—सरल ही है।
मूल—सुन्दरी व मोदक छन्द।
आइ गये तबही मुनिनायक। श्रीरघुनन्दन के गुणगायक।
बात विचारि कही सिगरी कुश। दुःखकियो मनमें कलिअंकुश ॥ ६ ॥
शब्दार्थ—कलिअंकुश = पाप के बाधक (यह शब्द मुनि नायक वाल्मीकि जी का विशेषण है)
भावार्थ—इसी समय राम के यश को गानेवाले मुनि श्रेष्ठ (श्रीवाल्मीकि जी) वहां आगये, और कुश ने युद्ध का सब हाल, अपनी निर्दोषता, तथा सीता का शाप विचार पूर्वक उन्हें सुनाया, तब पाप के बाधक वाल्मीकि मुनि के मन दुःख हुआ (कि यह अकारण शाप दिया गया, बालक निर्दोष है) वाल्मीकि

को दुःख इस कारण हुआ कि हमसे भी भूल हुई जो हमने इन्हें अबतक यह नहीं बतलाया कि तुम्हारा बाप कौन है, उसका नाम क्या है।

अलंकार—पर्य्यायोक्ति।

मूल—गौरी छंद। (मुनि)

कीजै न विडंबन संतति सीते। भावी न मिटै जु कहूँ शुभ गीते।
तू तो पतिदेवन को गुरु बेटी। तेरी जग मीचु कहावत चेटी॥७॥

शब्दार्थ—विडंबन = खेद। संतति = पुत्री। भावी = होनहार। पतिदेव = पतिव्रता। गुरु = पूज्य। चेटी = चेरी, दासी।

भावार्थ—(बाल्मीकि जी सीता से सान्त्वना देते हैं) हे पुत्री सीते! शोक मत करो, हे शुभगीता सीता! जो होनी होती है वह कभी मिटती नहीं। हे बेटी! तू तो पतिव्रताओं की पूज्य है (पतिव्रता स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ है) जग में जो मीच कहलाती है, वह तेरी दासी है।

(नोट)—इससे यह ध्वनि निकलती है कि तू श्रेष्ठ पतिव्रता है, यदि तू चाहे तो अपनी शक्ति से सब को पुनः जिला सकती है।

अलंकार—उदात्त (महानों की उपलक्षणता से)।

मूल—उपजाति छन्द।

सिगरे रण मंडल माँझ गये।
अवलोकत ही अति भीत भये।
दुहु बालन को अति अद्भुत विक्रम।
अवलोकि भयो मुनि के मन संभ्रम॥८॥

(नोट)—प्रथम दो चरण तोटक वृत्त के, अन्तिम दो चरण १४ वर्ण के हैं।

भावार्थ—तब सब लोग मिल कर रण क्षेत्र में गये। घायलों और मृतकों को देख कर सब लोग डर गये। दोनों बालकों का अति अद्भुत पराक्रम देख कर मुनि के मन में बड़ा भारी भ्रम हुआ (कि यह क्या हुआ, इन छोटे बालकों ने इतने बड़े वीरों को कैसे परास्त किया)।

(रण समुद्र रूपक)

मूल—(दण्डक)—

श्रोणित सलिल नर बानर सलिलचर,
गिरि बालिसुत विष विभीषण डारे हैं।
चमर पताका बड़ी बड़वा अनल सम,
रोगरिपु जामवन्त, 'केशव' विचारे हैं।
बाजि सुरवाजि सुरगज से अनेक गज,
भरत सबन्धु इन्दु अमृत निहारे हैं।
सोहत सहित शेष रामचन्द्र केशव से,
जोति कैं समर सिन्धु साँचहूँ सँवारे हैं॥

शब्दार्थ—श्रोणित = रक्त। सलिल = पानी। सलिलचर = जलचर जीव। गिरि = मैनाक। रोगरिपु = धन्वन्तरि। सुरबाजि = उच्चैःश्रवा = घोड़ा। सुरगज = ऐरावत हाथी।

(विशेष)—कवि लोग समरांगण का रूपक सिन्धु का बाँधते हैं, सो वह तो केवल कल्पना मात्र है। केशवदास कहते हैं कि लव कुश ने इस समरांगण को सच्चा सिन्धु बना दिया। क्यों?

भावार्थ—इस समरांगण सिन्धु में रक्त ही जल है नर बानर ही जलजंतु हैं, अंगद मैनाक पर्वत हैं, और विभीषण विष हैं (राक्षस होने से काले हैं और विष का रंग भी काला माना जाता है)।

चमर और पताकायें (रक्तरंजित होने से) बड़वाग्नि सम हैं, और केशव के विचार से जामवन्त ही धन्वन्तरि हैं। उच्चैःश्रवा सम अनेक घोड़े तथा ऐरावत सम बड़े हाथी हैं, भरत और शत्रुघ्न चन्द्रमा और अमृत हैं। लक्ष्मण सहित रामजी शेष और नारायण सम हैं। इसी से यह समरांगण सच्चा सिंधु है

अलंकार—रूपक।

मूल—(सीता)—दोहा।

मनसा बाचा कर्मणा जो मेरे मन राम।
तो सब सेना जी उठै होइ घरी न बिराम॥ १०॥

शब्दार्थ विराम=देर।

भावार्थ—सीताजी शपथ करके जिलाती हैं। अर्थ सरल ही है।

मूल दोधक छन्द।

जीय उठो सब सेन सभागी। केशव सोवत ते जनु जागी।
स्यों सुत सीतहि लै सुखकारी। राघव के मुनि पाँयन पारी॥ ११॥

शब्दार्थ—सभागी=भाग्यवान। स्यों=समेत। सुखकारी (यह शब्द 'सीता' का विशेषण है)

भावार्थ—वह भाग्यवती सेना सब जी उठी, मानों सोते से जगी हो। तब पुत्रों समेत सुखदायिनी सीता को लेकर वाल्मीकि मुनि ने राम के चरणों पर डाला।

अलङ्कार उत्प्रेक्षा।

(राम-सीता मिलन)

मूल—मनोरमा छन्द।

शुभ सुन्दर सोदर पुत्र मिले जहँ।
वरषा बरषे सुर फूलन की तहँ।
बहुधा दिवि दुंदुभि के गण बाजत।
दिगपाल गयंदन के गण लाजत॥ १२॥

शब्दार्थ जहँ=ज्योंही। तहँ=त्योंही। दिवि=स्वर्ग देवलोक।

भावार्थ—ज्योंही रामजी को पतिव्रता स्त्री (सीता), भाई और पुत्र मिले त्योंही देवताओं ने फूलों की वर्षा की और विविध प्रकार से स्वर्ग में नगाड़े बजे जिनका शब्द सुनकर दिग्गज गण लज्जित होते थे।

अलङ्कार—ललितोपमा।

मूल— अंगद)—स्वागता छन्द।

रामदेव तुम गर्व प्रहारी। नित्य तुच्छ अति बुद्धि हमारी।
युद्ध देउ भमते कहि आयो। दास जानि प्रभु मारग लायो॥ १३॥

शब्दार्थ—युद्ध देउ=अंगद ने युद्ध करने का वरदान माँगा है। (देखो प्रकाश २६ छन्द नं० ३४)

भावार्थ—अंगद कहते हैं कि हे रामदेव ! आप सचमुच गर्व संहारक है और हमारी बुद्धि नित्य तुच्छ है । मैंने 'युद्ध देहि' का जो वर माँगा था वह मैंने भ्रम से कहा था, पर आपने दास जानकर मुझे सच्चे मार्ग में लगाया ।

मूल—रूप माला छन्द ।

सुन्दरी सुत लै सहोदर बाजि लै सुख पाय ।
साथ लै मुनि बालमीकहि दीह दुःख नसाय ।
राम धाम चले भले यश लोक लोक बढ़ाय ।
भाँति भाँति सुदेश केशव दुन्दुभीन बजाय ॥ १४ ॥

(नोट)—मात्राओं के हिसाब से यह छन्द रूपमाला तो अवश्य है, पर इसका संगठन ऐसा बन पड़ा है कि यह छन्द १७ वर्णवाला कोई वर्णिक छन्द भी जान पड़ता है ।

शब्दार्थ—सुन्दरी = स्त्री अर्थात् सीता जी । दीह = (दीर्घ) बड़ा । सुदेश = सुन्दर !

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल –

भर्त लक्ष्मण शत्रुहा पुर भीर टारत जात ।
चौंर ढारत हैं दुऊ दिशि पुत्र उत्तम गात ।
छत्र है कर इन्द्र के शुभ शोभिजै बहु भेव ।
मत्तदंति चढ़े पढ़ैं जय शब्द देव नृदेव ॥ १५ ॥

(नोट)—यह छन्द भी नं० १४ के समान है ।

शब्दार्थ—शत्रुहा = शत्रुघ्न । उत्तमगात = सुन्दर, रूवापन । नृदेश = राजा ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल – दोधक छन्द ।

यज्ञथली रघुनन्दन आये । धामन धामन होत बधाये ॥
श्रीमिथिलेश सुता बड़भागी । स्यों सुत सासुन के पगलागी ॥ १६ ॥

भावार्थ—सरल है ।

मूल—(दोहा)—

चारिपुत्र द्वै पुत्रसुत्र कौशल्या तब देखि।
पायो परमानन्द मन दिगपालन सन लेखि ॥ १७ ॥

शब्दार्थ – पुत्रसुत = पोते। लेखि = समझ कर।

भावार्थ—सरल है।

अलङ्कार – उपमा।

मूल—रूपमाला छन्द।

यज्ञ पूरण कै रमापति दान देत अशेष।
हीर नीरज चीर माणिक वरषि वर्षा वेष ॥
अँगराग तड़ाग बाग फले भले बहु भाँति।
भवनभूषण भूमि भाजन भूरि वासर राति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ – अशेष = सब प्रकार के। हीर = हीरा। नीरज = मोती। वर्षा वेष = वर्षा की तरह। अंगराग = केसर, चन्दनादि। तड़ाग = तालाब।

भावार्थ—सरल ही है।

अलङ्कार – रमापति शब्द से परिकरांकुर, 'भ' की भरमार से अनुप्रास।

मूल—(दोहा)—

एक आयुत गज बाजि द्वै तीनि सुरभि शुभ वर्ण।
एक एक विप्रहिं दई केशव सहित सुवर्ण ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—अयुत = दश हजार। सुरभि = गाय। शुभवर्ण = सफेद रंग की। द्वै अयुत = दश हजार। तीनि अयुत = तीस हजार। सुवर्ण = सोने व मोहर जो दश माशे की होती है।

भावार्थ—सरल है।

मूल—(दोहा)

देव अदेव नृदेव अरु जितने जीव त्रिलोक।
मन भायो पायो सबन कीन्हें सबन अशोक ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अदेव = राक्षस (विभीषण के साथवाले)। नृदेव = राजा। कीन्हें ... अशोक = सब को दुःख रहित कर दिया।

अलङ्कार—उदात्त।

(राज्य वितरण)

मूल—(दोहा)—

अपने अरु सोदरन के, पुत्र विलोकि समान ।
न्यारे न्यारे देश दै, नृपति करे भगवान ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—समान = बराबर । भगवान = रामचन्द्र ।

मूल—(दोहा)—

कुश लव अपने भरत के नन्दन पुष्कर तक्ष ।
लक्ष्मण के अंगद भये चित्रकेतु रणदक्ष ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—कुश और लव = रामजी के बेटे । नन्दन = पुत्र । पुष्कर और तक्ष = भरत के बेटे । अंगद और चित्रकेतु = लक्ष्मण के बेटे । रणदक्ष = युद्ध में चतुर ।

मूल—भुजङ्गप्रयात छन्द ।

भले पुत्र शत्रुघ्न द्वै द्वीप जाये । सदा साधु शूरे बड़े भाग्य पाये ।
सदामित्र पोषीहनै शत्रु छाती । सुबाहै बड़ो दूसरो शत्रुघाती ॥ २३ ॥

भावार्थ—शत्रुघ्न ने दो अच्छे कुल दीपक पैदा किये, जो सदा साधु शूर और बड़े भाग्यवान थे । वे सदा मित्रों के रक्षक और शत्रुओं की छाती छेदने वाले थे । बड़े का नाम सुबाहु और दूसरे का नाम शत्रुघाती था ।

मूल—(दोहा)—

कुश को दई कुशावती नगरी कोशल देश ।
लव को दई श्रवस्तिका उत्तर उत्तम वेश ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—उत्तमवेश = सुन्दर ।

मूल—(दोहा)—

पश्चिम पुष्कर को दई पुष्करवति है नाम ।
तक्षशिला तक्षहिं दई लई जीति संग्राम ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—पुष्करावती = जिसे आजकल पेशावर कहते हैं ।

मूल—(दोहा)—

अंगद कहँ अंगद नगर दीन्हों पूरब ओर ।
चंद्रकेतु चंद्रावती लीन्हीं उत्तर जोर ॥ २६ ॥

शब्दार्थ लीन्हीं जोर = जो जबरदस्ती शत्रु राजा से छीन ली थी।

मूल—(दोहा)—

मथुरा दई सुबाहु कहँ पूरण पावन गाथ।
शत्रु घात कहँ नृप करयो देशहि को रघुनाथ॥ २७॥

शब्दार्थ—देशहि को = खास अयोध्या ही का।

मूल—तोटक छन्द।

यह भाँति सुरक्षित भूमि भई। सब पुत्र भतीजन बाँट दई।
सब पुत्र महाप्रभु बोलि लिये। बहु भाँतिन के उपदेश दिये॥२८॥

शब्दार्थ—महाप्रभु = राजराजेश्वर श्रीरामचन्द्रजी।

(रामकृत राजनीति का उपदेश)

मूल—चामर छन्द—(लक्षण—सात बार गुरु लघु + गुरु)

बोलिये न झूठ ईठि मूढ़ पै न कीजिए।
दीजिये जु बस्तु हाथ भूलि हु न लीजिए॥
नेहु तोरिये न देहु दुःख मंत्रि मित्र को।
यत्र तत्र जाहु पै पत्याहु जैं अमित्र को॥ २९॥

शब्दार्थ—ईठि = मित्रता। जैं = मत। अमित्र = शत्रु।

भावार्थ—झूठ न बोलना, मूर्ख से मित्रता न करना, जो वस्तु किसी को दे देना उसे फिर भूल कर भी न लेना। किसी से स्नेह करके फिर उसे तोड़ना मत। मन्त्री और मित्र को दुःख न देना देशान्तर में जाना पर शत्रु का विश्वास न करना।

मूल—नराच छन्द—(लक्षण—क्रम से ८ बार लघु गुरु)

जुवा न खेलिये कहूँ जुवान वेद रक्षिये।
अमित्र भूमि माहिं जैं अभक्ष भक्ष भक्षिये॥
करौ न मंत्र मूढ़ सों न गूढ़ मंत्र खोलिये।
सुपुत्र होहु जैं हठी मठीन सों न बोलिये॥ ३०॥

शब्दार्थ—जुवान वेद = वेद वचन। अमित्रभूमि = शत्रु भूमि। जैं =

जिनि, मत । अभक्ष भक्ष = अनजाना भोजन । मठी = मठधारी । न बोलिये = उनसे छेड़ छाड़ न करो

भावार्थ— कभी जुवा मत खेलना, वेद वचन की रक्षा करना । शत्रु देश में जाकर अनजानी वस्तु (फल वा भोज्य पदार्थ) न खाना । मूढ़ से सलाह न लो, अपना गूढ़ तात्पर्य किसी पर प्रकट न करो । हे सुपुत्रो ! हठ न करना और मठधारियों से छेड़ छाड़ न करना ।

मूल— वृथा न पीड़िये प्रजाहि पुत्र मान पारिये ।
असाधु साधु बूझिकै यथापराध मारिये ॥
कुदेव देव नारि को न बाल वित्त लीजिये ।
विरोध विप्र वंश सों सु स्वप्नहू न कीजिये ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—पारियों = पालिये । असाधु साधु = दोषी निर्दोष । मारिये = दंड दीजिये । कुदेव = (कु = पृथ्वी) भूमिदेव, ब्राह्मण ।

भावार्थ—वृथा प्रजा को मत सताना उसका पुत्रवत पालन करना दोषी वा निर्दोषी समझ कर जैसा अपराध हो वैसा दंड देना । ब्राह्मण, देवत स्त्री और बालक का धन न लेना, और ब्राह्मण वंश से स्वप्न में भी विरोध न करना ।

मूल—भुजङ्गप्रयात छन्द ।

पर द्रव्य को तो विष प्राय लेखो ।
परस्त्रीन को ज्यों गुरु स्त्रीन देखो ।
तजौ कान क्रोधौ महामोह लोभौ ।
तजौ गर्व को सर्वदा चित्त छोभौ ॥३२॥

भावार्थ—पर धन को विष ही समझ, पर स्त्री को माता सम देखो काम, क्रोध, मोह, लोभ, गर्व और चित्तक्षोभ को सदा त्यागो (इनके वशीभू मत हो) ।

मूल—
यशै संग्रहौ निग्रहौ युद्ध योधा । करौ साधु संसर्ग जो बुद्धि बोधा ।
हितू होय सो देईजो धर्म शिक्षा । अधर्मीनको देहुजै बाक भिक्षा ॥३३

शब्दार्थ—योद्धा = युद्ध करनेवाला शत्रु। संसर्ग = संगति। बुद्धि बोधा = ज्ञान दाता। जैं = जिनि, मत। बाक भिक्षा देना = बोलना, बात करना।

भावार्थ—यश संग्रह करो, युद्ध में शत्रु को दमन करो, ज्ञान दाता साधुओं की संगति करो, जो धर्मयुक्त शिक्षा दे उसी को हितैषी मानना और अधर्मियों से वार्ता भी मत करना।

मूल—

कृतघ्नी कुबादी परस्त्री बिहारी।
करौ विप्र लोभी न धर्माधिकारी।
सदा द्रव्य संकल्प को रच्छि लीजै।
द्विजातीन को आपु ही दान दीजै॥ ३४॥

शब्दार्थ—कुबादी = झूँठा। धर्माधिकारी = दान द्रव्य का बाँटने वाला अधिकारी। द्विजातीन = ब्राह्मणों।

भावार्थ—कृतघ्नी, झूठे, परस्त्रीगामी तथा लोभी ब्राह्मण को दान द्रव्य के बाँटने का अधिकारी मत बनाओ। संकल्प किये हुये द्रव्य की यत्न पूर्वक रक्षा करके ब्राह्मणों को अपने हाथ से देना (धर्माधिकारी से न दिलवाना)।

(नोट)—चौंतीसवें प्रकाश में श्वान कथित राजा सत्यकेतु की कथा देखो (छन्द २६ से ३४ तक)।

(राज्यरक्षा यत्न)

मूल—मत्तगयन्द छन्द।

तेरह मंडल मंडित भूतल भूपति जो क्रम ही क्रम साधै।
कैसहु ताकहँ शत्रुन मित्र सु केशवदास उदास न बाधै॥
शत्रु समीप, परे तेहि मित्र, सु तासु परे जु उदास कै जोवै।
विग्रह, संधिनि, दाननिसिन्धुलौं लै चहुँओरनि तो सुखसोवै॥३५॥

शब्दार्थ—मंडित = युक्त। भूतल = पृथ्वी। साधै = सुव्यवस्था करै। उदास = उदासीन व्यक्ति (न शत्रु न मित्र)। परे = उसके आगे वाला। विग्रह = युद्ध। संधि = सुलह, मेल। दान = नीति।

भावार्थ—श्रीरामजी पुत्रों तथा भतीजों को राज्यरक्षा की नीति सिखाते हैं कि जो राजा क्रमशः अपने राज्य सहित तेरह राज्यों की सुव्यवस्था कर लेता है, उसको शत्रु मित्र वा उदासीन कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता (अपने राज्य को मध्य में समझकर चारों ओर तीन-तीन राज्यों तक यह व्यवस्था करे कि) जो राज्य अपने राज्य के समीप है उससे शत्रुता रखे, उस राज्य से आगेवाले राज्य से मित्रता करे, और उससे भी आगेवाले राज्य से उदासीन भाव रखे। शत्रु राज्य से युद्ध करे, मित्र राज्य से सन्धि करें, और उदासीन राज्य से दामनीति बरते (कुछ देन-लेन किया करे)। इस प्रकार अपने देश से सिन्धु तक चारों ओर व्यवस्था कर ले तो वह राजा सुख से सोता है (सुरक्षित रहता है)

(नोट)—एक अपना राज्य और चारों तरफ तीन तीन देशों तक, यही तेरह मंडल हुये। समीप वाले राज्य से शत्रुता रखने से राजा सदैव सजग रहता है, इसी से यह नीति कुशलकर है।

अलंकार—यथासंख्य।

मूल—(दोहा)—

राजश्री बश कैसहूँ, होहु न उर अवदात।
जैसे तैसे आपुबश ताकहँ कीजै तात॥ ३६॥

शब्दार्थ—राजश्री = रामवैभव। उर अवदात = बड़े हृदयवाले, उदारचित्त (यह शब्द पुत्रों भतीजों का सम्बोधन है)

भावार्थ—हे उदारचित पुत्रो और भतीजो! किसी प्रकार राज्यवैभव (धन वा राज्य) के वश मत होना (राजघमंड में आकर अन्याय वा अधर्म न करना) वरन् हे तात! जैसे हो वैसे उस राजवैभव को अपने वश में कर लेना, यही मुख्य उपदेश है।

मूल—

यहि विधि शिष दै पुत्र सब बिदा करे दै राज।
राजत श्रीरघुनाथ सँग, शोभन बंधु समाज॥३७॥

शब्दार्थ—शिष = शिक्षा, उपदेश। शोभन = सुन्दर।

भावार्थ—सरल ही है।

(रामचरित्रमहात्म्य)

मूल—रूपमाला छन्द।

रामचन्द्र चरित्र को जु सुनै सदा चित लाय।
ताहि पुत्र कलत्र संपति देत श्रीरघुराय॥
यज्ञ दान अनेक तीरथ न्हान को फल होय।
नारि का नर विप्र क्षत्रिय वैश्य शूद्र जो कोय॥ ३८॥

शब्दार्थ—चितलाय=मन लगाकर। कलत्र=स्त्री। न्हान=स्नान। का=क्या। नारि का नर=क्या नर क्या नारी (चाहे जो हो) अर्थात् रामचरित्र सुनने का अधिकार सब को है।

भावार्थ—सरल ही है।

(रामचन्द्रिका के पाठ का महात्म्य)

मूल—रूपक्रांता छन्द (लक्षण—क्रमशः ८ बार लघु गुरु+लघु)

अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाय।
विदेहराज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाय॥
लहै सुभुक्ति लोक लोक अंत मुक्ति होहि ताहि।
कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचन्द्र-चन्द्रिकाहि॥ ३९॥

शब्दार्थ—अशेष=सब। कलाप=समूह। बहाय=नाश करके। विदेहराज=राजा जनक। ज्यों=समान। सुभुक्ति=सुन्दर भोग्य पदार्थ।

भावार्थ—जो कोई इस रामचन्द्रिका को कहै सुनैगा, पढ़ै गुनैगा वह अपने सब पाप-पुण्यों का नाश करके, राजा जनक की तरह इसी देह से राम भक्त कहलाता हुआ सब प्रकार के भोग भोगैगा और अन्त में उसे मुक्ति प्राप्त होगी।

(उन्तालीसवाँ प्रकाश समाप्त)

मुद्रक : महाबीर प्रसाद प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग।